"" समकालिक भारतीय चिंतन के आलोक मे

प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य कृत वेदान्त के सम्प्रत्ययों की

व्याख्या का एक परीक्षण ""

"" AN EXAMINATION OF PROF. K C. BHATTACHARYA'S

INTERPRETATION OF VEDANTIC CONCEPTS

IN THE LIGHT OF CONTEMPORARY INDIAN THOUGHT.""

उपोद्घात

श्रेय और प्रेय का सघर्ष, दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों का घात - प्रतिघात मानव का नैसर्गिक अन्तर्द्वन्द्व अन्तर्द्वन्द्व मे उलझे हुए मानव के सम्मुख उसके अस्तित्व के साथ ही सच्चे आत्मस्वरूप की जिज्ञा चुनौती बनकर उसके सामने आई। क्या भौतिक साधनों की सर्वतोभावेन प्राप्ति ही मानव की अन्तिम है? क्या वह अपनी शारीरिक वासनाओं की सिद्धि की तलाश मे भटकने वाला कोई अन्य पशु है? उसका लक्ष्य आध्यात्मिक है? कालप्रवाह के साथ ही विविध कालखण्डों मे नाना संस्कृतियों के अन्त प्रश्न के समाधान का प्रयास किया गया।

'कोऽह भो' और 'येनेद सर्वं विजनाति त केन विजानीयात्' की उत्कट जिज्ञासा से सम्प्रेरित हमारे ऋषिय ने सभ्यता के उष काल मे ही तत्त्व-साक्षात्कार किया और घोषणा की -

न मृत्युर्न शङका न मे जातिभेद

पिता नैव मे नैव माता न जन्म ।

न बन्धुर्न मित्र गुरूर्नैव शिष्य -

-श्चिदानन्दरूप शिवोऽह शिवोऽह ।।

न पुण्य न पाप न सौख्य न दु ख,

न मन्त्र न तीर्थ न वेदा न यज्ञा

अह भोजन नैव भोज्य न भोक्ता,

चिदानन्दरूप शिवोऽह शिवोऽह ।।

(निर्वाणशट्कम् 2/5,4)

और ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किच जगत्यां जगत् कहकर प्राणिमात्र क्या, प्रकृति के प्रत्येक उपादान मे परम सत्ता का दर्शन किया गया ।

कालचक्र की कुटिल दृष्टि से विज्ञान की चकाचौंध में उपलब्धि और जडवाद के चतुर्दिक् फैलते हुए जादू ने पाश्चात्य विचारकों को अपेक्षाकृत प्रगल्भ और आत्माभिमानी बना दिया। उन्हें अपना जाति और अपना ही दर्शन ससार में सर्वोत्कृष्ट नजर आने लगे। भौतिकता के इस बढ़ते हुए ताप ने शाश्वत, आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों पर कुठाराघात किया। लोभ और भ्रष्टाचार को खुली छूट मिली।

आज के इस युग मे वेदान्त जैसे दर्शन की परमावश्यकता है क्योंकि यह मनुष्य और मनुष्य तथा राष्ट्र और राष्ट्र के बीच रुग्ण और क्षीण होते हुए सम्बन्धों में संजीवनी बूटी के सदृश है। डॉ0 रवीन्द्र नाथ टैगोर का विचार है " आज इस प्रकार के उपदेश की उन लोगों को बड़ी आवश्यकता है जो अपने राष्ट्र की स्वतन्त्रता का अभिमान रखते हैं और उस स्वतन्त्रता का प्रयोग आध्यात्मिकता से अंधे एक तिमिराच्छन्न संसार की रचना में करते हैं, जिसमे घृणा और लोभ का नग्न नृत्य हो रहा है, अपने स्वार्थ के लिए छल-छद्म के साथ झूठा प्रचार किया जाता है और आत्मा को मास के पिजड़े मे बन्दी बनाकर रखा गया है। '

अस्तु, मूल्यापकर्ष की इस विक्रान्त वेला में उन विषयों पर अनुसंधान करना अधिक प्रासंगिक और उपादेय प्रतीत होता है। जिनके माध्यम से विश्वशाति के लिए मानव के सच्चे स्वरूप अर्थात आत्मतत्त्व को समझने की प्रबल प्रेरणा प्राप्त हो। फलतः अन्तर्गुहा में घृणा के बजाय प्रेम का प्रदीप प्रज्ज्वलित हो। कहना नहीं होगा कि ऐसी स्थिति में जहाँ एक तरफ भारतीय दर्शन के मुकुटमणि - वेदान्त, को सुरक्षित रखना मानव जाति के लिए आवश्यक है, वहीं उन स्वनामधन्य सारस्वत वैभवसंपन्न मनीषियों पर अनुसंधान करना न केवल राष्ट्रीय अस्मिता को सुरक्षित रखना होगा बल्कि राष्ट्रगौरव में श्रीवृद्धि कर जननी जन्मभूमि के प्रति कृतज्ञता - ज्ञापन भी होगा, जिन्होंने अपने पूर्वजों द्वारा उद्घाटित परमसत्य 'तत्त्वमसि' और 'अहं ब्रह्मास्मि' का पुनः साक्षात् करते हुए पाश्चात्य दर्शन के परिप्रेक्ष्य में पौर्वात्य दर्शन (भारतीय दर्शन) को महिमामंडित

किया है। भौतिक तिमिराच्छन्न वैश्विक क्षितिज को अपनी आध्यात्मिक आभा से आलोकित किया है।

प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ऐसे ही समकालिक चिंतक है जिन्होंने भारतीय तत्त्वचिंतन के प्रति भ्रान्त पाश्चात्य दार्शनिकों की भ्रान्ति का सम्यक् निराकरण करके भारतीय दर्शन की गरिमा को सर्वसंवेद्य बनाने का स्तुत्य प्रयास किया है।

उक्त उद्देश्य के साथ ही जहाँ समकालिक वेदान्त चितकों के युगपद्, गवेषणात्मक, तुलनात्मक एव समीक्षात्मक अध्ययन से ज्ञान के नूतन गवाक्ष खुलते हैं, वहीं राष्ट्रीय चितन धारा को एक समन्वयात्मक धरातल भी उपलब्ध होता है।

उपरिनिर्दिष्ट समस्त उद्देश्यों की सिद्धि हेतु मैने समकालिक भारतीय चिंतन के आलोक में प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य कृत वेदान्त के सम्प्रत्ययों की व्याख्या के परीक्षण का लघुप्रयास किया है। यह विषय अत्यन्त चुनौती भरा और दुरूह है। कहाँ भारतीय दर्शन का चूड़ान्त - 'वेदान्त' और कहाँ प्रो0 भट्टाचार्य जैसा विश्लेषणात्मक अन्तर्दृष्टि सम्पन्न, अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का तत्त्वद्रष्टा मनीषी। तथापि साध्य (लोक संग्रहार्थ - भारतीय वेदान्त का समकालिक चिन्तन के आलोक में एक परीक्षण) की पवित्रता ही मेरे शोध प्रबन्ध की उत्कृष्टता की निकष सिद्ध होगी। यही आत्मविश्वास है और यही मेरे आत्मपरितोष का विषय भी है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में वेदान्त दर्शन विशेषकर शांकर अद्वैत वेदान्त के परम्परागत सम्प्रत्ययों का विश्लेषण किया गया है। ब्रह्म, आत्मा, जीव, जगत, माया, अविद्या, संन्यास, मोक्ष आदि की अवधारणाओं को सुस्पष्ट करने का प्रयत्न परिलक्षित है। द्वितीय अध्याय के प्रथम अनुच्छेद में प्रो0 भट्टाचार्य का अद्वैतवाद विश्लेषित है। द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद में प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य कृत पाश्चात्य दर्शन (विशेषकर इमैन्युअलकांट) की आलोचना अवलोकनीय है। इसी अध्याय के तृतीय अनुच्छेद में प्रो0 भट्टाचार्य के मतों का शांकर वेदान्त से साधर्म्य और वैधर्म्य समीक्षित है। अन्तिम अनुच्छेद में स्वयं प्रो0 कृष्णचन्द्र

भट्टाचार्य कृत वेदान्तिक सम्प्रत्ययों की व्याख्या की समीक्षा करने का प्रयास किया गया है। इसके अतिरिक्त शेष अन्य अ ायों मे समकालिक भारतीय वेदान्त के विचारकों के मन्तव्यों का प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य की व्याख्या के परिप्रेक्ष्य मे तुलनात्मक एव आलोचनात्मक परिशीलन प्रस्तुत किया गया है। तृतीय अध्याय के प्रथम उच्छ्वास मे स्वामी विवेकानन्द के नव वेदान्तवाद पर गहन चर्चा की गई है। द्वितीय उच्छ्वास मे शाकर वेदान्त के साथ स्वामी विवेकानन्द के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इसी अध्याय के तृतीय खण्ड मे स्वामी विवेकानन्द और कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के मतों की समीक्षा करते हुए भट्टाचार्य के मत को शास्त्रीय वेदान्त के अधिक नजदीक सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। चतुर्थ अध्याय के प्रथम खण्ड मे स्वामी रामतीर्थ के मतों का निबन्धन है। इसी अध्याय के द्वितीय खण्ड में स्वामी रामतीर्थ और प्रो0 भट्टाचार्य के विचारों की तुलनात्मक समीक्षा अवलोकनीय है। पचम अध्याय के प्रथम नि श्वास मे श्री अरविन्द द्वारा प्रस्तुत वेदान्तीय सम्प्रत्ययों का सक्षेप में वर्णन किया गया है। इसी अध्याय के द्वितीय नि श्वास में पूर्व व्यवहृत पद्धति की तरह श्री अरविन्द और प्रो0 भट्टाचार्य के मतों की तुलना प्रस्तुत की गई है। ध्यातव्य है कि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को अति विस्तार से बचाने के लिए प्रतिपाद्य विषय को लक्ष्यगत रखते हुए प्रो0 भट्टाचार्य के साथ समकालिक भारतीय वेदान्तियों के मूलरूप से उन्हीं विषयों पर तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है जो प्रत्यक्षत या परोक्षत शास्त्रीय वेदान्त की परिधि मे आते हैं। शोधप्रबन्ध का समापन करते हुए उपसहार के रूप मे प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य की अद्वैत वेदान्त के प्रति सहज निष्ठा को प्रदर्शित करते हुए भारतीय वेदान्त का कालजयी महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। इसी तारतम्य मे समकालिक भारत मे अद्वैत वेदान्त की जो व्याख्याये की गई है उनसे प्रो0 भट्टाचार्य के मतभेद को स्पष्ट करते हुए उनकी व्याख्या को शाकर वेदान्त के अधिक निकट दिखाकर, उसकी युगानुरूप अपेक्षाकृत अधिक प्रासंगिकता उजागर की गई है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के सन्दर्भ में मैं सर्वप्रथम परम पूज्य गुरूवर्य डॉ0 जटाशकर त्रिपाठी (प्रवक्ता, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद) के पादाम्बुजों मे श्रद्धावनत हूँ जिनके स्नेहिल सान्निध्य में मुझे वेदान्त की व्यावहारिक शिक्षा मिली। शाश्वत नैतिक मूल्यों की साक्षात् प्रतिमूर्ति गुरुप्रवर की

विद्यार्थिजीवन से ही हृदय पटल पर ऐसी अमिट छाप पड़ी कि प्रथम दर्शन मे ही मैंने एकलव्य की भाँति मन ही मन उन्हे अपना गुरु मान लिया। आज मेरी मन कामना जब इस तप पूत मनीषी के विद्वत्तापूर्ण निर्देशन मे इस शोधप्रबन्ध के रुप मे साकार हुई है तो मैं स्वय को कृतकृत्य महसूस कर रहा हूँ। उनके प्रति ससाधुवाद हार्दिक कृतज्ञता शब्दों के माध्यम से व्यक्त करने मे मेरा सामर्थ्य सकुचित है। पूज्यपाद गुरुचरणों मे इसी भावाञ्जलि के अन्तर्गत 'गुरुर्गुरुणामपि वन्दनीय' के अनुसार वेदान्त-विग्रह, रामद्वैतप्रतिपादक प्रो0 रामलाल पाण्डेय (पूर्व आचार्य एव अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद वि0 वि0, इलाहाबाद) के प्रति विनतभाल हूँ, जिन्होने परास्नातक कक्षाओं मे समकालिक भारतीय दर्शन का विद्वत्तापूर्ण अध्यापन कर मेरी भाव-भूमि मे उस जिज्ञासा का प्रस्फुटन किया था जो सम्प्रति शोध प्रबन्ध के रूप मे विद्वज्जनों का स्नेहाशीष पाने के लिए मचल रही है। प्रो0 देवकी नन्दन द्विवेदी (आचार्य एवं अध्यक्ष , दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद वि0 वि0 , इलाहाबाद) एवं प्रो0 एस0 के0 सेठ के स्तुत्य योगदान को मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता हूँ। यदि इन सबका कृपापूर्ण सान्निध्य, निर्देशन और परामर्श कदाचित् अप्राप्त होता तो निश्चित रूप से यह शोध प्रबन्ध अपने वर्तमान कलेवर को ग्रहण न कर पाता। एतदर्थ इन सबके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए हृदय-पयोधि प्रसन्नता की उत्ताल तरगों से तरंगित हो रहा है।

निष्काम कर्मयोगी डॉ0 रमाशंकर त्रिपाठी कुलसचिव, महात्मा गाँधी ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट, सतना (म0प्र0) से जहाँ एक ओर निश्छल वात्सल्य मिला, वहीं उनके निर्लिप्त एवं तप पूत व्यक्तित्त्व से निष्पन्न विचार-प्रसूनों की सुरभि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे समाहित है। उनके प्रति मेरी स्वत स्फूर्त हार्दिक कृतवेदिता निवेदित है। सकलकल्मषविनाशिनी मन्दाकिनी के पावन तट पर हनुमान्धारा गिरि की अधित्यिका में अवस्थित वैदेही वाटिका विद्या परिसर मे मझे विद्वतनानसमराल, शाश्वत भारतीय सस्कृति एव धर्म के साक्षात् विग्रह प्रो0 कामता प्रसाद त्रिपाठी (अधिष्ठाता, भाषा एव सामाजिक विज्ञान सकाय) का ज्ञानोपदेश भी सुलभ हुआ जिससे मेरी गवेषणा को एक सार्थक अभिव्यक्ति मिली। कृतज्ञता के भार से दबा हुआ मैं उनके प्रति भी अपने भाव सुमन समर्पित करता हूँ।

अध्यापन की अरुणिम वेला मे ही प्रथम परिचय प्राप्त अग्रजद्वय विद्यावारिधि डॉ0 योगेशचन्द्र दुबे

(व्याख्याता, जीवनादर्श विभाग, म0 गाँ0 ग्रा0 वि0 वि0, चित्रकूट) एव डॉ0 कपिल देव मिश्र (व्याख्याता, इतिहास विभाग, म0 गाँ0 ग्रा0 वि0 वि0, चित्रकूट) के अहेतुकी कृपा और अप्रतिम स्नेहसान्निध्य के स्मरण मात्र से ही हृद्तन्त्री के तार झकृत हो उठते है। उक्त अग्रजद्वय ने न केवल समय-समय पर उच्चस्तरीय शोध विषयक् परामर्श ही दिया अपितु मुझे अपेक्षित वेदान्त विषयक् साहित्य उपलब्ध कराकर सन्मित्र की गौरवमयी भूमिका का निर्वहन भी किया। उनके लिए स्वयमेव अन्तरात्मा मे साधुवाद के स्वर अनुगुञ्जित है।

अन्त मे सदाचार एव शाश्वत अध्ययन के लिए प्रेरणा प्रदान करने वाली स्नेहमयी माँ श्रीमती देवमती शर्मा एव गार्हस्थ्य झझावातों मे भी मेरी महत्त्वाकाक्षाओं की वेदी पर अपना सर्वस्व लुटाने वाले ऋषितुल्य पिता श्री जयप्रकाश शर्मा को अपनी प्रणामाञ्जलि समर्पित करता हूँ। विद्या या सारस्वत साधना मे सहायिका सहधर्मिणी श्रीमती विद्या शर्मा के स्तुत्य अवदान के प्रति कुछ न व्यक्त कर पाना ही समीचीन प्रतीत होता है। शोध प्रबन्ध की परिपूर्णता की शुभ वेला में मेरा चित्तचंचरीक भैय्या श्री धर्मेन्द्र शर्मा एवं वन्दनीया भाभी श्रीमती लक्ष्मी शर्मा के पादाम्बुजों में अहर्निश आजीवन गुंजायमान रहे, यही चिराकांक्षा है।

------x------

(जितेन्द्र कुमार शर्मा)
दर्शनशास्त्र विभाग

विषयानुक्रमणिका

* * *

प्रथम अध्याय

वेदान्त दर्शन का मुकुटमणि - शांकर अद्वैतवेदान्त

वेदान्त दर्शन का मुकुटमणि - 'शांकर अद्वैत वेदान्त'

भारतीय मनीषा की अन्यतम उपलब्धि है 'वेद'। वैदिक मनीषियों ने जहाँ एक तरफ ऐहिक जीवन के विविध पहलुओं - धर्म, दर्शन, राजनीति को अपने अप्रतिहत प्रज्ञा-प्रकाश से आलोकित किया वहीं दूसरी तरफ पारलौकिक जगत् के गूढतम रहस्यों का साधिकार उद्घाटन भी किया।

तप-पूत मनीषियों की यह आध्यात्मिक सिद्धि 'भगवती श्रुति' जहाँ एक तरफ 'सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:' के उदात्त आध्यात्मिक आदर्श द्वारा विश्वव्यापी संस्कृति का संपोषण करती है वहीं दूसरी तरफ लौकिकता के चाकचिक्य में आत्मस्वरूप को विस्मृत किये हुए माया रूपी निविड-निशा के अज्ञानान्धकार मे किंकर्तव्यविमूढ मानवता का विद्युत्वत् चमककर पथप्रदर्शन भी करती है। प्रो0 पालड्युसन ने ठीक ही कहा है 'भारतीयप्रज्ञान के वृक्ष पर उपनिषदों से अच्छा पुष्प और वेदान्त दर्शन से अच्छा कोई फल नहीं हैं। (1)

चिरन्तन सत्य का प्रतिनिधित्व करने वाले वेद न तो पौरुषेय हैं और न किसी एक ग्रन्थ का नाम वरन् एक सम्पूर्ण साहित्य - राशि का नाम है 'वेद'। इसके चार भाग हैं - 1. वेद 2. ब्राह्मण 3. आरण्यक 4. उपनिषद् । वेदों का अन्तिम भाग होने के कारण उपनिषद् वेदान्त कहलाते हैं। प्रारम्भ में उपनिषदों को ही वेदान्त कहा जाता था। कालान्तर में वेदान्त शब्द के अर्थ में थोड़ा परिवर्तन हुआ। पहले वेदान्त का अर्थ वेदों का अन्तिम भाग था पर अब वेदान्त शब्द का अर्थ 'वेदों का साररुप' हो गया। उपनिषदों के विचार भी वही हैं जो वेदों का अन्तिम लक्ष्य अथवा वेदों का सार है। (2)

वेदों को उपनिषदों का गूढ़ रहस्य समझा जाता है। भिन्न - भिन्न कालों और स्थानों में भिन्न - भिन्न वैदिक शाखाओं में नाना उपनिषद बने। यद्यपि उन सभी में मूलत: विचार सादृश्य है तथापि भिन्न - भिन्न उपनिषदों मे जिन प्रश्नों की विवेचना की गयी और उनके जो समाधान दिये गये हैं उनमें कुछ भिन्नता भी पायी जाती है। अतएव कालक्रम से आवश्यक होने लगा कि भिन्न-भिन्न उपनिषदों में जो विचार हैं उनका विरोध - परिहार कर सर्वसम्मत उपदेशों का संकलन किया जाए। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर बादरायण ने 'ब्रह्म सूत्र की रचना की। इसे वेदान्त सूत्र, शारीरक सूत्र, शारीरक मीमांसा या उत्तर मीमासा भी कहते हैं।

बादारायण के ग्रन्थ का उपनिषदों के साथ वही सम्बन्ध है जैसा कि क्रिश्चियन रुढिवादियों का न्युटेस्टामेंट के साथ है। यह उपनिषदों की शिक्षाओं का अनुसंधान करता है जो ईश्वर, जगत् तथा आत्मा के ससार चक्र मे भ्रमण के विषय मे हैं। यह प्रत्यक्ष में दिखलाई पड़ने वाली सिद्धान्त सम्बन्धी

असंगतियों का निराकरण करता है और उन्हे परस्पर क्रमबद्ध रूप मे जोडता है और विशेषकर इसका उद्देश्य विरोधियों के आक्षेपों से बचाना है।(3)

जीव और ब्रह्म मे क्या सम्बन्ध है? दोनों एक है अथवा दो? मुख्यत इसी प्रश्न के विविध उत्तरों पर वेदान्त के विविध सम्प्रदायों का विकास हुआ। प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता आचार्य ने अपने मत के अनुसार ब्रह्मसूत्र का एक-एक भाष्य लिखा। जहाँ तक अद्वैत वेदान्त का अभिमत है - संसार मे जो द्वैत या नानात्व है वह मायाजन्य है। जीव और ब्रह्म दो नही हैं। इनमे द्वैत नहीं है। परमार्थत केवल अद्वैत ही एक मात्र है।(4) आचार्य शंकर का मन्तव्य है 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर ' अर्थात ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है, जगत् मिथ्या है तथा जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं।

जहाँ तक एक तत्त्ववाद के सिद्धान्त का प्रश्न है वह ऋग्वेद (पुरूष सूक्त, नासदीय सूक्त) बृहदारण्यक्, छान्दोग्य, मुण्ड्क आदि उपनिषदों, भगवद्गीता और मण्डनमिश्र की ब्रह्म सिद्धि में भी प्रतिपादित है। इसके अलावा आचार्य शंकर के पूर्व वेदान्त के अनेक आचार्य हुए हैं जिनके नामों का उल्लेख तो मिलता है किन्तु जिनकी कृतियाँ यदि निर्मित हुई हैं तो अब उपलब्ध नहीं हैं। महर्षि बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र में जैमिनी, आश्मरथ्य, बादरि, औडुलोमि, काशकृत्स्न, काष्र्णाजिनि और आत्रेय इन पूर्वाचार्यो का उल्लेख किया है। शंकर के गुरुणांगुरु आचार्य गौड़पाद अद्वैत वेदान्त के प्रथम व्याख्याता आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इनकी रचना माण्डूक्यकारिका अद्वैत वेदान्त का प्रथम उपलब्ध दार्शनिक ग्रन्थ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शंकर के पूर्ववर्ती और परवर्ती ढेर सारे दार्शनिकों और आचार्यों ने विविध अद्वैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है तथापि अद्वैतवादी सिद्धान्तों और मान्यताओं का पूर्ण विकास आचार्य के शंकर के दर्शन में ही उपलब्ध होता है। अपनी विलक्षण दार्शनिक प्रज्ञा के कारण आचार्य शंकर अद्वैत वेदान्त के पर्याय बन चुके हैं। सम्पूर्ण उपनिषदों की शिक्षाओं को एक सुसंगत तथा विरोधरहित दर्शन में रख देने का कार्य अपने आप में एक कठिन कार्य है, किन्तु यह कार्य जब एक बार हमारे सामने आ गया तो हम स्वीकार करने के लिए सर्वथा उद्यत है कि शंकर का ही दर्शन संभवत ऐसा दर्शन है जिसका निर्माण इस कार्य के लिए हो सकता था। (5) शकर की शिक्षा उपनिषदों के सिद्धान्तों की स्वाभाविक तथा युक्तियुक्त व्याख्या है। यह स्वीकार किया जा सकता है कि यदि उपनिषदों के विरोधी मतों का समन्वय करने तथा उन्हे एक समान और संगतऐक्य मे रखने का असभव कार्य किया जा सकता है तो शंकर का ही दर्शन लगभग एक मात्र प्रयास है जो इस कार्य को कर सकता था। (6)

आचार्य शकर अद्वैत वेदान्ताकाश में स्वयंप्रकाश भगवान भाष्कर के सदृश हैं जिनकी विलक्षण प्रज्ञा-रश्मियों के प्रचण्ड आलोक में अन्य दार्शनिक रूपी नक्षत्रों का प्रकाश धुँधला पड़ जाता है। इस सम्बन्ध में डॉ0 आर0 एस0 नौलखा का मन्तव्य है 'शंकर का ही एक ऐसा दर्शन है जिसने उपनिषदों की आत्मा को समझ पाया है।[7] विदेशों में अब भी प्राय. शांकर दर्शन को वेदान्त दर्शन का पर्यायवाची समझा जाता है। वस्तुत शंकर भारतीय दर्शन में सर्वत्र छाये हुए है उनके सिद्धान्तों को समझे बिना भारतीय दर्शन का ज्ञान अपूर्ण ही नहीं रह जाता बल्कि एक प्रकार से उसका सम्यक् अध्ययन ही संभव नहीं है।[8]

आचार्य शंकर ने अद्वैतिक सिद्धान्तों का इतना मार्मिक और सूक्ष्म विश्लेषण किया है कि परवर्ती आचार्यों के लिए उससे परे इदमित्थं कहना शक्य नही रह जाता, वस्तुतः शांकर मत वेदान्त दर्शन का समानार्थक सा प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में प्रो0 दासगुप्त का विचार है - बादरायण द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र की अनेक प्रकार से व्याख्यायें की गई है किन्तु आचार्य शकर का भाष्य सबसे अधिक विद्वत्तापूर्ण और प्रामाणिक माना जाता है। आचार्य शंकर के महान व्यक्तित्त्व के कारण शाकर भाष्य ने अत्यधिक प्रसिद्धि और यश प्राप्त किया। शकराचार्य के भाष्य और उनके द्वारा प्रतिपादित वेदान्त दर्शन की ऐसी मान्यता है कि जब हम कभी वेदान्त दर्शन की चर्चा करते हैं तो उससे शंकराचार्य के वेदान्त का ही अर्थ लिया जाता है।[9]

लब्ध प्रतिष्ठ दार्शनिक डॉ0 एस0 राधाकृष्णन का मत है कि शंकर का अद्वैतवाद एक महान कल्पनात्मक साहस और तार्किक सूक्ष्मता का दर्शन है। इसका उग्रबुद्धिवाद, इसका कठोर तर्क जो कि मनुष्य की आशाओं तथा विश्वासों के प्रति उपरामता का भाव लिए अपने मार्ग पर आगे ही आगे चलता जाता है। इसका धार्मिक तत्त्व सम्बन्धी उद्वेगों से अपेक्षाकृत स्वातन्त्र्य यह सब एक साथ मिलकर इसे विशुद्ध दार्शनिक योजना के एक महान उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत करता है। थिबौत, जिस पर कोई शंकर के प्रति प्रक्षपात रखने का लांक्षन नहीं लगा सकता शंकर के दर्शन के विषय मे इस प्रकार कहता है 'शंकर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त जो विशुद्ध दार्शनिक दृष्टि से सब प्रकार के धर्मतत्त्व सम्बन्धी विचारों के अतिरिक्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा रोचक है। भारत की भूमि मे उपजा है। वेदान्त के उन रूपों मे से जो शंकर के मत से भिन्न दिशा मे जाते हैं अथवा वेदान्त विपरीत दर्शनों में से कोई भी जहाँ तक साहस, गाम्भीर्य तथा कल्पना की सूक्ष्मता का सम्बन्ध है शास्त्रीय वेदान्त की तुलना में नहीं ठहर सकते। शंकर के ग्रन्थों का पढ़ते समय यह असम्भव है कि पाठक के मन में इस प्रकार का भाव उत्पन्न न हो कि वह एक ऐसे मस्तिष्क के सम्पर्क में आ गया है जो अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ गहराई में जाने वाला तथा अगाध आध्यात्मिक ज्ञान से परिपूर्ण है।

अपरिमेय विश्व के विषय मे अपनी अत्यधिक उच्च भावना के कारण आत्म सम्बन्धी गूढ़ तत्त्वों के स्फूर्तिदायक प्रेक्षण के कारण, जिसे सिद्ध किया जा सके उसके सम्बन्ध में न अधिक और न कम कथन करने का अविचल संकल्प रखने के कारण शंकर मध्य कालीन भारत के धार्मिक उपदेशकों के नानाविध समूहों के मध्य एक तेजस्वी व्यक्तित्त्व रखते हैं, उनका दर्शन स्वयं में परिपूर्ण है जिसको न तो अपने आगे और न पीछे ही किसी अन्य सामग्री की आवश्यकता है। यह एक ऐसी स्वयंसिद्ध पूर्ण इकाई है जो कलापूर्ण ग्रन्थों में ही पाई जा सकती है । यह अपनी पूर्वनिर्धारित कल्पनाओं को विस्तृत रूप से प्रस्तुत करता है, अपने ही लक्ष्य द्वारा शासित होता है और अपने सब घटक अवयवों को एक स्थाई तथा युक्तियुक्त साम्यावस्था मे धारण किए हुए है।

शंकर की महाकाव्य किन्तु सूक्ष्म आन्वीक्षिकी विद्या के अन्दर से एक विषद् तथा भावुक प्रवृत्ति की झलक मिलती है। जिसके बिना दर्शनशास्त्र का झुकाव केवल मात्र तर्करूपी खेल की ओर हो जाना सम्भव है। अत्यन्त कठोर तर्क के ऊपर जहाँ शकर को पूर्ण अधिकार प्राप्त है वही दूसरी ओर उन्हे एक उत्कृष्ट तथा सजीव काव्य पर भी उतना ही अधिकार प्राप्त है। यद्यपि यह दर्शन से भिन्न प्रकार का विषय है। उनकी प्रतिभा की किरणों ने विचारधारा के अन्धकारमय कोनों में भी पहुँचकर उन्हें प्रकाशित किया तथा अत्यन्त निराश हृदयों के दुःखों को भी दूर कर उन्हें सान्त्वना प्रदान की। जहाँ एक ओर शंकर का दर्शनशास्त्र अनेकों को बल प्रदान करता तथा सान्त्वना देता है, दूसरी और निःसन्देह ऐसे भी व्यक्ति हैं जिन्हें शंकर विरोध तथा अंधकार की अथाह खाई प्रतीत होते हैं। किन्तु हम सहमत हों या न हों यह मानना ही पड़ेगा कि उनके मस्तिष्क का प्रकाश हमें कभी भी जहाँ का तहाँ नहीं छोड़ जाता।[10]

आध्यात्मिक चिंतन का गाम्भीर्य, तर्क की विकट - वीथिका, सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथ्यों का भी संगतिपूर्ण विवेचन सब कुछ तो शांकर दर्शन में सहज ही प्राप्त है। सर चार्ल्स इलियट ने ठीक ही कहा है 'शंकर का दर्शन, संगति, पूर्णता तथा गाम्भीर्य में भारतीय दर्शन में सबसे प्रथम स्थान रखता है।[11]

निष्कर्ष रूपेण कहा जा सकता है कि यद्यपि सभी भाष्यकारों ने अपनी-अपनी दृष्टि से वेदान्त का प्रतिपादन किय है और अपने दर्शन को श्रेष्ठतम सिद्ध करने का, उपनिषदों और वेदान्त सूत्र से पूर्ण संगति रखने का दावा किया है तथापि शांकर अद्वैत भाष्य अद्वैतदर्शन का मुकुटमणि है। अद्वैत दर्शन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जो शंकर के प्रखर प्रज्ञा-प्रकाश से आलोकित न हो रहा हो। नाना उपनिषद् और सर्वशास्त्रमयी भगवद्गीता पर भाष्य लिखकर आचार्य शंकर ने परवर्ती आचार्यों के लिए मानों कुछ छोड़ा ही नहीं हैं। इसलिए मेरी समझ से जहाँ अद्वैतिक सिद्धान्तों की गूढ़ मीमांसा का प्रश्न हो, उनके प्रामाणिक अध्ययन का

प्रश्न हो, शाकर अद्वैत सरोवर में स्नान करके कोई भी अध्येता (शोधार्थी) अपनी जिज्ञासा को पूर्ण परितोष प्रदान कर सकता है। इसीलिए प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में वेदान्तीय सिद्धान्तों की विवेचना एवं प्रमाणन के लिए प्रो० भट्टाचार्य की अद्वैत वेदान्त के प्रति निष्ठा को देखते हुए मैने शांकर अद्वैत वेदान्त को ही निकष बनाया है। एतदर्थ प्रो० चन्द्रधर शर्मा की शांकर - विषयक् घोषणा से पूर्ण सहमति रखते हुए उसका उद्धरण देना समीचीन समझता हूँ -

'भगवान श्री शंकराचार्य का दर्शन अपने प्रतिपाद्य ब्रह्मके समान पूर्वापरकोटिवर्ज्य और पूर्ण है। इसलिए आचार्य को भगवान शंकर का अवतार माना जाता है। विश्व के दार्शनिकों में आचार्य शंकर का सर्वोच्च स्थान है। प्रसिद्ध उक्ति है कि महाशक्तिशाली वेदान्तकेशरी के सिंहनाद को सुनकर अन्य दर्शन जम्बुकों के समान बन में छिप जाते हैं -

'तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिनेयथा ।

न गर्जन्ति महाशक्तिर्यावद् वेदान्त केशरी ।। (12)

अद्वैत सम्प्रदाय के प्रथम विदित आचार्य गौडपाद ने भगवती श्रुति के जिन मुख्य सिद्धान्तों का अपने दर्शन में प्रतिपादन, पुष्टि और विकास किया था वे सब सिद्धान्त शंकराचार्य के दर्शन में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचे हैं । (13)

---

1. नौलखा डॉ० रामस्वरूप सिंह - आचार्य शंकर का ब्रह्मवाद पृष्ठ 55, किताब घर, आचार्य नगर कानपुर-3
2. डॉ० एस० राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन, द्वितीय भाग, पृष्ठ 386, प्रकाशक - राजपाल एण्ड सन्स कश्मीरी गेट, दिल्ली.
3. वही, पृष्ठ 369.
4. माण्डूक्यकरिका 1/17, ' मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ।'
5. डॉ० एस० राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन, द्वितीयभाग, पृष्ठ 404, प्रकाशक - राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट दिल्ली
6. वेदान्तसार - प्रस्तावना, उद्धृत - द्वारा वही पुस्तक पृष्ठ 404.
7. नौलखा डॉ० रामस्वरूप सिंह - आचार्य शंकर का ब्रह्मवाद, पृष्ठ 02, प्रकाशक -किताबघर कानपुर-3.
8. वही, पृष्ठ - 17.
9. दास गुप्ता - एस० एन० अनुवादक, कलानाथ शास्त्री, सुधीर कुमार - भारतीय दर्शन का इतिहास भाग -1 पृष्ठ - 400. राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी - जयपुर - 4.
10. डॉ० एस० राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन, द्वितीय भाग, पृष्ठ 384, प्रकाशक - राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली.
11. सर चार्ल्स इलियट - हिन्दुइज्म और बुद्धिइज्म, खण्ड - 2, पृष्ठ 208.
12. शर्मा, चन्द्रधर, बौद्ध दर्शन और वेदान्त, पृष्ठ 121, विजन - विभूति प्रकाशन, इलाहाबाद - 1986.

अद्वैत वेदान्तिक सम्प्रत्यय

ब्रह्म विचार -

आचार्य शकर के सम्पूर्ण दार्शनिक विचारों का सार निम्न अर्द्धश्लोक मे व्यक्त किया जा सकता है–'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैवनापर ।' (ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है। जगत् मिथ्या है तथा जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं)। एकतत्ववादी होने के कारण आचार्य शंकर एकमात्र ब्रह्म की ही निरपेक्ष सत्ता स्वीकार करते हैं। इस निरपेक्ष सत्ता का विचार दो दृष्टिकोणों से किया जा सकता है - 1. व्यावहारिक दृष्टिकोण, 2. पारमार्थिक दृष्टिकोण।

व्यावहारिक दृष्टिकोण से जगत् तथा दैनिक व्यवहार मे आने वाली जागतिक वस्तु सत्य मानी जाती है। इस दृष्टि विशेष से ब्रह्म को जगत् का मूलकारण सृष्टिकर्ता, पालक और संहारक स्वीकार किया जाता है,जिससे ये सब प्राणी उत्पन्न होते है, उत्पन्न होकर जीवित रहते है और विनष्ट होते समय जिसमे विलीन हो जाते हैं, वही ब्रह्म है।(1)

छान्दोग्योपनिषद् के 'शाण्डिल्य विद्या' नामक खण्ड मे ब्रह्म को 'तज्जलान्' अर्थात वह (तत्) जगत् को जन्म देता है (ज) उसे अपने में लीन करता है (लि) और धारण करता है (अन्) कहा गया है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता मे ब्रह्म के इसी स्वरूप पर निम्नवत् प्रकाश डाला गया है - मै ही इस जगत् का उत्पन्न करने वाला, पिता और उसकी जन्मदात्री माता हूँ तथा मैं ही प्राणियों के कर्मफल का विधान करने वाला विधाता और पितामह अर्थात् पिता का भी पिता हूँ तथा जानने के योग्य पवित्र करने वाला ओंकार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद सब कुछ हूँ।(2)

परन्तु उपर्युक्त लक्षणों या विशेषताओं के माध्यम से ब्रह्म का वास्तविक लक्षण निरूपण नहीं किया जा सकता। जगत् कर्तृत्व ब्रह्म का औपाधिक या तटस्थ लक्षण है। जो लक्षण वस्तु के स्वरूप मे रहे और वस्तु को लखाये उसे स्वरूप लक्षण कहते हैं और जो लक्षण वस्तु के स्वरूप से अलग रहे तथा फिर भी वस्तुओं को लखाये तटस्थ लक्षण कहते है। यह जो जगत् के जन्मादि का कारण रूप ब्रह्म का लक्षण 'जन्माद्यस्य यत '. से बताया जा रहा है वह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है।(3)

वस्तुत: तटस्थ लक्षण का सम्बन्ध वस्तु की विशेषता या धर्म से नहीं होता किन्तु वे अन्य वस्तुओं से उसकी भिन्नता बताते है। मकान पर बैठा हुआ कौआ उस मकान का संकेत करने मे सहायक

हो सकता है, किन्तु कौआ मकान पर सदा नहीं बैठा रहता और न वह मकान का अभिन्न लक्षण है।(4) अत कौये को मकान का केवल तटस्थ लक्षण कह सकते हैं। आचार्य शकर इस सगुण ब्रह्म को सगुण, सविशेष और अपर ब्रह्म भी कहते हैं। ब्रह्म के स्वरूप लक्षण का वर्णन करते हुए कहा जा सकता है कि 'स्वरूपान्तरभूतत्त्वे सति अन्यव्यावर्तक स्वरूप लक्षणम्' जो वस्तु के स्वरूप के अन्तर्गत आ जाता हो और अन्यों से भेद करने वाला हो उसको स्वरूप लक्षण कहते है। जैसे - सच्चिदानंदं ब्रह्म। ब्रह्म अर्थात् ईश्वर सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है। यह ब्रह्म या ईश्वर का स्वरूप लक्षण है क्योंकि सत्, चित् और आनन्द तीनों ब्रह्म के स्वरूप के अन्तर्गत है और अन्यों से उसको भिन्न करते हैं। परन्तु इस लक्षण को भी ब्रह्म का परम लक्षण नहीं कहा जा सकता है। यह केवल इतना ही संकेत देता है कि ब्रह्म का स्वरूप असत्, अज्ञान और अचेतन नहीं है और इस तरह बुद्धि को ब्रह्म की ओर प्रेरित करता है।(5)

एक दूसरे दृष्टिकोण से आचार्य शंकर ब्रह्म को सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से रहित, विश्वातीत, परब्रह्म कहते है। इस परब्रह्म को निर्गुण भी कहा जा सकता है। निर्गुण ब्रह्म सत्(6) परमार्थ सत्य(7), परमार्थ तत्त्व(8) और भूमा(9) आदि भी कहलाता है। यह नित्य कूटस्थ(10), एकमेव(11), सर्वदा एकरूप(12), भेद रहित(13) और उसके परिणामस्वरूप परिवर्तन रहित(14), पूर्णत: अपने स्वरूप में स्थित रहने वाला(15),ह्रास-वृद्धि रहित होने के कारण अनश्वर(16), अदृश्य, अज्ञेय, अग्राह्य, गुणातीत(17), निरवयव, निर्विकार और न छोटा न बडा है।(18)

परब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करते हुये आचार्य शंकर विवेक चूड़ामणि में लिखते हैं - 'परब्रह्म सत्, अद्वितीय, शुद्ध विज्ञानघन, निर्मल, शान्त, आदि-अन्तरहित, अक्रिय और सदैव आनन्दरस-स्वरूप है।(19) वह समस्त मायिक भेदों से रहित, नित्य, सुख स्वरूप, कला-रहित और प्रमाणादि का अविषय है तथा वह कोई अरूप, अव्यक्त, अनाम और अक्षय तेज है जो स्वयं ही प्रकाशित हो रहा है।(20) बुधजन उस परमतत्त्व को ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इस त्रिपुटी से रहित अनन्त, निर्विकल्प, केवल और अखण्ड चैतन्यमात्र जानते है।(21) वह ब्रह्म त्याग अथवा ग्रहण के अयोग्य, मन-वाणीका अविषय, अप्रमेय, आदि-अन्तरहित परिपूर्ण तथा महान तेजोमय है।(22)

ब्रह्म को निर्गुण कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि वह शून्य है या उसके अस्तित्त्व को ही अस्वीकार किया जाता है। वस्तुतः जो कुछ भी अस्तित्त्ववान दिखाई देता है वह सब स्वयं ब्रह्म का ही अस्तित्त्व है। अत: वह सदा सर्वदा वाणी से परे है। ब्रह्म अनिर्वचनीय है। प्रसिद्ध पाश्चात्य

दार्शनिक एफ0 एच0 ब्रेडले का भी विचार है कि विचारों के माध्यम से परमसत् को जाना ही नहीं जा सकता। 'विचार के सामने पड़ने वाला सत् अपने वास्तविक स्वरूप में दिखाई ही नहीं देता है।'(23) हम यह जान ही नहीं सकते कि ब्रह्म क्या है? अपितु हम यह जान पाते हैं कि ब्रह्म क्या नहीं है? अपूर्ण मनुष्य के लिए परमतत्त्व को जानना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है।(24) ब्रह्म को अनिर्वचनीय कहने का अर्थ यह नहीं है कि वह अज्ञेय है। ब्रह्म साक्षात् अनुभूति का विषय है। अजर, अमर, आभास शून्य, वस्तु स्वरूप, निश्चल जल-राशि के समान, नामरूप से रहित, गुणों के विकार से शून्य, नित्य, शान्त स्वरूप और अद्वितीय पूर्ण ब्रह्म का विद्वान समाधि-अवस्था में हृदय में साक्षात् अनुभव करते हैं।(25) एफ0 एच0 ब्रेडले का विचार है 'पूर्ण तत्त्व को जानने के लिए हमें स्वय पूर्ण बनना होगा किन्तु ऐसी स्थिति में हमारा अपूर्ण अस्तित्त्व समाप्त हो जायेगा। (26)

उल्लेखनीय है कि सगुण और निर्गुण ब्रह्म वर्णन की दृष्टिकोण से दो होते हुए भी वस्तुत: एक ही हैं। एक रूप मे वह उपाधियों से विभूषित है और हमारा आराध्य है दूसरे रूप में वह सब प्रकार की उपाधियों से परे और अज्ञेय है।(27) आचार्य शंकर के इस दृष्टिकोण का उल्लेख करते हुए प्रो0 मैक्सम्लर ने ठीक ही कहा है 'प्राचीन काल के वेदान्ती दार्शनिकों का अन्तिम लक्ष्य यही सिद्ध करना था कि जिसे हम सगुण ब्रह्म कहते है वही वास्तव में निर्गुण ब्रह्म भी है और पारमार्थिक दृष्टि से एक ही ब्रह्म की सत्ता है दो की नहीं।(28) इस सम्बन्ध में एफ0 एच0 ब्रेडले कहता हैं 'अनेक सत् संभव नहीं है।(29)

आत्म विचार

आचार्य शंकर के अनुसार आत्मा और ब्रह्म एक ही सत्ता के दो विभिन्न नाम है।(30) आत्मा की नित्य एवं शाश्वत सत्ता है। वह न जन्मता है, न मरता है, न बढ़ता है, न घटता है और न विकार को प्राप्त होता है। वह नित्य है और इस शरीर के लीन होने पर भी घट के टूटने पर घटाकाश के समान लीन नहीं होता।(31)

आत्मा की सत्ता पारमार्थिक है। शेष सभी वस्तुयें व्यावहारिक सत्यता का ही दावा कर सकती हैं। आत्मा नित्य शुद्ध और निराकार है। आत्मा एक है परन्तु अज्ञान के फलस्वरूप वह अनेक प्रतीत होती है। जिस प्रकार एक चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल की विभिन्न सतहों पर पड़ने पर वह एक होते हुए भी अनेक प्रतीत होता है उसी प्रकार एक आत्मा का प्रतिबिम्ब अविद्या पर पड़ने से वह अनेक प्रतीत होता है। क्रिया शक्ति और भोग शक्ति दोनों जीव में रहती है आत्मा न तो भोक्ता है और न कर्ता है, कर्म हो ने हो, भोग हो न हो परन्तु आत्मा दोनों हालातों मे ज्यों का त्यों रहता है, वस्तुतः आत्मा समस्त भोगों से उदासीन है।(32) विवेक चूड़ामणि में आत्मा के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आचार्य शंकर कहते हैं 'मैं न करने वाला हूँ, न कराने वाला हूँ, न भोगने वाला हूँ, न भुगतवाने वाला हूँ और न देखने वाला हूँ, न दिखाने वाला हूँ। मैं तो सबसे विलक्षण स्वयं प्रकाश आत्मा ही हूँ।'(39)

प्रकृति में दशों, सैकड़ों और हजारों विकार क्यों न हो, उनसे मुझ असंग चेतन आत्मा का क्या सम्बन्ध ? मेघ कभी भी आकाश को नहीं छू सकता।(34) आत्मा पाप और पुण्य के फलों से स्वतन्त्र देश-काल और कारण-नियम की सीमा से परे है। यह सभी प्रकार के भेदों से रहित अवयव शून्य है। वस्तुत. एक ही तत्व को आत्मनिष्ठ दृष्टि से आत्मा और वस्तुनिष्ठ दृष्टि से ब्रह्म कहा गया है। चिंतन के क्रम विकास की एक अवस्था में विश्व के मूल स्रोत ब्रह्म का व्यक्ति के अन्दर की सारभूत वस्तु आत्मा से अभेद कर दिया गया। इस प्रकार विचार की दो स्वतन्त्र धारायें जिनमें एक मनुष्य के सच्चे स्वरूप को समझने की इच्छा का फल थी और दूसरी बाह्य जगत के सच्चे स्वरूप को समझने की इच्छा का फल थी, एक में मिल गई और इसके फलस्वरूप तुरन्त उस एकता की खोज कर ली गई जिसकी जिज्ञासा दीर्घकाल से बनी हुई थी। भौतिक जगत् जो कि आत्मा के सिद्धान्त के अनुसार अनात्ममात्र है अब आत्मा में परिणत हो जाता है।(35)

इस प्रकार सारतः आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं। उपनिषद् वाक्य - 'अहं ब्रह्मास्मि' से आत्मा और ब्रह्म के अभेद का ज्ञान होता है। तत्त्वमसि आदि वाक्यों से आत्मा और ब्रह्म की एकता अभिव्यञ्जित होती है। आत्मा को ही ब्रह्म मानते हुए आचार्य शंकर कहते है - 'जो निर्विकल्प महान और

अविनाशी है, क्षर (शरीर) और अक्षर (जीव) से भिन्न है तथा नित्य, अव्यय, आनन्द स्वरूप और निष्कलंक है वह ब्रह्म ही तुम हो -- ऐसी हृदय मे भावना करो।(36)

ईश्वर विषयक् विचार

परम सत् निर्गुण और निराकार है परन्तु परमसत् (ब्रह्म) को जब हम विचारों के माध्यम से जानने का प्रयत्न करते हैं तो वह ईश्वर हो जाता है। ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जब माया में पड़ता है तो वह ईश्वर हो जाता है। मायोपहित ब्रह्म ही ईश्वर कहा जाता है। माया ईश्वर की शक्ति है और इसी के द्वारा वह जगत् प्रपञ्च की रचना करता है।(37)

इसी तथ्य को गीताकार ने निम्नलिखित शब्दों में अभिव्यक्ति दी है। "जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म की उन्नति होती है, तब-तब ब्रह्म अपनी माया से अपने स्वरूप को रचता है।"(38)

ईश्वर व्यक्तितत्वपूर्ण और उपासना का विषय है। जीवों को उनके शुभाशुभ कर्मों के अनुसार फल प्रदान करने के कारण ईश्वर कर्मफल नियन्ता भी है।

एको देव सर्व भूतेषु गूढ़ः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च ।।(39)

माया के द्वारा नानारूपात्मक जगत् की रचना करने वाला ईश्वर, विश्व का उपादान और निमित्त कारण है। वह स्वभावतः निष्क्रिय है परन्तु माया के रहने के कारण सक्रिय हो जाता है। चेतनं ब्रह्म जगतः कारणम् प्रकृतिश्च। "एक दिन ईश्वर एकान्त में बैठा और कविता करने का संकल्प करके उसने कहा कि अनन्त गगन है। वायु स्पन्दित हो रही है। तेज प्रकाशित हो रहा है। जल रसमय हो रहा है। पृथ्वी धारण कर रही है .....। जो-जो भाव आया, जो-जो शब्द उसके मुँह से निकला, वही-वही बनता गया। यह सृष्टि ही उसकी कविता बन गई।"(40) आचार्य शंकर के अनुसार ईश्वर दूध में उजलेपन की तरह व्याप्त है। यद्यपि ईश्वर विश्व में व्याप्त है तथापि वह विश्व की बुराइयों से प्रभावित नहीं होता है। ईश्वर विश्वातीत भी है। जिस प्रकार घड़ी साज की सत्ता घड़ी से अलग रहती है उसी प्रकार

ईश्वर विश्व का निर्माण कर अपना सम्बन्ध विश्व से विच्छिन्न कर विश्वातीत रहता है। सृष्टि ईश्वर का खेल है, जिस प्रकार कोई जादूगर अपनी जादू से दूसरे लोगों को प्रभावित तो कर लेता है पर वह स्वय उससे प्रभावित नहीं होता है क्योंकि माया स्वयं ईश्वर की शक्ति है।(41) इसी तरह पाश्चात्य दार्शनिक एफ0 एच0 ब्रेडले अपना मत व्यक्त करता है " निरपेक्ष सत् के भीतर अपना कोई इतिहास नहीं होता यद्यपि वह अपने भीतर असख्य इतिहासों को धारण करता है।(42) वस्तुत: सृष्टि ईश्वर की इच्छा या स्वभावमात्र है। जिस प्रकार साँस लेना मानवीय स्वरूप का अंग है उसी प्रकार सृष्टि करना ईश्वरीय स्वभाव का अग है।

आचार्य शकर ने ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित युक्तियों का सहारा लिया है:-

1. **विश्वसम्बन्धी युक्ति** :- इस युक्ति मे विश्व को कार्य मानकर उसके आदिकारण के रूप में ईश्वर की सत्ता सिद्ध की गई है। यदि ईश्वर के कारण को भी माना जाय तो फिर उसके कारण की खोज करनी पड़ेगी और ऐसी स्थिति मे अनवस्था दोष का सामना करना पड़ेगा। अतः ईश्वर जगत् का आदि कारण है।

कठोपनिषद् में ब्रह्म का जगत् के आदि कारण के रूप में निम्नप्रकार से वर्णन किया गया है -

जो सर्वशक्तिमान, सर्वान्तर्यामी, सर्वरूप, सबके परम कारण, परब्रह्म पुरुषोत्तम यहाँ इस पृथ्वीलोक में है, वही वहाँ परलोक में अर्थात् - देवगन्धर्वादि विभिन्न अनन्त लोकों में भी है तथा जो वहाँ है वे ही यहाँ भी हैं। एक ही परमात्मा अखिल ब्रह्मांड में व्याप्त है। जो उन एक ही परब्रह्म को लीला से नाना नामों और रूपों में प्रकाशित देखकर मोहवश उसमे नानात्व की कल्पना करता है उसे पुन:-पुनः मृत्यु के अधीन होना पड़ता है, उसके जन्म-मरण का चक्र सहज ही नहीं छूटता। अत: दृढ़तापूर्वक यही समझना चाहिए कि वे एक ही परब्रह्म परमेश्वर अपनी अचिन्त्य शक्ति के सहित नाना रूपों में प्रकट है और यह सारा जगत् बाहर-भीतर उन एक परमात्मा से व्याप्त होने के कारण उन्हीं का स्वरूप है।(43)

प्रयोजन मूलक तर्क :- विश्व की ओर दृष्टिपात करने पर सम्पूर्ण जगत् में एकता, सामञ्जस्य और व्यवस्था दिखलाई पड़ती है। विश्व की एकता और सामञ्जस्य मानवीय बुद्धि की कल्पना के परे है। अतः विश्व की व्यवस्था एवं सामञ्जस्य का कारण ईश्वर है।

नैतिक प्रमाण :- जीवों के पाप और पुण्य के अनुसार ईश्वर फल प्रदान करता है। अतः कर्म - फलदाता के रूप मे ईश्वर की सत्ता स्वीकार की जाती है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में ईश्वर को समस्त कर्मों का अधिष्ठाता

स्वीकार करते हुये उनकी महिमा इस प्रकार से वर्णित है :-

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता· केवलो निर्गुणश्च ।।(44)

इस ससार में हमें सर्वत्र एक नैतिक व्यवस्था दिखलाई पड़ती है। अधर्मी और दुराचारी कष्ट भोगते हैं और धर्मनिष्ठ और सदाचारी सुखभोग करते हैं। जगत् में व्याप्त यह नैतिक व्यवस्था अतत हमें एक ऐसी परमसत्ता को मानने के लिए बाध्य करती है जो समस्त नैतिक नियमों और व्यवस्था का संचालक है। वही ईश्वर है।

श्रीमद्भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय के सातवें और आठवें श्लोक से भगवान (ईश्वर) के इसी स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। हे भारत! वर्णाश्रम आदि जिसके लक्षण है एव प्राणियों की उन्नति एवं परम कल्याण का जो साधन है, उस धर्म की जब-जब हानि होती है और अधर्म का अभ्युत्थान अर्थात् उन्नति होती है, तब-तब ही मैं माया से अपने स्वरूप को रचता हूँ।(45)

सत् मार्ग में स्थित साधुओं का परित्राण अर्थात् (उनकी) रक्षा करने के लिए, पाप कर्म करने वाले दुष्टों का नाश करने के लिए और धर्म की अच्छी प्रकार स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में अर्थात् प्रत्येक युग में प्रकट हुआ करता हूँ।(46)

उल्लेखनीय है कि यद्यपि ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए आचार्य शंकर ने उपरोक्त प्रमाणों को प्रस्तुत किया है तथापि उक्त प्रमाणों का शांकर दर्शन में गौण स्थान है। उन्होंने बार-बार दुहराया है कि ईश्वरीय अस्तितत्व को प्रमाणों से सिद्ध करना असम्भव है। ईश्वर का अस्तितत्व श्रुति से ही प्रमाणित होता है। ईश्वर एक लोकातीत सत्ता है जहाँ इन्द्रियों, मन और बुद्धि की गति नहीं है।(47) पाश्चात्य दार्शनिक कान्ट भी आचार्य शंकर से सहमति रखते हुए ईश्वर को श्रद्धा या विश्वास का विषय मानता है।

अस्तु डॉ0 चन्द्रधर शर्मा ने कहा है "जिस प्रकार कान्ट विश्वास को ईश्वर का आधार मानता है उसी प्रकार शंकर श्रुति को ईश्वर का आधार मानते हैं।(48)

ब्रह्म और ईश्वर में भेद

एकतत्त्ववादी होने के कारण आचार्य शंकर एकमात्र निरपेक्ष ब्रह्म की ही सत्ता स्वीकार करते है। वही निरपेक्ष ब्रह्म जो मन और वाणी से अगोचर है, (यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्त मनसा सह) अपनी सृजनात्मक शक्ति माया से संयुक्त होने पर ईश्वर कहलाता है। ब्रह्म को जब हम सृष्टि शक्ति से सम्पन्न देखते हैं तो वह ईश्वर के रूप में व्यक्त होता है। 'ब्रह्मैव स्वशक्ति प्रकृत्याभिधेयम् आश्रित्य लोकान् सृष्ट्वा नियन्तृत्वाद् ईश्वरः'।

अर्थात ईश्वर, ब्रह्म का विवर्त या आभास मात्र है। ईश्वर विश्व का कर्ता, भर्ता एव हर्ता है परन्तु ब्रह्म इन गुणों से शून्य है। ब्रह्म वास्तव में निर्विकल्प और सभी विशेषों से रहित है।पर उपाधिवश उपासना के कारण वह उपास्य - उपासक रूप में प्रकट होता है।[49] एक ही ब्रह्म के दो रूप है- नाम रूप उपाधियों से भिन्न ब्रह्म जो निर्विकल्प अनुभूति का विषय है तथा दूसरी ओर वह ब्रह्म जिसमें नाम-रूप आदि उपाधियाँ पायी जाती हैं।[50] ईश्वर वैयक्तिक है जबकि ब्रह्म जो निरूपाधिक सत्ता है अवैयक्तिक या व्यक्तित्त्वहीन कहा जा सकता है। ईश्वर के लिए अपरिहार्य रूप से जीव और जगत् की आवश्यकता है जिन पर वह शासन करे क्योंकि इन दोनों प्रकृतियों से युक्त होना ही ईश्वर की ईश्वरता है।[51] परन्तु ब्रह्म समस्त प्रकृति-विकारों और नामरूप से परे है। जैसा कि आचार्य शंकर स्वयं विवेक - चूड़ामणि मे लिखते हैं - प्रकृति और उसके विकारों से भिन्न, शुद्ध ज्ञान स्वरूप, वह निर्विशेष परमात्मा सत्-असत् सबको प्रकाशित करता हुआ जाग्रत् आदि अवस्थाओं में अहंभाव से स्फुटित होता हुआ बुद्धि के साक्षी रूप से साक्षात् विद्यमान है।[52]

निर्गुण ब्रह्म निष्प्रपञ्च है। ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञान का भेद जिनके बिना ईश्वर की कल्पना असम्भव है, ब्रह्म की स्थिति में पूर्णतः अनुपलब्ध है। बुध जन उस परम तत्त्व को ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेय इस त्रिपुटी से रहित, अनन्त, निर्विकल्प, केवल और अखण्ड चैतन्य मात्र जानते हैं।[53] ईश्वर भक्ति का विषय है परन्तु निरपेक्ष ब्रह्म ऐसा नहीं है। बुद्धि और मन का जो कुछ भी विषय है, जो इनके द्वारा जानने मे आ सकता है तथा प्राकृत मन-बुद्धि से जाने हुए जिस तत्त्व की उपासना की जाती है वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है। परब्रह्म परमेश्वर मन और बुद्धि से सर्वथा अतीत है।[54]

ईश्वर के भक्त और साधक ईश्वर को ही प्राप्त होते हैं किन्तु ब्रह्म को प्राप्त होने

की बात बुद्धिगम्य नहीं है। शंकराचार्य ईश्वर को नारायण, विष्णु, पुरुषोत्तम आदि नामों से भी सम्बोधित करते है। यह विश्वास किया जाता है कि भक्तों की रक्षा के लिए और दुष्टों के विनाश के लिए ईश्वर करुणा वश पृथ्वी पर अवतार लेता है।(55)

सारूपेण कहा जा सकता है कि शंकराचार्य के दर्शन में ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता और ईश्वर की व्यावहारिक सत्ता मानी गई है। वस्तुतः ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। ईश्वर तो उसका आभास या विवर्तमात्र है।

साक्षी

साक्षी अद्वैत वेदान्त का एक विशिष्ट तत्त्व है जो आत्मा या ब्रह्म, ईश्वर और जीव इन तीनों से भिन्न है। लोक - व्यवहार मे साक्षी "उदासीन द्रष्टा" को कहते हैं। साक्षी उदासीन या अनासक्त होता है और साथ ही द्रष्टा या ज्ञाता भी। साक्षी परब्रह्म के समान नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाला है। स्वत सिद्ध और स्वयंप्रकाश है। विशुद्ध आत्मतत्त्व के समान यह साक्षी समस्त ज्ञान और अनुभव का अधिष्ठान है। साक्षी की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए "पञ्चदशी" मे कहा गया है 'बाहर और भीतर रूप स्थान (देश) तो बुद्धि के होते हैं क्योंकि साक्षी का न तो बाह्य है और न अन्तर ही है। वस्तुत तो बुद्धि और इन्द्रियादि सभी की प्रतीति का शमन हो जाने पर वह साक्षी जहाँ अपने स्वरूप मे भासित होता है वही विद्यमान रहता है।'(56)

साक्षी सोपाधिक होते हुए भी उपाधि में किसी प्रकार लिप्त नहीं होता। साक्षी जीव और ईश्वर मे अभिव्यक्त होता है। प्रत्येक जीव में उसका साक्षी विद्यमान होता है। साक्षी अन्तःकरणोपहित चैतन्य है। अन्त. करण की उपाधि निर्विशेष ब्रह्म को साक्षी चैतन्य बना देती है। साक्षी अन्त करण से भिन्न होते हुए भी उसे प्रकाशित करने में मदद करता है। साक्षी को अंतः करण से बिल्कुल भिन्न भी नही माना जा सकता क्योंकि अद्वैत वेदान्त के अनुसार तत्त्व दो नहीं वरन् एक है।

साक्षी के कारण जीव के विविध अनुभवों मे एकता बनी रहती है। सुषुप्ति में जब जीव और अन्तः करण अविद्या मे लीन हो जाते हैं और कोई विषय नहीं रहता तब भी साक्षी स्वयप्रकाशित रहता है तथा उसके कारण सुषुप्ति से पूर्व के और पश्चात के अनुभवों मे एकता बनी रहती है। ज्ञात या अज्ञात रूप से सभी वस्तुयें साक्षी - चैतन्य के विषय हैं। 'यह बुद्धि बाहरी या भीतरी जिस-जिस स्थान अथवा

जिस-जिस वस्तु की भी कल्पना करती है उस - उस स्थान या वस्तु में स्थित हुआ आत्मा साक्षी कहलाता है। यदि यथार्थ रूप से देखें तब तो आत्मा का सर्व साक्षित्व अयथार्थ ही सिद्ध होगा, क्योंकि साक्षित्व की सिद्धि भी आत्मा में नहीं होती। इस प्रकार ब्रह्म के या आत्मा के सर्वसाक्षित्त्व के अयथार्थ होने के समान ही अन्य सब वस्तुओं में भी साक्षित्व को जानना चाहिए।[57]

जीव कर्ता और भोक्ता है। साक्षी केवल निर्विकार द्रष्टा है। उपनिषद् इसे गुणों से रहित केवल साक्षी मात्र प्रतिपादित करते हैं और यह फलों का उपभोक्ता नहीं है। वे एक ही परमदेव, परमेश्वर समस्त प्राणियों के हृदय रूप गुहा में छिपे हुए हैं। वे सर्वव्यापी और समस्त प्राणियों के अन्तर्यामी परमात्मा हैं। वे ही सब के कर्मों के अधिष्ठाता - सबको कर्मानुसार फल देने वाले और समस्त प्राणियों के निवास स्थान -आश्रय हैं तथा वो ही सबके साक्षी - शुभाशुभ कर्म को देखने वाले, परमचेतन स्वरूप तथा सबको चेतना प्रदान करने वाले सर्वथा विशुद्ध अर्थात निर्लेप और प्रकृति के गुणों से अतीत भी है।[58]

मुण्डकोपनिषद् में साक्षी का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ' यह मनुष्य शरीर मानों एक वृक्ष है। ईश्वर और जीव - ये सदा साथ रहने वाले दो मित्र पक्षी हैं। वे इस शरीर रूप वृक्ष में एक साथ ही हृदय रूप घोंसले में निवास करते हैं। इन दोनों में एक जीवात्मा तो उस वृक्ष के फलरूप अपने कर्मफलों को अर्थात् प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए सुख-दुःखों को आसक्ति एवं द्वेष पूर्वक भोगता है और दूसरा - ईश्वर उन कर्मफलों से किसी प्रकार का किंचित् भी सम्बन्ध न जोड़कर केवल देखता रहता है।[59]

उपनिषद् के इस प्रसिद्ध वाक्य पर टीका करते हुए जिसमें दो पक्षियों को एक ही वृक्ष पर बैठे हुए बताया गया है शंकर कहते हैं 'इन दोनों में से जो इस प्रकार वृक्ष पर बैठे हुए हैं, एक जो क्षेत्रज्ञ है और सूक्ष्म शरीर धारण करता है, अज्ञान के कारण कर्मों के फलों को जो सुख तथा दुःख रूप में प्रकट होते हैं, खाता है (अर्थात उनका उपभोग करता है) जो नाना प्रकार की स्थितियों में स्वादु है। दूसरा जो नित्य प्रभु है। निर्मल तथा बुद्धि सम्पन्न और अपने स्वरूप में स्वतन्त्र है, सर्वज्ञ है तथा सत्त्वगुण से सम्पन्न है, वह नहीं खाता (अर्थात् कर्म-फल नहीं भोगता) क्योंकि वह भोक्ता एवं भोग्य दोनों का संचालक है। उसका केवल साक्षी होना ही संचालन के समान है जैसा कि किसी राजा के द्वारा होता है।[60]

इसी प्रकार का वर्णन कठोपनिषद् में भी गुहा में प्रविष्ट छाया और धूप के नाम से आया है।

> ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
> गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे
> छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति
> पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः।।[61]

साक्षी निर्विवाद रूप से निर्विरोध शुद्ध नित्य चैतन्य है जो उपाधि के कारण, उपाधि से सर्वथा निर्लिप्त रहकर देह, इन्द्रिय, अन्त.करण आदि विषयों को प्रकाशित करने और देखने के कारण साक्षी कहलाता है। बुद्धि के द्वारा जिस - जिस रूपादि की कल्पना की जाती है उस-उस रूपादि को प्रकाशित रखने के कारण ही यह आत्मा उस-उस विषय का साक्षी कहा जाता है।《62》 उपाधि भेद से अन्त. करण से उपहित साक्षी जीव-साक्षी तथा माया से उपहित साक्षी ईश्वर-साक्षी की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। विद्यारण्य स्वामी ने साक्षी की उपमा एक ऐसे दीपक के साथ किया है जो रंगमंच पर रखा जाने पर नाटक के सूत्रधार, नाटक की नायिका तथा दर्शकों सबको एक समान प्रकाशित करता है और इन सबकी अनुपस्थिति मे भी स्वयं प्रकाशित होता है।《63》

साक्षी चैतन्य समस्त ज्ञान और अनुभव का अधिष्ठान है एवं स्वतः सिद्ध तथा स्वप्रकाश है। जैसे दीपक गमनागमन से रहित हुआ अपने स्थान पर ही रखा रहकर अपने निकटवर्ती चारों ओर के पदार्थों को प्रकाशित किये रहता है, वैसे ही त्रिकाल में भी गमनागमन से रहित हुआ साक्षी (आत्मा) अपने बाहर भीतर सर्वत्र प्रकाशित करता है।《64》 नित्य चैतन्य अथवा आत्मा को जीवसाक्षी की सज्ञा दी गई है। उस अवस्था में जब कि यह मनुष्य के शरीर रूपी यन्त्र के अन्दर कार्य करता है तथा जब यह विश्व के अन्दर व्यापार कार्य करता है तब इसे ईश्वर - साक्षी कहते हैं। दोनों अवस्थाओं में उपाधिभेद ही दो भिन्न भिन्न सज्ञाओं का कारण है। प्रथम प्रकार के साक्षी में अन्तःकरण तथा शरीर इत्यादि उपाधियाँ हैं और दूसरे प्रकार के साक्षी अर्थात ईश्वर के विषय में सत्रूप समग्र जगत् उपाधि है। ईश्वर जगत् की आत्मा, जबकि जीव मनुष्य की आत्मा है। साक्षी की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए विद्यारण्य स्वामी पञ्चदशी में लिखते हैं.-

किसी झरोखे के द्वारा गृह के भीतर पहुँचा हुआ सूर्य का अल्प प्रकाश, यद्यपि चंचल नहीं होता अर्थात् वह प्रकाश घर के जिस भाग में पड़ता है वहाँ स्थिर हो जाता है तथापि यदि उस प्रकाश मे हाथ को हिलावें डुलावें तो वह नाचता हुआ सा प्रतीत होता है। परन्तु यथार्थ में तो हाथ ही नाचते हैं वह प्रकाश नहीं नाचता।《65》

इसी प्रकार अपने स्वरूप या स्थान में स्थित हुआ साक्षी (आत्मा) भी बाहर-भीतर न जाता - आता हुआ भी बुद्धि की चचलता के कारण गमनागमन युक्त प्रतीत होता है।《66》

जीव विचार

आत्मा की पारमार्थिक सत्ता है जब कि जीव की व्यावहारिक। जब आत्मा अविद्या के वशीभूत होकर इन्द्रिय, शरीर, मन इत्यादि उपाधियों से सीमित हो जाता है तब वह जीव कहलाता है। "भगवान की माया से उत्पन्न तीनों गुण (प्रकृति) शरीरधारी अविनाशी क्षेत्रज्ञ को मानों बाँध लेते हैं।"[67] जब यह आत्मा शरीर में उपस्थित होकर सांसारिक अनुभूतियों का विषय बनती है तो यह जीवात्मा कहलाती है। 'वह परात्मा मिथ्या बुद्धि से परिच्छिन्न होकर उससे एकीभूत हो जाने के दोष से सर्वात्मक होते हुए भी मिट्टी से घड़े के समान अपने को अपने ही से पृथक् देखता है।[68]

यह जीवात्मा ही सारे सांसारिक अनुभवों को अनुभूति चेतना के रूप में ग्रहण करता है। परन्तु यह आत्मा का केवल शरीर स्थित रूप है। शुद्ध चित्त रूप ब्रह्म माया के साथ इस प्रपञ्च के मध्य ईश्वर के रूप में स्थित होता है और यही अविद्या के साथ जीवरूप में शरीर में स्थित होता है। माया अज्ञान का शुद्ध सृष्टिकर्ता रूप है और अविद्या विकृत अनुभूतिपरक जीवरूप है।

जीव कर्म-नियम के अधीन रहते हुए स्वयं को विभिन्न कार्यों का कर्ता और भोक्ता समझता है। परिणाम स्वरूप कर्मों की सफलता और असफलता के अनुसार सुख और दुःख की अनुभूति करता है। उपनिषदों में जीव के लिए कर्ता और भोक्ता शब्द का प्रयोग हुआ है।[69] एक ही आत्मा विभिन्न जीवों के रूप में दिखलाई पड़ती है। जिस प्रकार एक ही आकाश, उपाधिभेद के कारण घटाकाश, मठाकाश इत्यादि में दीख पड़ता है उसी प्रकार एक ही आत्मा शरीर और मनस की उपाधि के कारण अनेक दीख पड़ती है। 'जिस प्रकार मूढ़ पुरुष घड़े के जल में प्रतिबिम्बित सूर्य बिम्ब को देखकर उसे सूर्य ही समझता है, उसी प्रकार उपाधि में स्थित चिदाभास को अज्ञानी पुरुष भ्रम से अपना - आप ही मान बैठता है।[70] यद्यपि जीव वास्तविक स्वरूप में स्वयं आत्मा या ब्रह्म है तथापि अज्ञानता के वशीभूत वह स्वयं को पृथक् समझते हुए ब्रह्म (ईश्वर) को उपास्य और स्वयं को उपासक समझने लगता है।

जीव आत्मा का वह रूप है जो देह से युक्त है, उसके तीन शरीर है। स्थूल, लिंग, कारण शरीर।

" जिसके आश्रय से जीव को सम्पूर्ण बाह्य जगत् प्रतीत होता है, गृहस्थ के घर के तुल्य उसे ही स्थूल देह जानो "।[71] त्वचा, मांस, रक्त, स्नायु (नस), मेद, मज्जा और अस्थियों का समूह तथा मल-मूत्र से भरा हुआ स्थूल देह, स्थूल शरीर कहलाता है।[72] लिंग अथवा सूक्ष्म शरीर का वर्णन करते

हुए आचार्य शंकर विवेक चूड़ामणि मे कहते है ' वागादि पाँच कर्मेन्द्रियाँ, श्रवणादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राणादि पाँच प्राण, आकाशादि पाँच भूत बुद्धि आदि अन्त करण चतुष्टय, अविद्या तथा काम और कर्म यह पुर्यष्टक अथवा सूक्ष्म शरीर कहलाता है।(73) कारण शरीर का वर्णन इस प्रकार से किया जा सकता है - इस प्रकार तीनों गुणों (सत्व, रज, तम) के निरूपण से यह अव्यक्त का वर्णन हुआ। यही आत्मा का कारण शरीर है। इसकी अभिव्यक्ति की अवस्था सुषुप्ति है, जिसमें बुद्धि की सम्पूर्ण वृत्तियाँ लीन हो जाती हैं।(74) इसी तरह अविद्या से आवृत्त जीव पारमार्थिक (सत्) संज्ञा से जाना जाता है, जब यही जीव अहम् और इन्द्रियों के सम्पर्क से अनेक व्यापारों में प्रवृत्त होता है तो व्यावहारिक (प्रकृत) और स्वप्नावस्था में स्वप्नात्मा रूप में प्रातिभासिक (माया) कहलाता है।(75)

जीव जब 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य - ज्ञान से अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है जब उसकी अविद्या-निवृत्ति हो जाती है। तब उसे 'अहं ब्रह्मास्मि' का साक्षात्कार हो जाता है। लोक मे अविद्या और उसके कार्य जीव-भाव का अनादित्व माना जाता है किन्तु जग पड़ने पर जैसे सम्पूर्ण स्वप्नप्रपञ्च अपने मूल सहित नष्ट हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानोदय होने पर अविद्या-जनित जीव-भाव का नाश हो जाता है।(76) अनादि माया के प्रभाव से सोया हुआ जीव जब जागता है तब यह अजन्मा, निद्रारहित, स्वप्नरहित अद्वैत तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करता है।(77)

ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध

वस्तुतः सभी जीव अपने तात्विक स्वरूप में एक ही शुद्ध चेतन तत्त्व हैं तथापि अविद्या - जन्य उपाधियों से सीमित होने के कारण जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है और ब्रह्म से अपना पार्थक्य समझने लगता है। ' संसार में जो द्वैत या नानात्व है वह माया जन्य है, परमार्थतः केवल अद्वैत ही एक मात्र तत्त्व है।(78) वस्तुतः जीव न ' आत्मा का अंश है न आत्मा का विकार है, न आत्मा से भिन्न है बल्कि स्वतः आत्मा है। सच तो यह है कि जीव और ब्रह्म में परमार्थतः कोई भेद नहीं है। शंकर का कथन ' तत्त्वमसि ' आत्मा और जीव की अभिन्नता प्रमाणित करता है।

जीव और ब्रह्म के सम्बन्धों की व्याख्या के लिए अद्वैत वेदान्त में प्रायः दो मत स्वीकार किये गये हैं। 1. प्रतिबिम्बवाद, 2. अवच्छेद वाद

प्रतिबिम्बवाद का समर्थन शंकरोत्तर अद्वैतवेदान्ती विवरण सम्प्रदाय के आचार्य पद्मपादाचार्य ने किया है। इस मत के अनुसार जिस प्रकार एक चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जब जल की विभिन्न सतहों पर पड़ता है तब जल की स्वच्छता और मलीनता के अनुसार प्रतिबिम्ब भी स्वच्छ और मलिन दीख पड़ता है। उसी प्रकार एक ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जब अविद्या पर पड़ता है तब अविद्या की प्रकृति के कारण जीव भी विभिन्न आकार का दीख पड़ता है। जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल की विभिन्न सतहों पर पड़ने से वह अनेक चन्द्रमा के रूप में प्रतिबिम्बित होता है, उसी प्रकार एक ही ब्रह्म का प्रतिबिम्ब अविद्या रूपी दर्पण पर पड़ने से वह अनेक दीख पड़ता है।

पंचदशी के लेखक विद्यारण्य स्वामी के अनुसार ईश्वर माया में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है और जीव ब्रह्म का अविद्या में प्रतिबिम्ब है।(79)

अवच्छेदवाद के समर्थक भामती प्रस्थान के समर्थकों के अनुसार जिस प्रकार एक ही आकाश जो सर्वव्यापी है, उपाधिभेद से घटाकाश, मठाकाश रूप में परिलक्षित होता है उसी प्रकार एक ही सर्वव्यापी ब्रह्म अविद्या के कारण उपाधि भेद से अनेक जीवों के रूप में आभासित होता है।

आचार्य शंकर ने इस प्रकार का कोई संकेत नहीं दिया कि वे दोनों सिद्धान्तों में से किसका समर्थन करते हैं किन्तु उन्होंने इन दोनों का प्रयोग किया है। जब वे ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध की व्याख्या करते हैं तो वे जल में सूर्य-प्रतिबिम्ब का उदाहरण देते हैं। यहाँ वे प्रतिबिम्बवाद के समर्थक प्रतीत होते हैं।(80) किन्तु जब वे उसी तथ्य की व्याख्या सर्वव्यापी आकाश का घड़े आदि में परिसीमित

होने का दृष्टात देते है तो वे अवच्छेदवाद के समर्थक लगने लगते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आचार्य शकर इन दोनों का अन्तर नहीं समझते। वस्तुत· इन दोनों दृष्टातों की अपनी विशेषतायें है जिनसे भिन्न - भिन्न तथ्य स्पष्ट होते है। यथा - वृहदाकाश और घटाकाश के दृष्टात से जीव और ब्रह्म की तात्विक एकता भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है और जल मे सूर्य के प्रतिबिम्ब के दृष्टांत से जीव की सांसारिक प्रकृति उसकी मुक्ति तथा ऐसे ही अन्य इन्द्रियानुभविक तथ्य अच्छी तरह से समझाये जा सकते है। अतः आचार्य शंकर एक निश्चित अभिप्राय के साथ दोनों प्रकार के दृष्टान्तों का प्रयोग करते है। उन्होने अनिश्चित मानसिक दशा के कारण ऐसा नहीं किया है। अत. यह मानना ही पड़ेगा कि उन्होंने दोनों प्रकार के दृष्टान्तों का प्रयोग विविध तथ्यों को समझाने के लिए किया है।(81)

जीव और ईश्वर - जीव और ईश्वर दोनों ब्रह्म के विवर्त हैं। जीव, जागतिक वस्तुयें और ईश्वर ये सभी व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही सत्य है। जिस प्रकार घटाकाश का जन्म-मरण, गमन-आगमन और स्थिति पारमार्थिक न होकर प्रातीतिक ही होता है, उसी प्रकार जीवात्मा का जन्म-मरण, गमन-आगमन और स्थिति भी पारमार्थिक न होकर प्रातीतिक ही होता है।(82)

जिस प्रकार आग की समस्त चिनगारियों मे ताप पाया जाता है वैसे ही शुद्ध चैतन्य जीव और ईश्वर दोनों मे पाया जाता है। श्रीमद्‌भगवद् गीता के चौदहवे अध्याय के चौथे श्लोक मे भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है। ' हे कुन्ती पुत्र! देव, पितृ, मनुष्य, पशु और मृग आदि समस्त योनियों मे जो मूर्तियाँ अर्थात् शरीराकार अलग-अलग अंगों के अवयवों की रचनायुक्त व्यक्तियाँ उत्पन्न होती है, उन सब मूर्तियों की सब प्रकार से स्थित् महत् ब्रह्म रूपी मेरी माया तो गर्भ धारण करने वाली योनि है और मैं ईश्वर बीज प्रदान करने वाला अर्थात गर्भाधान करने वाला पिता हूँ।(83) इससे स्पष्ट होता है कि जीव और ईश्वर एक दूसरे के निकट है। इन समानताओं के अतिरिक्त जीव और ईश्वर में कुछ भिन्नता भी है।

ईश्वर मुक्त है जबकि जीव बन्धनग्रस्त है। ईश्वर अकर्ता है जबकि जीव कर्ता है। ईश्वर उपास्य और जीव उपासक है। ईश्वर कर्म-नियम से स्वतन्त्र, कर्मफलप्रदाता और पूर्ण है जबकि जीव कर्मनियम के अन्तर्गत रहते हुए कर्मफल भोक्ता है।(84) ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक और अविद्या से शून्य है। जबकि जीव अविद्या के वशीभूत तुच्छ तथा कमजोर है। शकर ने जीव और ईश्वर के सम्बन्ध को बताने के लिए मुण्डकोपनिषद् में वर्णित निम्न उपमा की ओर संकेत दिया है -

" दो पक्षी जो निरन्तर साथ रहते हैं तथा एक दूसरे के अति निकट हैं, एक ही

वृक्ष पर निवास करते है उनमे से एक फल को मधुर समझकर बड़े चाव से खाता है और दूसरा बिना खाये सिर्फ देखा करता है। पहला जीव है जबकि दूसरा ईश्वर। जीव भोक्ता है जबकि ईश्वर द्रष्टा है। ईश्वर जीव को [illegible] हैं। जीव कर्ता है, ईश्वर नियन्ता है।

जगत् विचार -

आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म की ही एकमात्र निरपेक्ष सत्ता है। ईश्वर, जीव और जगत् सब प्रपञ्चमात्र और मिथ्या हैं। योगवाशिष्ठ में उल्लेख मिलता है ' जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ है। न था और न होगा ही। राम! जगत् न था न है और न होगा ही।(85) वस्तुत जगत् की निरपेक्ष सत्ता नही है। सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का विवर्तमात्र है। जिस प्रकार सॉप रस्सी का विवर्त है उसी प्रकार विश्व भी ब्रह्म का विवर्त है।(86) जिस प्रकार सर्प रस्सी के वास्तविक स्वरूप पर पर्दा डाल देता है उसी प्रकार जगत् ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप पर पर्दा डाल देता है और उसके स्वरूप का विक्षेप जगत् यथार्थ प्रतीत होने लगता है। परिवर्तनशील जगत् की केवल आभासिक सत्ता है। वस्तुत: जगत् असत् और मिथ्या है। विवेक चूड़ामणि मे वर्णन मिलता हे, " यदि विश्व सत्य होता तो सुषुप्ति मे भी उसकी प्रतीति होनी चाहिए थी, किन्तु उस समय इसकी कुछ भी प्रतीति नहीं होती, इसलिए यह स्वप्न के समान असत् और मिथ्या है।(87)

जिस प्रकार एक जादूगर अपनी जादू की प्रवीणता से एक सिक्के को अनेकों सिक्कों के रूप मे परिवर्तित कर देता है। अज्ञानी व्यक्ति जिनको उसके जादू का ज्ञान नहीं होता है उस जादू के वशीभूत होकर उसे सत्य समझ लेते हैं परन्तु स्वयं जादूगर उससे प्रभावित नहीं होता है उसी प्रकार ब्रह्म अपनी माया के माध्यम से वैचित्र्यपूर्ण जगत् की अद्भुत लीला करते हैं। परन्तु यह ईश्वर के लिए केवल लीलामात्र है वह अपनी लीला से स्वयं प्रभावित या बँध नहीं पाता है। परन्तु अज्ञानी जीव परमेश्वर की इस लीला (जगत्) को ही सत्य समझ लेते है ऐसी स्थिति में जादूगर की जादू से मोहित व्यक्ति की भाँति उन्हें ब्रह्म के स्थान पर चाकचिक्यपूर्ण जगत् ही सत्य प्रतीत होता है। माण्डूक्यकारिका में इस सम्बन्ध में वर्णित है -

" अनादि मायया सुप्तो यदा जीव. प्रबुध्यते ।
अजमनिद्रम स्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ।। ".

विवेक चूड़ामणि में विविध प्रसंगों के अन्तर्गत आचार्य ने जगत् मिथ्यात्व का निरूपण किया है - जिसमें कोई पदार्थ नहीं होता, उस स्वप्न में मन ही अपनी शक्ति से सम्पूर्ण भोक्ता - भोग्यादि

प्रपञ्चरचता है, उसी प्रकार जागृति मे भी और कोई विशेषता नहीं है।अत यह सब मनका विलास मात्र ही है।(88) लोक मे अविद्या और उसके कार्य जीव-मात्र का अनादित्व माना जाता है किन्तु जग पड़ने पर जैसे सम्पूर्ण स्वप्न-प्रपञ्च अपने मूल सहित नष्ट हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानोदय होने पर अविद्या - जनित जीव - भाव का नाश हो जाता है।(89)

आचार्य शंकर के जागतिक विचार को सुस्पष्ट करने के लिए उनकी सत्ता-विषयक् अवधारणा पर विचार करना समीचीन प्रतीत होता है। शकराचार्य के अनुसार सभी सामान्य विषय तीन कोटियों मे विभक्त किये जा सकते है .-

1. प्रातिभासिक सत्ता.
2. व्यावहारिक सत्ता
3. पारमार्थिक सत्ता

प्रातिभासिक सत्ता के अन्तर्गत वे विषय आते है जिनकी सत्ता क्षणमात्र ही होती है और जिनका जाग्रतावस्था के अनुभव से बाध हो जाता है यथा - स्वप्न, विभ्रम आदि ।

व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत वे वस्तुयें आती हैं जो व्यावहारिक जीवन को सफल बनाने मे सहायक होती है। चूँकि ये वस्तुयें तार्किक दृष्टि से खण्डित होने की क्षमता रखती है अत इन्हें पूर्णत सत्य नहीं कहा जा सकता । वास्तविक हाथी के समान माया से बना हाथी भी देखा जाता है क्योंकि वास्तविक हाथी के समान ही माया से बने हाथी के साथ भी बन्धन - आरोहणादि हस्ति - सम्बन्धी धर्मों के व्यवहार चलते हैं उसी प्रकार उपलब्धि और आचरण के कारण भेदरूप द्वैत वस्तुओं के वास्तविक अस्तित्व को हम समझ लेते है। वे अव्यभिचरित वस्तुए नहीं हैं।(90)

पारमार्थिक सत्ता शुद्ध सत्ता है जो न बाधित होती है और न जिसके बाधित होने की कल्पना की जा सकती है।

आचार्य शंकर के अनुसार जगत् को व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत रखा जा सकता है, क्योंकि यह स्वप्न की भाँति न तो नितान्त असत्य है ओर न ब्रह्म की भाँति कूटस्थ नित्य। जब तक हमें परम सत्ता का ज्ञान नहीं हो जाता जगत् और जागतिक वस्तुयें सत्य प्रतीत होती हैं। परन्तु निरपेक्ष सत्ता का ज्ञान होते ही जागतिक वस्तुओं का बाध हो जाता है। आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान हो जाने पर यह जगत् और नाना जागतिक सम्बन्धों का जाल मिथ्या हो जाता है फिर व्यक्ति इनमें मोहित नहीं होता।

विवेक चूड़ामणि के अनुसार गौ अपने गले में पड़ी हुई माला के रहने अथवा गिरने की ओर जैसे कुछ भी ध्यान नहीं देती, इसी प्रकार प्रारब्ध की डोरी में पिरोया हुआ यह शरीर रहे अथवा जाय। जिसकी चित्तवृत्ति आनन्द स्वरूप ब्रह्म में लीन हो गई है, वह तत्त्ववेत्ता फिर इसकी ओर नहीं देखता।〈91〉

परम सत्ता (ब्रह्म) और उसमें नानात्व की स्थिति पर विचार करते हुए ईशोपनिषद् मे कहा गया है " हिरण्यमय पात्र जो कि स्वर्ण के समान चाकचिक्य वाला है, जो कि आपात् रमणीय है, ऐसे पात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है। सत्य हमारे लिए आवृत्त है। यह अविद्या का आवरण है। अविद्या के आवरण से सत्य का मुख ढका हुआ है जिसके कारण सत्य हमारे सामने अप्रकट सा हो रहा है।〈92〉 माध्यमिक शून्यवाद में आचार्य नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित सत्ता विषयक् मत, आचार्य शंकर के सत्ता विषयक् मत से मिलता है। माध्यमिक शून्यवाद में आचार्य नागार्जुन स्वमत को प्रकट करते हुए कहते हैं - दो प्रकार के सत्य है - एक संवृत्ति सत्य - यह साधारण मनुष्यों के लिये है। दूसरा पारमार्थिक सत्य।〈93〉 जगत् के स्वरूप के सम्बन्ध में पाश्चात्य दार्शनिक एफ0 एच0 ब्रेडले का मत भी कुछ इसी प्रकार है " मैं इस प्रकार स्पष्ट करूँगा कि जगत् जिसका हमें इस रूप में ज्ञान है आत्म बाधित है और अतः यह आभासमात्र है, सत् नहीं है।〈94〉

आचार्य शंकर का विचार है कि जिस प्रकार जाग्रतावस्था के अनुभव से स्वप्नावस्था की अनुभूतियों का बाध हो जाता है उसी प्रकार विश्व की अनुभूतियों का खण्डन मोक्ष प्राप्त करने के बाद आपसे आप हो जाता है।

एफ0 एच0 ब्रेडले का भी यही विचार है " जब तक हमें आभास का ज्ञान होगा, सत् का ज्ञान नहीं हो सकता और जब हमें सत् का ज्ञान प्राप्त हो जायेगा, आभास का पृथक् अस्तित्व समाप्त हो जायेगा।〈95〉 एक दूसरे दृष्टिकोण से जगत् की व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर जगत् को ही ब्रह्म मान बैठते है। चूंकि ब्रह्म की यथार्थता जगत् का आधार है अत. विश्व ब्रह्म पर आश्रित होने के कारण वस्तुतः ब्रह्म ही है। जिस प्रकार मिट्टीके घड़े का आधार मिट्टी होने के कारण मिट्टी का घड़ा सत्य माना जाता है उसी प्रकार विश्व का आधार ब्रह्म होने के कारण विश्व को असत्य मानना गलत है।

वस्तुतः एकमात्र ब्रह्म की ही निरपेक्ष सत्ता है। यही मन्तव्य जयशंकर प्रसाद का भी है -

" ऊपर हिम था नीचे जल था एक तरल था एक सघन 〈96〉
एक तत्व की ही प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन ।।"

माया और अविद्या सम्बन्धी विचार

शंकराचार्य के दर्शन में माया, अविद्या, अध्यास, अध्यारोप, भ्रान्ति, विवर्त, भ्रम, नामरूप, अव्यक्त, मूल प्रकृति आदि शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त प्रतीत होते हैं परन्तु इस सन्दर्भ में विद्वानों मे मतभेद है। जहाँ एक तरफ थीबो यह मानते प्रतीत होते हैं कि शंकर के दर्शन में माया और अविद्या शब्द एक दूसरे के स्थान में प्रयुक्त हो सकते हैं (97) वही दूसरी तरफ कर्नल जैकब स्पष्ट रूप से कहते हैं कि शंकर सिद्धान्त में माया शब्द का अविद्या के अर्थ में कहीं प्रयोग नहीं किया गया है। (98) माया और अविद्या के सम्बन्ध मे ऐसा ही मतभेद शंकर के अनुयायियों में भी दृष्टिगत होताहै। संक्षेप शरीरकम् के लेखक श्री सर्वज्ञ मुनि, सिद्धान्तमुक्तावली के लेखक श्री प्रकाशानन्द और विवरणप्रमेय संग्रह के लेखक श्री विद्यारण्य माया, अविद्या और अज्ञान में कोई भेद नहीं मानते। किन्तु पञ्चदशी, प्रकृतार्थ विवरण और कुछ अन्य ग्रन्थों मे इन दोनों के बीच कुछ भेद अवश्य किया गया है। प्रकृतार्थ विवरण में माया को अनादि, अनिर्वचनीय और सभी का कारण माना गया है। यह माया एक अनन्त विश्व चेतना के साथ सम्बद्ध है। अविद्या इस विश्वमाया की एक सीमित इकाई है। पञ्चदशी में भी माया को ईश्वर की उपाधि माना गया है और अविद्या को ससीम जीव की उपाधि। (99)

जहाँ तक आचार्य शंकर का मत है उनके दर्शन मे माया और अविद्या मे स्पष्टतया भेद कहीं नहीं दिखलाई पड़ता है। कही-कहीं तो उन्होंने माया के कार्यों या विश्व के पदार्थों को अविद्यात्मक या अविद्यारोपित भी कहा है। किन्तु यह भी निश्चित है कि शंकर ने अविद्या को ईश्वर की उपाधि कभी नही कहा है। उन्होंने ईश्वर को ' मायिन. ' तो प्रायः कहा है परन्तु ईश्वर को अविद्यावान कभी नहीं कहा है इसके विपरीत ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्ववित् आदि नामों से अवश्य अभिहित किया है।

उपरोक्त उदाहरणों के आलोक में यह स्वीकार किया जा सकता है कि आचार्य शंकर के दर्शन में माया और अविद्या दोनों शब्द समानार्थी नहीं प्रयुक्त हुए हैं। जिन प्रसंगों में शंकर ने माया शब्द का प्रयोग किया है उनमे यदि माया के स्थान पर अविद्या शब्द का प्रयोग कर दिया जाये तो सम्पूर्ण अर्थ का अनर्थ हो जायेगा। ईश्वर अथवा जगन्नियन्ता को अविद्या का विषय नहीं कहा जा सकता है क्योंकि विश्व की रचना और उसका पालन करने के लिए ईश्वर को अतिशय ज्ञान सम्पन्न होना चाहिए। अविद्या की तो बात ही क्या। जो व्यक्ति किसी वस्तु की रचना करता है तो ज्ञान के द्वारा ही करता है अज्ञान के द्वारा नही। दूसरी तरफ आचार्य शंकर का कहना है कि ईश्वर अपनी माया से उसी प्रकार प्रभावित नहीं

होता है जैसे - जादूगर स्वयं अपनी जादू से। परन्तु अविद्या के सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं होती। अविद्याग्रस्त व्यक्ति (जीव) के विषय में यह नहीं कहा जा सकता है कि वह व्यक्ति अपनी अविद्या से अप्रभावित है। इस विश्लेषण के उपरान्त प्रश्न यह पैदा होता है कि यदि विश्व वास्तव में ईश्वर की रहस्यमयी माया की उत्पत्ति है और उस माया को अविद्या नहीं कहा जा सकता तथा यह विश्व हमारी कल्पना की रचना कदापि नहीं है तो इसे अविद्यात्मक कहने का क्या तात्पर्य है?

उपर्युक्त प्रश्न का समाधान करते हुए डॉ० रामस्वरूप सिंह " नौलखा " अपनी पुस्तक " आचार्य शंकर : ब्रह्मवाद " में कहते हैं - शंकर की रचनाओं में इस प्रश्न का उत्तर खोजने में हमें उनके व्यावहारिक और पारमार्थिक दृष्टिकोणों को ध्यान में रखना चाहिए। शंकर ने केवल पारमार्थिक दृष्टि से ही विश्व या माया को असत् कहा है। व्यावहारिक दृष्टि से यह संसार शंकर के लिए उतना ही सत्य है जितना हमारे लिए। अतः केवल पारमार्थिक दृष्टि से शंकर ने संसार को अविद्यात्मक कहा है। व्यावहारिक दृष्टि से तो वह ईश्वर की रहस्यमयी शक्ति माया का ही कार्य है। इस प्रकार से व्याख्या करने पर शंकर के सिद्धान्त में प्रतीत होने वाली असंगति दूर हो जाती है। निष्कर्ष यह है कि शंकर के दर्शन में माया का अर्थ अविद्या के ज्ञान मीमांसीय अर्थ में नहीं है। शंकर जब माया के कार्यों को अविद्या की उत्पत्ति कहते हैं तब या तो अविद्या शब्द को विद्या अथवा ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु के अर्थ में लिया है या उसे गलत ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त किया है। उसका अर्थ न तो ज्ञान का अभाव है और न मिथ्यात्व। यदि माया को त्रुटिपूर्ण ज्ञान माना गया है तो केवल इसी अर्थ में कि उसके कारण व्यक्ति संसार के बंधन में नहीं पड़ता है।[100]

माया और अविद्या के सम्बन्ध में विचार करते हुए ' सर्वदर्शन संग्रह ' के भाष्यकार डॉ० उमाशंकर शर्मा ' ऋषि ' का मन्तव्य है; प्रश्नोत्तर शैली में डॉ० शर्मा लिखते हैं - प्रश्न है कि माया और अविद्या में भेद जागृत है क्योंकि उनमें माया तो अपने आश्रय (कर्ता, द्रष्टा) को व्यामोह (भ्रम) में नहीं डालती (कर्ता की इच्छा का अनुसरण करती है, उल्लंघन नहीं)। दूसरी ओर अविद्या उससे भिन्न है। (सीपी - चाँदी में चाँदी का उपादान कारण अविद्या है क्यों कि चाँदी देखने वाले की भ्रान्ति के कारण व्यामोह तो है ही। द्रष्टा की इच्छा से वह नहीं चलती क्योंकि द्रष्टा की इच्छा रहे या न रहे - अविद्या से चाँदी की प्रतीति तो हो ही जायेगी) इसलिए आरोप्य वस्तु (चाँदी) को आप अविद्यामय कहें, मायामय कहना असंगत है। यहाँ पर आश्रय शब्द के अर्थ पर विचार कर लेना समीचीन है। (माया के परिणाम स्वरूप वृक्ष, पशु आदि को) जो देखता है वह मायाश्रय है या जो माया का निर्माण कता है वह मायाश्रय है?

द्रष्टा तो माया का आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि (तांत्रिक लोगों द्वारा प्रयुक्त) मन्त्रों का औषधियों के योग से बनी माया (हाथी, घोड़ा, रूपये की वर्षा आदि इन्द्रजाल) को देखने वाला व्यक्ति व्यामोह में पड़ जाता है। कर्ता भी माया का आश्रय नहीं बन सकता क्योंकि विष्णु भगवान (जो माया के कर्ता हैं) अपने ही आश्रय में रहने वाली माया के द्वारा मोहित हुए थे (व्यामोह मे पड़े थे) इसलिए (अपने ऊपर आश्रित व्यामोह के अभाव में ही कोई) मायावी (माया) का रचयिता होगा, ऐसी बात नहीं है। (माया का निर्माता होने पर भी व्यामोह में कोई पड़ सकता है) तात्पर्य यह है कि माया के कर्ता और द्रष्टा दोनों को व्यामोह होता है। इसलिए जिस प्रकार अविद्या व्यामोह उत्पन्न करती है माया भी व्यामोह उत्पन्न करती है। दोनों में इस दृष्टि से कोई भेद नहीं है।

(व्यामोह के अभाव के) प्रयोजक दो हैं - (माया या अविद्या का द्रष्टा या प्रयोक्ता जो भी हो) वह बाध का निश्चय कर सके तथा मन्त्र आदि का प्रतीकार यदि ऐसा नहीं हुआ तो अन्धे या लंगड़े की तरह माया के निर्माता को भी व्यामोह हो जायेगा। (अन्धा या लंगड़ा अपने अंग से रहित होने के कारण अपना काम नहीं कर सकता, अंधा देख नहीं सकता, लंगड़ा चल नहीं सकता) वैसे ही मायाकार भी बाध निश्चय करने में असमर्थ होने से अपना कार्य - ' व्यामोह निवारण ' नहीं कर सकता। जैसे द्रष्टा मोहित होता है कर्ता भी मोहित हो जायेगा। हाँ, उन दोनों में इतना अन्तर अवश्य है कि द्रष्टा को (माया का प्रपञ्च देखकर मोहित होने वाले को) व्यामोह नाश का अवसर कभी-कभी मिलता है, कर्ता को प्रायः मिलता रहता है। रामावतार में व्यामोह का कारण था, प्रतिकार का ज्ञान न होना - किसी प्रकार सिद्ध कर ले। माया प्रयोक्ता या इन्द्रजाल दिखाने वाला प्रतीकार भी जानता है। अतः मोहित नहीं होता। ब्रह्म भी माया का रचयिता है - प्रतीकार ज्ञान होने से स्वय प्रभावित नहीं होता। फल यह हुआ कि माया और अविद्या दोनों में व्यामोह होता है। प्रतीकार जानने वाले न तो अविद्या से मोहित होते हैं, न माया से। अत. व्यामोह के दृष्टिकोण से माया और अविद्या में भेद नहीं है, साम्य ही है।

यदि यहाँ पर यह प्रश्न किया जाय कि माया और अविद्या में भेद इसलिये है कि माया कर्ता की इच्छा का अनुसरण करती है और अविद्या उसका अनुसरण नहीं करती। जिस प्रकार माया के स्थानों मे मणि, मन्त्र औषधि आदि का प्रयोग (स्वतन्त्र रूप में) होता है वैसे ही अविद्या के स्थानों में भी दो चन्द्रमा के भ्रम या केश के भ्रम या मकड़जाल होने के भ्रम के कारण रूप में अँगुली से आँखों को स्तब्ध करना आदि हम पाते हैं, जिसे कर्ता अपनी इच्छानुसार करता है।

(अँगुली यदि आँखों के नीचे के भाग में घुसा दी जाये तो हमे एक ही जगह दो चीजें दिखलाई देने लगेंगी - यहाँ हम देखते हैं कि कर्ता अपनी इच्छा से ही तो अविद्या उत्पन्न कर रहा है। फिर यह कैसे कहते हैं कि माया ही इच्छा से उत्पन्न की जाती है अविद्या नहीं) इसीलिए श्रुति, स्मृति तथा भाष्यग्रन्थों में जहाँ-तहाँ माया और अविद्या को अभिन्न मानते हुए व्यवहार किया गया है। कही - कहीं माया में और अविद्या के भेद को आलोचक इसलिए समझता है कि माया से वह ऐन्द्रजालिकों का इन्द्रजाल समझता है और अविद्या से सीपी - चाँदी का भ्रम। शंकर दोनों को एकरूप ही मानते हैं। विक्षेप की प्रधानता के कारण या अविद्या मे आवरण की प्रमुखता देखकर, माया और अविद्या में जो भेद करते हैं। उससे इस व्यवहार का भेद नहीं होता (बात यह है कि अज्ञान की दो शक्तियाँ है - आवरण और विक्षेप) सीपी-चाँदी के दृष्टांत में आवरण शक्ति सीपी के स्वरूप को ढक लेती है, विक्षेप शक्ति उसे चाँदी के रूप मे विकृत कर देती है। यह तो साधारण अज्ञान की बात है अनादि, अज्ञान के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का सत् होने पर भी आवरण कर दिया जाता है और जगत् का प्रदर्शन असत् (परमार्थत नहीं तो मिथ्या) होने पर भी किया जाता है। अविद्या - आवरण प्रधान, माया - विक्षेप प्रधान। यह केवल लोक प्रसिद्ध की बात है। वास्तव मे दोनों एक है। इसे कहा गया है - विक्षेप शक्ति से युक्त अज्ञान जो ईश्वर की इच्छा के अधीन है, वह माया है। जो अज्ञानतत्त्व को ढक दे (आवरण शक्ति से युक्त हो) अथवा स्वतन्त्रता की अपेक्षा करे वह अविद्या है।《101》

माया की विशेषतायें :-

शंकर माया को सर्वशक्तिमान ईश्वर की रहस्यात्मिका शक्ति स्वीकार करते है। अपनी इसी अनिर्वचनीय दिव्य शक्ति के द्वारा वह नामरूपात्मक जगत् की सृष्टि करता है। विवेक-चूड़ामणि मे आचार्य शंकर माया का निरूपण करते हुए कहते हैं कि जो अव्यक्त नाम वाली त्रिगुणात्मिका, अनादि, अविद्या परमेश्वर की पराशक्ति है, वही माया है। जिससे वह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है। बुद्धिमान जन इसके कार्य से ही इसका अनुमान करते हैं।《102》 यह त्रिगुणात्मिका माया सम्पूर्ण संसार की बीज है।《103》 तीन गुणों वाली माया ईश्वर की अपनी शक्ति है और वही संसार की सब वस्तुओं की मूलस्त्रोत है।《104》 माया विवर्त मात्र है। माया ब्रह्म का विवर्त है जो व्यावहारिक जगत् मे दीख पड़ता है। चैतन्य जब अविद्या (माया) के द्वारा विषयीकृत होता है तब हम सोचते है कि एक ऐसा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान चैतन्य है जो इस सृष्टि को बनाता है।《105》 माया अध्यास रूप है। यह अपनी आवरण और विक्षेप शक्ति के द्वारा ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप पर पर्दा डाल देती है और उसे जगत् के रूप मे आभासित कराती है। विवेक चूड़ामणि में आचार्य शंकर माया की इन दोनों शक्तियों (आवरण और विक्षेप) को पुरुष के बन्धन का हेतु मानते हुए कहते है-

इन दोनों (आवरण और विक्षेप) शक्तियों से ही पुरुष को बन्धन की प्राप्ति हुई है और इन्हीं से मोहित होकर यह देह को आत्मामानकर संसार - चक्र मे भ्रमता रहता है।{106}

माया सत् नहीं है क्यों कि ब्रह्म से भिन्न उसकी कोई सत्ता नहीं है। वह असत् भी नहीं है क्योंकि वह नामरूपात्मक जगत् को उपस्थित करता है। उसे सत् और असत् दोनों नही कहा जा सकता क्योंकि ऐसा कहना स्वत व्याघात है। अत माया अनिर्वचनीय है। " वह न सत् है, न असत् है और न (सदसत्) उभय रूप है, न अगसहित है, न अंगरहित है और न (सांगानंग) उभयात्मिका ही है किन्तु अत्यन्त अद्भुत और अनिर्वचनीय रूपा (जो कही न जा सके ऐसी) है। " {107}

ब्रह्म माया का आश्रय है। माया ब्रह्म को छोड़कर अन्यत्र नहीं रह सकती है जिस प्रकार शक्ति शक्तिवान से अभिन्न होती है वैसे ही माया ईश्वर की शक्ति होने के कारण उनसे अभिन्न है।{108} माया भौतिक और अस्थाई है। माया ने कब से जीव को ग्रस्त किया है इस सम्बन्ध मे इदमित्थ कहना शक्य नहीं है। अर्थात् यह अनादि है। परन्तु तथापि विज्ञान निरस्य होने के कारण सान्त है। माया भावरूप है। वास्तव मे माया के दो पक्ष हैं - निषेधात्मक और भावात्मक। निषेधात्मक पक्ष में वह सत्य का आवरण है क्योंकि वह उस पर पर्दा डालता है। भावात्मक पक्ष मे वह ब्रह्म के विक्षेप के रूप मे जगत् की सृष्टि करती है। यह अज्ञान और मिथ्या दोनों है। {109}

सृष्टि विचार -

आचार्य शकर का मन्तव्य है कि ईश्वर अपनी रचनात्मिका शक्ति माया के द्वारा सम्पूर्ण जगत् प्रपञ्च की रचना करता है। सृष्टि कार्य के पीछे ईश्वर का कोई प्रयोजन नहीं है बल्कि उसका यह कार्य लीला मात्र ही है। शारीरक भाष्य में ईश्वर की इस लीला का कवित्वमय वर्णन मिलता है - ' एक दिन ईश्वर एकान्त मे बैठा और कविता करने का संकल्प करके उसने कहा कि अनन्त गगन है। वायु स्पन्दित हो रही है, तेज प्रकाशित हो रहा है, जल रसमय हो रहा है। पृथ्वी धारण कर रही है ...। जो-जो भाव आया, जो-जो शब्द उसके मुँह से निकला, वही-वही बनता गया। यह सृष्टि ही उसकी कविता बन गई ।{110} सृष्टि की विपरीत क्रिया को प्रलय कहा जाता है। जगत् ईश्वर से उत्पन्न होता है और उसी मे विलीन हो जाता है। वस्तुत सृष्टि व्यावहारिक रूप से ही सत्य है पारमार्थिक रूप से नहीं। सृष्टि की रचना स्वप्नवत् बतलाई गयी है। संसार में जो द्वैतया नानात्व है वह मायाजन्य है, परमार्थत. केवल अद्वैत ही एकमात्र सत्य है।{111}

यहाँ पर एक प्रश्न यह पैदा होता है कि आध्यात्मिक या चेतन ईश्वर द्वारा भौतिक (जड़) जगत् का निर्माण कैसे होता है? समस्या का समाधान करते हुए आचार्य शंकर कहते है - जिस प्रकार चेतन जीव - मनुष्य से, अचेतन वस्तुओं - नाखून और केश का निर्माण होता है। गाय के गोबर जैसे अचेतन पदार्थ से बिच्छू जैसे चेतन कीड़ो की उत्पत्ति होती है उसी तरह से पूर्ण चैतन्य ईश्वर से अचेतन जड़ जगत की उत्पत्ति होती है।

वस्तुत विश्व न तो किसी व्यक्ति विशेष के मनस् की काल्पनिक रचना है, न अचेतन प्रकृति का विकास और न बुद्धिहीन परमाणुओं का परिणाम ही है। यह विश्व एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान परमात्मा के सचेतन संकल्प की अभिव्यक्ति है। उसे इसकी रचना के लिए किसी उपादान, उपकरण अथवा सहायता की आवश्यकता नहीं होती।(12) कर्मफल नियन्ता होने के कारण ईश्वर जीवों का निर्माण उनके पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार करता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में ईश्वर को कर्माध्यक्ष की संज्ञा दी गयी है। ईश्वर से विभिन्न वस्तुओं की सृष्टि का क्रम अधोलिखित है.-

सर्वप्रथम ईश्वर से पाँच सूक्ष्म भूतों का आविर्भाव होता है। आकाश, माया से उत्पन्न होता है। वायु, आकाश से उत्पन्न होता है। अग्नि, वायु से उत्पन्न होती है, जल, अग्नि से उत्पन्न होता है। इस प्रकार आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से सूक्ष्मभूतों का निर्माण होता है। पाँच स्थूल भूतों का निर्माण, पाँच सूक्ष्म भूतों का पाँच प्रकार के संयोग होने के फलस्वरूप होता है। पञ्चीकृत स्थूलभूतों से नाना प्रकार के शरीर धारियों की उत्पत्ति होती है। ' विवेक चूड़ामणि ' में उल्लिखित है ' पञ्चीकृत स्थूल भूतों से पूर्व - कर्मानुसार उत्पन्न हुआ यह शरीर आत्मा का स्थूल भोगायतन है, इसकी (प्रतीति की) अवस्था जाग्रत है, जिसमे कि स्थूल पदार्थों का अनुभव होता है।(13) सूक्ष्म भूतों से स्थूल भूतों की उत्पत्ति की प्रक्रिया इस प्रकार है ' जिस सूक्ष्म भूत को स्थूल भूत मे परिवर्तित होना है उसका आधाभाग (1/2) तथा अन्य चार सूक्ष्म तत्वों के आठवें हिस्से (1/8) के सयोजन से पाँच स्थूल भूतों का निर्माण होता है। पाँच सूक्ष्म भूतों से पाँच स्थूल भूतों का आविर्भाव निम्नवत् ढंग से सुस्पष्ट किया जा सकता है -

स्थूल आकाश = 1/2 आकाश + 1/8 वायु + 1/8 अग्नि + 1/8 जल + 1/8 पृथ्वी

स्थूल वायु = 1/2 वायु + 1/8 आकाश + 1/8 अग्नि + 1/8 जल + 1/8 पृथ्वी

स्थूल अग्नि = 1/2 अग्नि + 1/8 आकाश + 1/8 वायु + 1/8 जल + 1/8 पृथ्वी

स्थूल जल = 1/2 जल + 1/8 आकाश + 1/8 वायु + 1/8 अग्नि + 1/8 पृथ्वी

स्थूल पृथ्वी = 1/2 पृथ्वी + 1/8 आकाश + 1/8 वायु + 1/8 अग्नि + 1/8 जल - इस सम्पूर्ण क्रिया को पञ्चीकरण कहा जाता है। प्रलय का क्रम सृष्टि के क्रम के प्रतिकूल है। प्रलय के समय पृथ्वी का जल मे, जल का अग्नि में, अग्नि का वायु में, वायु का आकाश में तथा आकाश का ईश्वर की माया में लय हो जाता है।

बन्धन और मोक्ष सम्बन्धी विचार

यद्यपि आत्मा नित्यबुद्ध शुद्ध चैतन्य है तथापि अविद्याग्रस्त हो जाने के कारण शरीर से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेती है। ऐसी स्थिति मे आत्मा शरीर से पार्थक्य ज्ञान के अभाव में उसी प्रकार शरीर के सुख, दुःख को अपना सुख, दुःख समझने लगती है, जिस प्रकार पिता अपनी प्रिय संतान की सफलता और असफलता को अपनी सफलता और असफलता समझने लगता है। यही बन्धन है। आचार्य शंकर ' विवेक चूड़ामणि ' मे इस अविद्याजन्य देहात्म भाव (बन्धन) का विविध प्रकार से वर्णन करते हुए कहते हैं ' जो अनादि अविद्याकृत बन्धन को छुड़ाना रूप अपना कर्तव्य त्याग प्रतिक्षण इस परार्थ (अन्य के भोग्यरूप) देह के पोषण में लगा रहता है, वह (अपनी इस प्रवृत्ति से) स्वयं अपना घात करता है।[।।4] जो शरीर पोषण में लगा रहकर आत्मतत्त्व को देखना चाहता है वह मानो काष्ठ बुद्धि से ग्राह को पकड़कर नदी पार करना चाहता है।[।।5] शरीरादि में मोह रखना ही मुमुक्षु की बड़ी भारी मौत है। जिसने मोह को जीता है वही मुक्ति पद का अधिकारी है।[।।6]

अविद्या वस्तुतः हमारे समस्त दुःखों की मूल है। दुनिया के जितने दु ख है उनका बीज है अविद्या। ना समझो, अपने आत्मा के ब्रह्म रूप की अविद्या जैसे- आम के पेड़ के पत्ते, फूल, फल, तनें, शाखायें सब उसके बीज में से ही निकलते हैं, उसी प्रकार ससार के सारे दुःखों का बीज है अविद्या। जब कभी आप दुःखी हो रहे हैं तब कहीं न कहीं नासमझी आपके जीवन में रही होती है।[।।7] अविद्या के कारण जीवात्मा ने, जो बाह्य वस्तुओं के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लिया है। इसके कारण उसे अपने स्वरूप के विषय में भ्रम उत्पन्न हो गया है। कुछ लोग शरीर के साथ आत्मा का तादात्म्य स्थापित करते हैं। कुछ लोग इन्द्रियों के साथ, तथा कुछ मन अथवा मन के विज्ञानों के साथ आत्मा का तादात्म्य स्थापित करते है। वस्तुत आत्मा इन सबका साक्षीमात्र है।[।।8]

अविद्याग्रस्त होकर जीव असत् शरीर को सत् समझता हुआ विविध प्रकार से उसके पालन - पोषण में लगा रहता है और नाना प्रकार के कष्ट भोगता रहता है। आचार्य शंकर विवेक चूड़ामणि में इस स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं ' पुरुष का अनात्म - वस्तुओं मे 'अहम्' इस आत्म-बुद्धि का होना ही जन्म - मरण रूपी क्लेशों की प्राप्ति कराने वाला अज्ञान से प्राप्त हुआ बन्धन है जिसके कारण यह जीव इस असत् शरीर को सत्य समझकर इसमें आत्मबुद्धि हो जाने से, तन्तुओं से रेशम के कीड़े के समान, इसका विषयों द्वारा पोषण, मर्जन और रक्षण करता रहता है।' [।।9]

वास्तव में समस्त कर्म प्रकृति और उसकी शक्तियों द्वारा ही कराये जाते हैं। परन्तु देहाभिमानी पुरुष अविद्यावश प्रकृति के र्मों को अपने में मानता हुआ सभी प्रकार के सुखों और दु खों का भागी होता है।॥20॥ अविद्या के नाश के साथ ही साथ जीव के पूर्व सञ्चित कर्मों का प्रहाण हो जाता है और इस प्रकारखहदु.खों से छुटकारा पा जाता है।

इस प्रकार मोक्ष का अर्थ अविद्या को दूर करना है। अविद्या की निवृत्ति ही मोक्ष है।॥21॥ मोक्ष और अविद्या निवृत्ति एक ही है।

यहाँ पर प्रश्न यह पैदा होता है कि अविद्या–निवृत्ति या मोक्ष का साधन क्या है? ज्ञान के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है क्योंकि अज्ञान ही बन्धन का कारण है। ' जिस प्रकार किसी दुर्दिन मे (जिस दिन आँधी, मेघ आदि का विशेष उत्पात हो) सघन मेघों के द्वारा सूर्य देव के आच्छादित होने पर अतिभयकर और ठंढ़ी - ठढ़ी आँधी सबको खिन्न कर देती है, उसी प्रकार बुद्धि के निरन्तर तमोगुण से आवृत्त होने पर मूढ़ पुरुष को विक्षेप शक्ति नाना प्रकार के दु:खों से सन्तप्त करती है।' ॥22॥

इस अज्ञान जन्य बन्धन का नाश ज्ञान से ही हो सकता है। कर्म और भक्ति ज्ञान-प्राप्ति मे भले ही सहायक हो वे मोक्ष की प्राप्ति मे सहायक नहीं हो सकते। ज्ञानोत्तर भक्ति असंभव है। आचार्य शकर स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं ' भले ही कोई शास्त्रों की व्याख्या करे, देवताओं का भजन करे, नाना शुभ कर्म करे अथवा देवताओं को भजे, तथापि जब तक ब्रह्म और आत्मा की एकता का बोध नहीं होता तब तक सौ ब्रह्माओं के बीत जाने पर भी (अर्थात सौ कल्प मे भी) मुक्ति नहीं हो सकती।॥23॥ शुभकर्मों से केवल चित्त निर्मल होता है जिससे ज्ञान-प्राप्ति में सहायता मिलती है। परन्तु मात्र कर्म से ही मोक्ष प्राप्ति संभव नही है। क्योंकि कर्म तो पुरुष तन्त्र होता है। विवेक चूड़ामणि में आचार्य शंकर नाना प्रकार से ज्ञान की श्रेष्ठता का प्रतिवादन करते हुये उसे ही एकमात्र मुक्ति का मार्ग स्वीकार करते हैं - कर्म चित्त की शुद्धि के लिये ही है, वस्तुपलब्धि (तत्व दृष्टि) के लिये नही। वस्तु - सिद्धि तो विचार से ही होती है, करोड़ों कर्मों से कुछ भी नहीं हो सकता। मोक्ष न योग से सिद्ध होता है, न सांख्य से, न कर्म से और न विद्या से। वह केवल ब्रह्मात्मैक्य - बोध (ब्रह्म और आत्मा की एकता के ज्ञान) से ही होता है और किसी प्रकार नहीं।॥24॥ अज्ञान रूपी सर्प से डँसे हुए को ब्रह्म ज्ञानरूपी औषधि के बिना वेद से, शास्त्र से, मन्त्र से और औषध से क्या लाभ?॥25॥

क्या आप यह मानते हैं कि ज्ञान और योगाभ्यास, अथवा ज्ञान और उपासना, अथवा ज्ञान और धर्म के समुच्चय से दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति होगी? वेद कहता है; नहीं, केवल ज्ञान से ही तुम मृत्यु को तर जाओगे इसके अतिरिक्त कोई अन्य रास्ता ही नहीं है।॥26॥

कर्म से निष्पन्न होने वाला कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है। अतः कर्म से या ज्ञान-कर्म-समुच्चय से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि मोक्षावस्था नित्य है। परन्तु ज्ञान की प्राप्ति सुकर नहीं है इसके लिए साधक में कुछ योग्यताओं का होना नितान्त आवश्यक है। अर्थात अधिकारी मुमुक्ष को ही ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। ' विशेषतः अधिकारी को ही फल-सिद्धि होती है, देश, काल आदि उपाय भी उसमें सहायक अवश्य होते हैं।॥27॥ मुमुक्षत्व के लिए साधन-चतुष्टय की सिद्धि अत्यन्त आवश्यक होती है। बिना उस योग्यता के ज्ञान की प्राप्ति संभव ही नहीं है। ये चारों साधन निम्नलिखित हैं :-

आदौ नित्यानित्य वस्तु विवेकः परिगण्यते।

इहामुत्रफलभोग विरागस्तदनन्तरम्।।

शमादिषट्कसम्पत्तिर्मुमुक्षत्वमिति स्फुटम्। ॥28॥

पहला साधन नित्यानित्य - वस्तु - विवेक गिना जाता है। दूसरा लौकिक एवं पार लौकिक सुख-भोग में वैराग्य होना है, तीसरा शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान - ये छः सम्पत्तियाँ है और चौथा मुमुक्षता है।

नित्यानित्यवस्तुविवेक - साधक को नित्य और अनित्य वस्तुओं में भेद करने का विवेक होना चाहिए। 'ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है' ऐसा जो निश्चय है यही, ' नित्यानित्य - वस्तु - विवेक ' कहलाता है। भौतिक सुख सम्पत्तियाँ और भौतिक सुख संसाधन अनित्य हैं और आत्यन्तिक रूप से दुःखद हैं। अतः साधक को भौतिक सुखों के प्रति मोह/आसक्ति नहीं होना चाहिए। श्रेय और प्रेय मनुष्य के पास आते हैं। बुद्धिमान पुरुष उन दोनों को समझकर अलग-अलग करता है एवं वह प्रेय के समक्ष श्रेय का ही वरण करता है। किन्तु मूढ़ योग और क्षेम के कारण प्रेय का ही वरण करता है।॥29॥

धन के मोह से अन्धे हुए मूढ़ व्यक्ति को परलोक का साधन नहीं सूझता। लौकिक वस्तु और लौकिक जगत् को एकमात्र सत्य मानते हुए बार-बार जन्म-मरण की परंपरा को प्राप्त करता है।॥30॥ अतः मुमुक्षत्व के लिए लौकिक और पारलौकिक, नित्य और अनित्य वस्तुओं में भेद-ज्ञान आवश्यक है।

इहामुत्रार्थभोगविराग - साधक को लौकिक और पारलौकिक भोगों की कामना का सर्वथा परित्याग करना चाहिए। ' दर्शन और श्रवणादि के द्वारा देह से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त सम्पूर्ण अनित्य भोग्य पदार्थों में जो घृणा बुद्धि है वही वैराग्य है। ' ॥31॥

शमदमादि साधन-संपत् :-मुमुक्ष को शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा इन छ साधनों को अपनाना चाहिए। **शम का अर्थ** - मन के संयम से है। ' बारम्बार दोष - दृष्टि करने से विषय-समूह से विरक्त होकर चित्त का अपने लक्ष्य मे स्थिर हो जाना ही शम ' है।॥32॥ **दम से तात्पर्य** - इन्द्रिय नियन्त्रण से है। ' कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों दोनों को उनके विषयों से खींचकर अपने-अपने गोलकों में स्थित करना ' दम ' कहलाता है।॥33॥ **उपरति का अर्थ** - विक्षेपकारी कार्यों से विरत रहना ही उपरति है। वृत्ति का वाह्य विषयों का आश्रय न लेना उपरति है।

सर्दी, गर्मी सहन करने के अभ्यास को **तितिक्षा** कहा जाता है। ' चिन्ता और शोक से रहित होकर बिना कोई प्रतिकार किये सब प्रकार के कष्टों का सहन करना **तितिक्षा** कहलाती है। ' ॥34॥ श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित है -

' जिसने मन, इन्द्रिय आदि के संघात रूप इस शरीर को अपने वश में कर लिया है और जो प्रशान्त है। जिसका अन्तः करण सदा प्रसन्न रहता है। उस संन्यासी को भलीप्रकार से सर्वत्र परमात्मा प्राप्त है। अर्थात - साक्षात् आत्मभाव से विद्यमान है। तथा वह सर्दी, गर्मी और सुख-दुःख में मान और अपमान में यानी पूजा और तिरस्कार में सम हो जाता है।'॥35॥ शास्त्र और गुरूवाक्यों में सत्यत्व बुद्धि करना - इसी को सज्जनों ने **श्रद्धा** कहा है। जिससे कि वस्तु की प्राप्ति होती है।

समाधान से तात्पर्य - चित्त को ज्ञान के साधन में लगाना है। अपनी बुद्धि को सब प्रकार शुद्ध ब्रह्म में ही सदा स्थिर रखना इसी को '**समाधान**' कहा है। चित्त की इच्छापूर्ति का नाम समाधान नहीं है।

मुमुक्षत्व - साधक को मोक्ष प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प करना चाहिए। ' अहंकार से लेकर देह पर्यन्त जितने अज्ञान-कल्पित बन्धन हैं, उनको अपने स्वरूप के ज्ञान द्वारा त्यागने की इच्छा **मुमुक्षता** है।॥36॥ परन्तु साधन चतुष्टय की सिद्धि मात्र से ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। आचार्य शंकर का विचार है कि उक्त साधन-चतुष्टय से सम्पन्न आत्मतत्व का जिज्ञासु प्राज्ञ (स्थितप्रज्ञ) गुरु के निकट जाय, जिससे उसके भव-बन्ध की निवृत्ति हो। अतः ब्रह्म वेत्ताओं में श्रेष्ठ दयासागर गुरुदेव की शरण में जाकर जिज्ञासु को आत्मतत्त्व का विचार करना चाहिए। गुरु-उपदेश की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए आचार्य शंकर कहते है " (पृथ्वी मे गड़े हुए धन को प्राप्त करने के लिए जैसे) प्रथम किसी विश्वसनीय पुरुष के कथन की और फिर पृथ्वी को खोदने, ककड़-पत्थर आदि को हटाने तथा (प्राप्त हुए धन को) स्वीकार करने की आवश्यकता होती है - कोरी बातों से वह बाहर नहीं निकलता, उसी प्रकार समस्त मायिक प्रपञ्च से शून्य निर्मल आत्मतत्त्व भी ब्रह्मवित् गुरु के उपदेश तथा उसके मनन और निदिध्यासनादि से ही प्राप्त होता है, थोथी बातों से नहीं ॥37॥

गुरु के पास श्रवण, मनन, निदिध्यासन (गुरु के उपदेश को सुनना, उन उपदेशों पर युक्ति पूर्वक विचार करना, उन सत्यों का बारम्बार ध्यान करना) प्रणालियों से गुजरने के बाद उसके पूर्वसञ्चित संस्कार नष्ट हो जाते हैं। जिसके फलस्वरूप ब्रह्म की सत्यता में उसे अटल विश्वास हो जाता है। जब साधक उपरोक्त स्थिति को प्राप्त कर लेता है तब गुरु उसे तत्त्वमसि (तू ही ब्रह्म है) की दीक्षा देते हैं। 'तू इस आत्मा को संयम-चित्त होकर बुद्धि के प्रसन्न होने पर 'यह मै हूँ' ऐसा अपने अन्त. करण में साक्षात् अनुभव कर और (इस प्रकार) जन्म-मरणरुपी तरंगों वाले इस अपार संसार-सागर को पार कर तथा ब्रह्म रूप से स्थित होकर कृतार्थ हो जा।'

जब साधक इस तथ्य की अनुभूति करने लगता है। तब वह ब्रह्म का साक्षात्कार पाता है जिसके फलस्वरूप वह कह उठता है 'अहं ब्रह्मास्मि' । जीव और ब्रह्म का भेद समाप्त हो जाता है। समस्त बंधनों का अंत हो जाता है। तब मोक्षानुभूति होने लगती है। जिस प्रकार वर्षा की बूँद सागर मे मिलकर एक हो जाती है उसी प्रकार मोक्षावस्था मे जीव ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है। यहाँ पर प्रश्न यह पैदा होता है कि मुक्ति की यह अनुभूति या यह अवस्था क्या इसी जीवन में संभव है? हाँ। मोक्ष प्राप्ति के बाद प्रारब्ध कर्मों के फल के भोगने तक (शरीर--पात तक) शरीर की मुक्तावस्था को जीवन्मुक्त कहा जाता है। वास्तव में मुक्ति का अर्थ है-संसार से सम्बन्ध विच्छेद (संसारित्व का अभाव) हमारा संसार से सम्बन्ध तभी तक है जब तक हम आत्मा में अनात्मा का और अनात्मा में आत्मा का अध्यास करते हैं। यह अध्यास ही मिथ्या प्रत्यय या अज्ञान है । इसी के कारण हम अपने को शरीर इन्द्रियों आदि से एक करके देखते हैं। उक्त मिथ्या प्रत्यय के हट जाने पर ब्रह्मवेत्ता पुरुष जीते हुए भी, शरीर से संयुक्त रहते हुए भी वास्तव मे अशरीरी होता है।{।38} मोक्षानुभूति प्राप्त करके व्यक्ति सुख और दु:ख के परे हो जाता है।{।39} मोक्ष की यह अवस्था जीवन्मुक्त की अवस्था कहलाती है। प्रारब्ध की समाप्तिपर्यन्त छाया के समान सदैव साथ रहने वाले इस शरीर के वर्तमान रहते हुए भी जीवन्मुक्त व्यक्ति इसमें अहं-ममभाव (मैं-मेरापन) का अभाव हो जाता है।{।40} जीवन्मुक्त व्यक्ति बीती हुई बात को याद नहीं करता। भविष्य की चिंता नही करता और वर्तमान में प्राप्त हुए सुख-दु:खादि में उदासीनता का भाव रखता है।{।41} इष्ट अथवा अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति में समानभाव रखने के कारण दोनों ही अवस्थाओं में जीवन्मुक्त व्यक्ति में कोई विकार नहीं पैदा होता है।{।42} जीवन्मुक्त व्यक्ति के क्रिया-कलापों पर प्रकाश डालते हुए आचार्य शंकर ' विवेक चुड़ामणि ' में लिखते हैं :-

जिसकी प्रज्ञा स्थिर है, जो निरन्तर आत्मानन्द का अनुभव करता है और प्रपञ्च

को भूला सा रहता है वह पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है।॥43॥ जिसकी संसार - वासना शान्त हो गई है, जो कलावान होकर भी कलाहीन है अर्थात् व्यवहारदृष्टि में ऊपर से विकारवान प्रतीत होता हुआ भी जो निरन्तर अपने निर्विकार - स्वरूप में ही स्थित रहता है तथा जो चित्त युक्त होने पर निश्चिंत है, वह पुरुष जीवन्मुक्त माना जाता है।॥44॥ जिसने श्रुतिप्रमाण से अपने आत्मा का ब्रह्मत्व जान लिया है और जो संसार-बंधन से रहित है। वह पुरुष जीवन्मुक्त के लक्षणों से सम्पन्न है।॥45॥ जो अपनी तत्त्वावगाहिनी बुद्धि से आत्मा और ब्रह्म तथा ब्रह्म और संसार में कोई भेद नहीं देखता, वह पुरुष जीवन्मुक्त माना जाता है। समुद्र से मिल जाने पर जैसे नदी का प्रवाह समुद्र रूप हो जाता है वैसे ही दूसरों के द्वारा प्रस्तुत किये विषय आत्मस्वरूप प्रतीत होने से जिसके चित्त में किसी प्रकार का क्षोभ उत्पन्न नहीं करते वह यतिश्रेष्ठ जीवन्मुक्त है।॥46॥

जब जीवन्मुक्त व्यक्ति के सूक्ष्म और स्थूल शरीर का अंत हो जाता है तब ' विदेहमुक्ति ' की प्राप्ति होती है। विदेहमुक्ति मृत्यु के उपरान्त प्राप्त होती है।

संन्यास की प्राचीन अवधारणा-और आचार्य शंकर

भारतीय संस्कृति के अनुसार मानव जीवन का अन्तिम उद्देश्य परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति करना है। एतदर्थ आश्रम व्यवस्था का विधान भारतीय संस्कृति की अनूठी विशेषता है। मोक्ष की प्राप्ति हेतु मानव जीवन मे विभिन्न विश्राम स्थलों की परिकल्पना की गई जिन्हें आश्रमों की संज्ञा से संज्ञापित किया गया। मनुष्य की आयु को सामान्यतया 100 वर्षों की मानकर प्रत्येक आश्रम के लिए 25 वर्ष के समय का विधान किया गया। इस प्रकार जीवन के चार विश्राम स्थल, चार आश्रमों - ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास के रूप में परिकल्पित किये गये।

आश्रम व्यवस्था के अनुसार सामान्य तौर पर व्यक्ति क्रमशः एक-एक आश्रमों को पार करता हुआ अंत में (75 वर्ष की आयु के बाद) संन्यास आश्रम मे प्रवेश करता है। इसके पूर्व वानप्रस्थ आश्रम मे रहकर व्यक्ति संन्यासी जीवन बिताने हेतु स्वयं को तैयार करता है। काम, क्रोध, मद, लोभ, राग-द्वेषादि पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

विष्णु पुराण के अनुसार उत्तरोत्तर (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ) तीनों आश्रमों को पार करने के उपरान्त ही व्यक्ति को चतुर्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिए। ' हे नृप! पण्डितगण जिस चतुर्थ आश्रम को भिक्षु-आश्रम कहते हैं, अब मैं उसके स्वरूप का वर्णन करता हूँ। हे नरेन्द्र! तृतीय आश्रम के अनन्तर पुत्र, द्रव्य और स्त्री आदि के स्नेह को सर्वथा त्यागकर तथा मात्सर्य को छोड़कर चतुर्थ आश्रम में प्रवेश करें। (47) मनुस्मृति में वानप्रस्थ आश्रम के उपरान्त ही संन्यास आश्रम में प्रवेश का विधान किया गया है। इस प्रकार आयु के तीसरे भाग को वनों में विहार करके और आयु के चतुर्थ भाग को विषयों से त्याग कर संन्यास आश्रम का ग्रहण करें। (48) महाभारत काल में भी इसी तरह की सामाजिक व्यवस्था का विधान था -

पंक्तिक्रम में स्थित पूर्वोक्त तीन आश्रम - ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ में चित्त के रागद्वेषादि दोषों को पकाकर उन्हें नष्ट करके शीघ्र ही सर्वोत्तम चतुर्थ आश्रम संन्यास को ग्रहण करें। (49) इस प्रकार वानप्रस्थ की अवधि पूरी कर लेने के बाद जब आयु का चौथा भाग शेष रह जाय, वृद्धावस्था से शरीर दुर्बल हो जाय और रोग सताने लगे तो उस आश्रम का परित्याग करदें (और संन्यास आश्रम ग्रहण कर लें) (50)

परन्तु कभी-कभी असामान्य परिस्थितियों में ब्रह्मचर्य आश्रम से सीधे संन्यास में प्रवेश करने की अनुमति प्रदान की गई है। महाभारत के ' शान्तिपर्व ' में उल्लेख मिलता है -

" प्रजानाथ । जिसने ब्रह्मचर्य का पालन किया है उस ब्रह्मचारी ब्राह्मण के मन में यदि मोक्ष की अभिलाषा जाग उठे तो उसे ब्रह्मचर्य आश्रम से ही सन्यास ग्रहण करने का उन्त्त्म अधिकार प्राप्त हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में आश्रम व्यवस्था का विधान केवल द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिए ही किया गया था। शूद्र इस अधिकार से वंचित थे। उनका कार्य केवल त्रिवर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) की परिचर्या मात्र था। (परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्)।

परन्तु विशिष्ट परिस्थिति में यदि कोई शूद्र (रागद्वेषादि पर विजय प्राप्त करने वाला) राजा की आज्ञा प्राप्त कर लेता था तो उसे भी संन्यास आश्रम को छोड़कर अन्य आश्रम में प्रवेश करने का अधिकार मिल जाता था। महाभारत के शान्तिपर्व के निम्न श्लोक से इस तथ्य की पुष्टि होती है :- **पृथ्वीनाथ।** जो शूद्र तीनों वर्णों की सेवा करके कृतार्थ हो गया है, जिसने पुत्र उत्पन्न कर लिया है। शौच और सदाचार की दृष्टि से जिसमें अन्य त्रैवर्णिकों की अपेक्षा बहुत कम अन्तर रह गया है अथवा जो मनुष्योक्त दश धर्मों के पालन में तत्पर रहा है, वह शूद्र यदि राजा की आज्ञा प्राप्त कर ले तो उसके लिए संन्यास को छोड़कर शेष सभी आश्रम विहित हैं। [52]

संन्यास आश्रम में प्रवेश के पूर्व साधक (मुमुक्षु) को अपनी सारी सम्पत्ति का दान कर देना चाहिए। समस्त भौतिक सुखों और समृद्धियों से बीतराग होकर अनासक्त भाव से जीवन-निर्वाह करना चाहिए। ऐसे अनासक्त, निर्मम संन्यासियों के कृतकर्मों से कर्मफल का बन्धन उसी तरह से नहीं पैदा होता है यथा - भूने हुए बीज के वपन से अंकुर नहीं पैदा होता है। ऐसा मुनि पद्मपाद की भाँति संसार - सरोवर में रहते हुए भी उसके आसक्ति रूप जल से सर्वदा निर्लिप्त रहता है। ऐसे आप्तकाम योगियों को घर-परिवार छोड़कर जंगल में जाकर एकान्त सेवन करना चाहिए। महात्मा मनु की ' मनुस्मृति ' से उपरोक्त तथ्य की पुष्टि होती है:-

द्विज को चाहिए कि वह घर से निकलकर पवित्र दंड-कमंडल साथ में लेकर अनायास मिले हुए पदार्थों में इच्छा त्याग कर संन्यास ग्रहण करें। [53] महाभारत के शान्ति पर्व में वर्णित है- इसमें प्रवेश करने वाले पुरुष अग्निहोत्र, धन, स्त्री आदि परिवार तथा घर की सारी सम्पत्ति का परित्याग करके भोगों और संगों के प्रति अपनी आसक्ति के बंधनों को तोड़कर सदा के लिये घर से बाहर निकल जाते हैं। [54]

विष्णु पुराण में संन्यासी के लक्षणों का निम्नवत् वर्णन मिलता है :-

हे पृथ्वीपते! भिक्षु को उचित है कि अर्थ, धर्म और काम रूप त्रिवर्ग - सम्बन्धी समस्त कर्मों को छोड़ दे, शत्रु-मित्रादि में समान भाव रखे और सभी जीवों का सुहृद हो।{155}

परिव्राजक को चाहिये कि काम, क्रोध तथा दर्प, लोभ और मोह आदि समस्त दुर्गुणों को छोड़कर ममता शून्य होकर रहे। इसी तरह का वर्णन महाभारत में भी मिलता है - संन्यासी ढेले, पत्थर और सुवर्ण को समान समझते हैं। धर्म, अर्थ और काम सम्बन्धी प्रवृत्तियों में उनकी बुद्धि आसक्ति नहीं होती। शत्रु, मित्र और उदासीन सबके प्रति वे समान दृष्टि रखते हैं। संन्यासी को घर-परिवार छोड़कर अरण्य की शान्ति या पर्वत की गुफा में बैठकर परम चिंतन करना चाहिए। महाभारत के शान्तिपर्व में संन्यासी के लिये नाना प्रकार के कर्तव्यों का विधान किया गया है- संन्यासी को चाहिए कि वे चारों ओर विचरते रहें और रात्रि में ठहरने के लिए पर्वत की गुफा, नदी का किनारा, वृक्ष की जड़, देवमन्दिर, नगर या गाँवों में चले जाया करें। नगर में पाँच रात्रि और गाँव में एक रात से अधिक न ठहरें।{156}

विष्णु पुराण के अनुसार - संन्यासी को गाँव में एक रात और पुर में पाँच रात्रि तक रहना चाहिये तथा इतने दिन भी वो इस प्रकार रहें जिससे किसी से प्रेम अथवा द्वेष न हो।{157} प्रारब्ध कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त शरीर से युक्त होते हुए भी संन्यासी जीव-मुक्त होता है। अनासक्त भाव से जीवन बिताता हुआ मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से सर्वथा मुक्त प्राणधारण करने के लिए ही भिक्षावृत्ति को अपनाता है। जिस समय घरों में अग्नि शान्त हो जाय और लोग भोजन कर चुकें उस समय प्राणरक्षा के लिए उत्तम वर्णों में भिक्षा के लिए जाय।

' मनुस्मृति ' में संन्यासी के निम्नलिखित लक्षण बतलाये गये हैं :-

संन्यासी प्राण धारण करने के लिए दिन में एक बार भीख माँगें और विस्तार में न लगे क्योंकि भिक्षा में अधिक मन लगाने से संन्यासी विषय भोग में पड़ जाता है।{158} वह दूसरों के लिये अन्न का संग्रह न करें। चित्त वृत्तियों को एकाग्र करके मौनभाव से रहे। हलका और नियमानुकूल भोजन करे और रात-दिन में एक ही बार भोजन करे। जब घर में रसोई का धूँआ बन्द हो जाय, मूसल का काम पूरा हो जाय, अग्नि बुझ जाय और गृहस्थ के भोजन के बाद जूँठे पात्र फेंक दिये जाँय उस समय संन्यासी भिक्षा के लिए विचरें। आदर पूर्वक भिक्षा पाने की कभी इच्छा न करें क्योंकि मुक्तिकी अवस्था में रहने पर भी सन्यासी को अत्यन्त सत्कार से संसार-बन्धन हो सकता है।

दाढ़ी, मूँछ, नख और बाल कटवाकर दंड, कमडल तथा भिक्षापात्र लेकर और किसी प्राणी को दुःख न देकर इस प्रकार सन्यासी को सदा नियम से विचरना चाहिए।॥59॥ भिक्षापात्र एवं कमण्डल रखे, वृक्ष की जड़ में सोये या निवास करे। जो देखने में सुन्दर न हो ऐसा वस्त्र धारण करे, किसी को साथ न रखे और सब प्राणियों की उपेक्षा कर दे। ये सब संन्यासी के लक्षण हैं।॥60॥ जो किसी भी वस्तु (वस्त्र, वल्कल आदि) से अपना शरीर ढक लेता है। समय पर जो भी रुखा-सूखा मिल जाय उसी से भूख मिटा लेता है और जहाँ कहीं भी सो रहता है उसे देवता ब्रह्मज्ञानी समझते हैं। जो जन समुदाय को सर्प सा समझकर उसके निकट जाने से डरता है। स्वादिष्ट भोजन जनित तृप्ति को नरक सा मानकर उससे दूर रहता है और स्त्रियों को मुर्दे के समान समझकर उनकी ओर से विरक्त होता है उसे देवता ब्रह्मज्ञानी समझते हैं।॥61॥

निंदा-प्रशंसा, मान-अपमान से अप्रभावित संन्यासी हमेशा मोक्ष के चिंतन में डूबा रहता है। परमात्मा के रंग में ही अपने को रंग लेता है। सब प्रकार की आसक्तियों से रहित, समदर्शी जितेन्द्रिय और अहिंसक होता है। जो सम्मान पाने पर हर्षित, अपमानित होने पर कुपित नहीं होता तथा जिसने सम्पूर्ण प्राणियों को अभय दान कर दिया है, उसे ही देवता लोग ब्रह्मज्ञानी समझते हैं। जो मुनि समस्त प्राणियों को अभयदान देकर विचरता है उसको भी किसी से कभी कोई भय नहीं होता। जो सब प्रकार की आसक्तियों से छूटकर मुनि वृत्ति से रहता है, आकाश की भाँति निर्लेप और स्थिर है, किसी भी वस्तु को अपना नहीं समझता, एकाकी विचरता और शान्तिभाव से रहता है उसे देवता ब्रह्मवेत्ता समझते हैं।॥62॥

जो सम्पूर्ण जगत् में अपने चिन्मय स्वरूप से प्रकाशित होता है। तीन धातु (वर्ण अकार, उकार, मकार) अर्थात् प्रणव जिसका वाचक है जो सत्व आदि तीनों गुणों में त्रिगुणमयी माया में उसके नियन्ता रूप में विद्यमान है तथा जिसके जगत् सम्बन्धी व्यापार वृक्ष के सुन्दर पत्तों के समान विस्तार को प्राप्त हुये हैं। उस अन्तर्यामी पुरुष को तथा उसकी उत्तम ब्रह्म स्वरूपता को जो जानते हैं। वे सम्पूर्ण लोकों में सम्मानित होते हैं और मनुष्य सहित देवता उनके शुभ कर्म की प्रशंसा करते हैं। जो पृथ्वी पर रहकर भी उसमें आसक्त नहीं है। अनन्त आकाश में अप्रमेय भाव से स्थित है जो हिरण्यमय (चिन्मय ज्योति स्वरूप) अण्डज, ब्रह्माण्ड के भीतर प्रादुर्भूत और अण्ड-पिण्डात्मक शरीर के मध्य भाग में स्थित हृदय कमल के आसन पर भोग्यात्मा (शरीर) के अन्तर्गत हृदयाकाश में जीवरूप से विद्यमान है। जिनमें अनेक अंग देवता छोटे-छोटे पंखों के समान शोभा पाते हैं तथा जो मोद और प्रमोद नामक दो प्रमुख पंखों से शोभायमान हैं। उस सुवर्णमय पक्षी रूप जीवात्मा एवं ब्रह्म को जो जानता है वह ज्ञान की तेजोमयी किरणों से प्रकाशित होता है।॥63॥

मनुस्मृति में भी ब्रह्मचिंतन को संन्यासी का प्रमुख लक्षण स्वीकार किया गया है -

जो सदा ब्रह्म का ध्यान करे, योगासन से बैठे, सब विषयों से विरक्त रहे (दंड, कमण्डल आदि) किसी बात की इच्छा न करे और केवल आत्म सहाय से ही अर्थात अकेला ही मोक्ष के सुख को चाहने वाला संन्यासी इस संसार में विचरे। (अर्थात् सबका संग और ममता को त्याग दे) ॥64॥

संन्यासी को जीवन-मरण से क्या लेना? वह तो आत्मचिंतन में सर्वदा लीन साक्षी भाव से समय व्यतीत करता जाता है। मनुस्मृति में वर्णित है -

जीवन या मरण की इच्छा न करे परन्तु जैसे - सेवक वेतन के लिए नियत समय की राह देखता है उसी भाँति काल की प्रतीक्षा करे।॥65॥ संन्यासी न तो जीवन का अभिनन्दन करे और न मृत्यु का ही। जैसे सेवक स्वामी के आदेश की प्रतीक्षा करता रहता है उसी प्रकार उसे भी काल की प्रतीक्षा करनी चाहिए। ' जो आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करके एकाकी विचरता रहता है वह सर्वव्यापी होने के कारण न तो स्वयं किसी का त्याग करता है और न दूसरे ही उसका त्याग करते हैं।' ॥66॥

आचार्य शंकर का संन्यास विषयक् मत -

आचार्य शंकर के अनुसार संन्यासी को समस्त प्रकार की कामनाओं, लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा से सर्वथा परे होना चाहिये। काम, क्रोध, मद, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष आदि समस्त आध्यात्मिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त किया हुआ ऐसा व्यक्ति आत्माराम, आत्मक्रीड और स्थितप्रज्ञ संन्यासी है। पंचदशी मे सन्यासी के लक्षण को निम्नवत् ढंग से स्पष्ट किया गया है :-

जिसका मन वासनाओं से पृथक् हो गया है, उसे न तो कर्म करते रहने की अपेक्षा है, न कर्मों का त्याग करने की, फिर उसे समाधि से भी कुछ प्रयोजन नहीं और न जप की ही अपेक्षा रहती है।॥67॥ जो सुखों की प्राप्ति से प्रसन्न नहीं होता है और दुःखों की प्राप्ति से उद्विग्न नहीं होता है। आसक्ति, भय और क्रोध से रहित होता है। तब वह स्थितप्रज्ञ और संन्यासी कहलाता है। जो इष्ट वस्तु की प्राप्ति में हर्ष नहीं मानता, अनिष्ट की प्राप्ति में द्वेष नहीं करता, प्रिय वस्तु का वियोग होने पर शोक नहीं करता और अप्राप्त वस्तु की आकांक्षा नहीं करता, ऐसा जो शुभ और अशुभ कर्मों का त्याग कर देने वाला भक्तिमान पुरुष है वह मेरा प्यारा है।॥68॥ जैसे कछुआ भय के कारण सब ओर से अपने अंगों को संकुचित कर लेता है उसी तरह से संन्यासी व्यक्ति को अपनी इन्द्रियों को सम्पूर्ण विषय-वासनाओं से खींच लेना चाहिये। अर्थात् सम्पूर्ण विषय-वासनाओं से उपरम हुआ व्यक्ति ही संन्यासी कहलाता है।

संन्यासी को नित्य और अनित्य, आत्म और अनात्म वस्तुओं में भेद-ज्ञान होना चाहिये। ऐसा व्यक्ति अनात्म और अनित्य वस्तुओं से मन को हटाकर निरन्तर आत्मचिंतन मे लीन रहता है।

आत्मक्रीड ऐसे संन्यासियों के लक्षण बताते हुए श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य में आचार्य शकर लिखते हैं :- परन्तु जो आत्मज्ञाननिष्ठ सांख्य योगी, केवल आत्मा में ही रतिवाला है अर्थात् जिसका आत्मा में ही प्रेम है, विषयों में नहीं और मनुष्य अर्थात् संन्यासी आत्मा से ही तृप्त है - जिसकी तृप्ति अन्न रसादि के अधीन नहीं रह गई है तथा जो आत्मा में ही संतुष्ट है, बाह्य विषयों के लाभ से तो सबको सन्तोष होता ही है, पर उनकी अपेक्षा न करके जो आत्मा में ही संतुष्ट है अर्थात् सब ओर से तृष्णा - रहित है जो ऐसा आत्मज्ञानी है उसके लिए कुछ भी कर्तव्य नहीं है।।169।

संन्यासी को अपने लिये किसी वस्तु का संग्रह नहीं करना चाहिए और शरीर निर्वाह के लिए ही भिक्षाटन करना चाहिए। श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य में आचार्य लिखते हैं -

जिसने समस्त संग्रह का त्याग कर दिया है। ऐसे संन्यासी के पास शरीर निर्वाह के कारण रूप अन्नादि का संग्रह नहीं होता इसलिए उसकी याचनादि द्वारा शरीर निर्वाह करने की योग्यता प्राप्त हुई। जो बिना माँगे अपने आप मिले हुए पदार्थ से सन्तुष्ट है अर्थात उसी में जिसके मन का यह भाव हो जाता है कि यही पर्याप्त है।।170। जो द्वन्द्वों से अतीत है अर्थात् शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों से सताये जाने पर भी जिसके चित्त में विषाद नहीं होता। जो ईर्ष्या से रहित अर्थात् निर्वैर बुद्धि वाला है और जो अपने आप प्राप्त हुये लाभ की सिद्धि - असिद्धि मे भी सम रहता है। जो ऐसा शरीर स्थिति के हेतु रूप अन्नादि के प्राप्त होने या न होने में भी हर्ष-शोक से रहित समदर्शी है और कर्मादि में अकर्मादि देखने वाला, यथार्थ आत्मदर्शन निष्ठ एवं शरीर स्थिति मात्र के लिए किये जाने वाले और शरीरादि द्वारा होने वाले भिक्षाटनादि कर्मों में भी मैं कुछ नहीं करता 'गुण ही गुणों में बर्त रहे हैं,' इस प्रकार सदा देखने वाला है। वह यति अपने में कर्तापन का अभाव देखने से अर्थात् आत्मा को अकर्ता समझ लेने से वास्तव में भिक्षाटनादि कुछ भी कर्म नहीं करता । जिसके पापादि दोष नष्ट हो गये हैं, जिनके सब संशय क्षीण हो गये हैं, जो जितेन्द्रिय है, जो सब भूतों के हित में अर्थात् अनुकूल आचरण में रत है अर्थात् अहिंसक है। ऐसे ऋषि जन - सम्यक् ज्ञानी - संन्यासी लोग ब्रह्म निर्वाण अर्थात मोक्ष को प्राप्त होते हैं।।171।

प्राचीन आश्रम व्यवस्था के अनुसार व्यक्ति को संन्यास आश्रम में प्रवेश करते समय अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति का दान कर घर/परिवार का परित्याग कर अरण्य सेवन करना चाहिये। परन्तु आचार्य

शकर इस मत से पूर्णतया सहमत नहीं हैं। स्वयं संन्यास ग्रहण करने के उपरान्त भी आचार्यवर अपनी माँ के अंत समय में उनका अंतिम दर्शन करने के लिए, उनकी परिचर्या हेतु उपस्थित हुये थे। आचार्यवर का अभिमत है कि जो व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में रहते हुए भी योगारूढ होने की इच्छा वाला और मननशील है। कर्मफल और आसक्ति को छोड़कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्मयोग में स्थित है वह भी संन्यासी है।[172] समस्त वस्तुओं में अनासक्त भाव रखना अर्थात् उनके त्याग का नाम ही संन्यासहै और जिसमें ये विशेषतायें पायी जाती हैं वह संन्यासी है। संन्यास की पारम्परिक अवधारणा में जैसे सन्यासी को भिक्षाटन करते हुए चौबीस घंटे में केवल एक बार भोजन करने का विधान किया गया है। शांकरमत में भी संन्यासी को बहुत ही परिमित भोजन करने का निर्देश दिया गया है - पेट का आधा भाग अर्थात दो हिस्से तो शाकपात आदि व्यंजनों सहित भोजन से और तीसरा हिस्सा जल से पूर्ण करना चाहिये और चौथा वायु के आने-जाने के लिए खाली रखना चाहिए।[173]

पंचदशी मे भी इसी तरह का वर्णन करते हुए कहा गया है कि -

यदि कोई संन्यासी पुरुष भोग की तृप्ति की इच्छा से भिक्षा माँगने या (गेरुवे) वस्त्र धारण करता है तो फिर उस वैराग्य के भार को लादने वाले वैरागी का यतित्व ही क्या हुआ?[174]

आचार्य शंकर ने संन्यासी की उपरोक्त विशेषताओं का विविध प्रकार से वर्णन किया है। आचार्य शंकर अपनी संन्यास विषयक् अवधारणा में प्राचीन संन्यास की अवधारणा से ढेर सारे बिन्दुओं पर साम्यता रखते हैं। परन्तु अद्वैतवादी और ज्ञानमार्गी होने के कारण आचार्य का कुछ स्थलों पर पूर्व अवधारणा से विरोध है। उन बिन्दुओं का संक्षिप्त विश्लेषण अग्रांकित है - प्राचीन आश्रम व्यवस्था की व्यवस्था के अनुसार शूद्रों को सन्यास ग्रहण का अधिकार नहीं था उनका कार्य केवल त्रिवर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य) की परिचर्या मात्र था। परन्तु आचार्य मत मे इस स्थल में संशोधन किया गया है। आचार्य शंकर के दर्शन में संन्यास का मार्ग समाज के समस्त वर्गों के लिए खुला है। जिसने भी काम, क्रोध, मद, लोभ, रागद्वेष आदि दुर्बलताओं को नियन्त्रित कर लिया है। अपनी समस्त कामनाओं पर विजय प्राप्त कर लिया है, ब्रह्मात्म चिंतन में रत है। वही संन्यासी है।

प्राचीन मान्यता के अनुसार (पुराण, मनुस्मृति, महाभारत) जीवन के अतिम भाग मे ही अर्थात् 75 वर्ष की अवस्था बीत जाने के बाद ही सन्यास आश्रम में प्रवेश करना चाहिये। मोक्ष का तात्पर्य आत्मस्वरूप का ज्ञान होना है। अत· अविद्या प्रहाण के लिये या ज्ञान की प्राप्ति हेतु अवस्था विशेष की क्या आवश्यकता? जिस किसी व्यक्ति को जीवन की जिस भी अवस्था में सांसारिक वस्तुओं की नश्वरता

का ज्ञान हो जाय, अनात्म वस्तुओं से वितृष्णा पैदा हो जाय। वही व्यक्ति संन्यास ग्रहण कर सकता है। यह तथ्य स्वय आचार्य शकर की जीवनी के निम्न उद्धरण से सिद्ध हो जाता है -

' विद्याध्ययन समाप्त कर शंकर ने संन्यास लेना चाहा, परन्तु जब उन्होने माता से आज्ञा माँगी तो उन्होंने नाहीं कर दी। शंकर माता के बड़े भक्त थे, माता को कष्ट देकर संन्यास लेना नहीं चाहते थे। एक दिन माता के साथ वे नदी में स्नान करने गये। वहाँ शंकर को मगर ने पकड़ लिया। इस प्रकार पुत्र को संकट मे देख माता के होश उड़ गये। वह बेचैन होकर हाहाकार मचाने लगीं। शंकर ने माता से कहा - मुझे सन्यास लेने की आज्ञा दे दो तो मगर मुझे छोड़ देगा। माता ने तुरंत आज्ञा दे दी और मगर ने शंकर को छोड़ दिया। इस तरह माता की आज्ञा प्राप्त कर वे घर से निकल पड़े। जाते समय माता की इच्छानुसार यह वचन देते गये कि तुम्हारी मृत्यु के समय मैं घर पर उपस्थित रहूँगा।(175)

आचार्य शंकर ने संन्यासियों द्वारा किये जाने वाले नाना प्रकार के कर्मकाण्डों (दण्ड-कमण्डल धारण करना, वल्कल वस्त्र धारण करना, अरण्य सेवा करना) पर कभी भी जोर नहीं दिया। इस सब वस्तुओं की आवश्यकता वहीं तक है जहाँ तक इन सबसे सांसारिक वस्तुओं से निर्लिप्तता या अनासक्ति भाव पैदा करने में मदद मिलती है। क्योंकि मोक्ष की प्राप्ति तो ज्ञान से ही हो सकती है इसीलिए आचार्य शंकर ने अपनी संन्यास विषयक् अवधारणा में वासनाओं पर विजय, अविद्याप्रहाण, स्थितप्रज्ञता तथा ब्रह्मात्म चिंतन पर अधिक जोर दिया।

स्वाराज्य की अवधारणा

सामान्यतया किसी राज्य में अधिवास करने वाले व्यक्तियों को उस राज्य के कानून निश्चित रूप से पालन करने पडते हैं। जो व्यक्ति इनका उल्लंघन करता है उसे राज्य दंडित करता है। ऐसे राज्य में शासक और शासित पृथक्-पृथक् व्यक्ति होते हैं। आचार्य शंकर अपनी स्वाराज्य की अवधारणा मे एक ऐसे राज्य की परिकल्पना करते हैं जिसमें शासक और शासित अलग-अलग व्यक्ति न होकर एक ही व्यक्ति होता है। वह स्वयं ही नियमों का निर्माता होता है और स्वयं ही उनका पालन करता है। स्वाराज्य में स्व का अर्थ आत्मा से है। इस प्रकार स्वाराज्य का अर्थ आत्मा के राज्य से है। स्वाराज्य में व्यक्ति आत्मा या सदिच्छा से कार्य करने वाला होता है। इसी प्रकार के कर्मों को श्रीमद्भगवद्गीता में स्वभावज या प्रकृतिज कर्मों की संज्ञा दी गई है।

स्वाराज्य में विचरण करने वाला व्यक्ति समस्त प्राणियों में परमात्मा को और परमात्मा में समस्त प्राणियों को देखता है। प्राकृज जन द्वारा व्यवहृत 'यह अपना है, यह पराये का है' ऐसी गणना से दूर वे उदार मनस्वी सम्पूर्ण बसुधा को परिवार तुल्य समझते हैं और दरिद्र नारायण सेवामहे का आचरण करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता पर लिखे अपने भाष्य में आचार्य शंकर ऐसे व्यक्तियों को समदृष्टि वाले योगी की संज्ञा देते हैं। 'समाहित अन्तःकरण से युक्त और सब जगह समदृष्टि वाला योगी - जिसका ब्रह्म और आत्मा की एकता को विषम करने वाला ज्ञान, ब्रह्म से लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त विभक्त प्राणियों मे भेदभाव से रहित - सम हो चुका है, ऐसा पुरुष - अपने आत्मा को सब भूतों में स्थित (देखता है) और आत्मा मे सब भूतों को देखता है। अर्थात् ब्रह्म से लेकर स्तम्ब पर्यन्त समस्त प्राणियों को आत्मा में एकता को प्राप्त हुए देखता है।॥76॥

ऐसे आत्माराम व्यक्ति इन्द्रियों के समुदाय को भलीप्रकार संयम करके समस्त प्राणियों के कल्याणार्थ अनासक्त भाव से कर्म करते हैं।॥77॥ ऐसे आत्मक्रीड़, आत्मानुशासित व्यक्ति का वर्णन करते हुए आचार्य शंकर विवेक चूड़ामणि में कहते हैं - विषयों के प्राप्त होने पर न वह दुःखी होता है, न आनन्दित होता है, न उनमें आसक्त होता है ओर न उनसे विरक्त होता है। वह तो निरन्तर आत्मानन्द रस से तृप्त होकर स्वयं अपने-आप में क्रीड़ा करता और आनन्दित होता है।॥78॥ जिस प्रकार खिलौना मिलने पर बालक अपनी भूख और शारीरिक व्यथा को भी भूलकर उससे खेलने लगता है उसी प्रकार अहंकार और ममता से शून्य होकर विद्वान अपने आत्मा में आनन्दपूर्वक रमण करता रहता है।॥79॥

' स्वाराज्य में विचरण करने वाला व्यक्ति निर्धन होने पर भी सदा सन्तुष्ट, असहाय होने पर भी महाबलवान, भोजन न करने पर भी नित्य तृप्त और विषम भाव से वर्तता हुआ भी समदर्शी होता है। वह महात्मा सब कुछ करता हुआ भी अकर्ता है, नाना प्रकार के फल भोगता हुआ भी अभोक्ता है, शरीर धारी होने पर भी अशरीरी है और परिच्छिन्न होने पर भी सर्वव्यापी है।॥80॥ अहंकार के वशीभूत होकर व्यक्ति आत्मस्वरूप को विस्मृत कर स्वयं को समस्त कर्मों का कर्ता, कामी और स्वामी समझ बैठता है। परिणामस्वरूप कृतकर्मों की सफलता और असफलता के अनुसार हर्ष और विषाद को प्राप्त होता है। आत्मस्वरूप का अभिज्ञान हो जाने पर (दर्प-दमित हो जाने पर) अविद्या-प्रहाण हो जाता है। निरन्तर ब्रह्म-चिंतन में लीन रहता हुआ ऐसा व्यक्ति आत्म साम्राज्य सुख का उपभोग करता है। आचार्यवर का अभिमत है -

' हे विद्वन । भोजन करने वाले पुरुष के गले में काँटे के समान खटकने वाले इस अहकार रूप अपने शत्रु को विज्ञानरूप महाखड्ग से भली प्रकार छेदन कर आत्म-साम्राज्य-सुख का यथेष्ट भोग करो।॥81॥

अविद्याप्रहाणोपरान्त व्यक्ति विगलित मेघमाला के कारण देदीप्यमान् अंशुमानवत् जो सबका आधार, सब वस्तुओं का प्रकाशक, सर्वरूप, सर्वव्यापी, समस्त मायिक भेदों से रहित, क्रिया रहित विकार रहित, कला रहित और निराकार ब्रह्म मैं ही हूँ, ऐसी अनुभूति करने लगता है उसे स्वाराज्य की प्राप्ति होती है। परिणामस्वरूप वह माया से प्रतीत होने वाले जन्म, जरा और मृत्यु के कारण अत्यन्त भयानक महास्वप्न में भटकता हुआ नानाविध तापों से संतप्त नहीं होता। ऐसे आत्म्याजी पुरुष को जन्म-मरण से क्या लेना-देना? वह तो स्वात्मचिंतन में सर्वथा लीन साक्षी भाव से समय व्यतीत करता रहता है।

आचार्य शंकर गीताभाष्य में कहते हैं :-

जब व्यक्ति की समस्त कामनायें नष्ट हो जाती हैं और व्यक्ति विषयानन्द से विमुख हो जाता है तब वह अपने आत्मरामत्व रूप में ही किसी बाह्य लाभ की अपेक्षा न कर अपने आप सन्तुष्ट रहने वाला परमार्थ दर्शन रूप अमृत रस लाभ से तृप्त स्वशासित या आत्मा के राज्य में ही विचरण करने वाला हो जाता है। अभिप्राय यह है कि वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणाजन्य तृष्णाओं को त्याग देने वाला संन्यासी ही आत्माराम, आत्मक्रीड और स्थितप्रज्ञ है।॥82॥

ऐसे ही ब्रह्मात्मज्ञानियों का लक्षण निरूपण करते हुए पञ्चदशी में कहा गया है -

जैसे पर-पुरुष-संग व्यसन रखने वाली स्त्री गृहकार्यों में व्यग्र के समान दिखाई

पड़ती है, परन्तु आंतरिक रूप से उसी पर-पुरुष-संग के रस के आस्वादन का स्मरण करती रहती है, वैसे ही ' पर और शुद्ध ' आत्मतत्त्व में यदि धीर धारक एक क्षण के लिए भी विश्राम कर सके तो वह बाह्य लौकिक कार्यों को करता हुआ भी मन में उसी आत्मतत्त्व का आस्वादन करता रहता है।|183|

मोक्ष का स्वरूप -

मोक्ष के स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं -

पारमार्थिक, कूटस्थ नित्य, आकाश के समान व्यापक, विकारों से रहित, आप्तकाम, निरवयव, स्वयंज्योति स्वभाव, जहाँ पाप-पुण्य की पहुँच नहीं है, ऐसे अशरीरी स्वभाव को मोक्ष कहते हैं।|184| मोक्ष की अवस्था में आत्मा में नये गुणों का विकास नहीं होता है; 'उपाधि ही आती है, वही जाती है तथा वही कर्मों को करती और उनके फल भोगती है तथा वृद्धावस्था के प्राप्त होने पर वही मरती है। मैं (आत्मा) तो कुल पर्वत के समान नित्यनिश्चल - भाव से ही रहता हूँ।|185| जैसे निष्कल (हानि-वृद्धि-शून्य) और निर्विकल्प काल में स्वरूप से कोई कल्प, वर्ष, अयन (उत्तरायण, दक्षिणायन) और ऋतु आदि का विभाग नहीं है उसी प्रकार लोगों ने भ्रमवश केवल स्फुरणमात्र से ही आरोपित करके मुझमें (आत्मा में) स्थूल-सूक्ष्म आदि भावों की कल्पना कर ली है।|186| मोक्ष अप्राप्तस्य प्राप्तिः नहीं है बल्कि प्राप्त वस्तु को फिर से प्राप्त करना है।

हे मनुष्यों, आपका खजाना आप की आत्मा की गहराइयों में छिपा पड़ा है। वह अज्ञानमय कुहासे से ढक गया है 'नीहारेण प्रावृत्ताः'। उस अज्ञान को उससे उत्पन्न अध्यास को मिटा दो। घर में करोड़ों रुपये गड़े हों और नित्य हम उस पर चलते हों किन्तु उसका अज्ञान होने से हम अपने कष्टों को निवृत्त करने में समर्थ नहीं होते बल्कि चोरी-बेईमानी कर अपना पेट भरते हैं।|187| असल में अपनी ब्रह्मता को भूल गये हो उसी को चाहो। कैसे मिलेगी वह? मिलेगी कहाँ, कोई खोई थोड़े ही है। अज्ञान से ही खोई है ज्ञान से ही मिलेगी। वास्तव में न खोई है न मिलेगी यह जो तुम्हें मालूम पड़ता है कि खो गई है, इसीलिए मिलने की कल्पना है।|188|

वस्तुतः मोक्ष की अवस्था मन और वाणी से परे है। आचार्य शंकर विवेक चूड़ामणि में लिखते हैं - जलराशि (समुद्र) में पड़कर गले हुए वर्षाकालिक ओलों की अवस्था को प्राप्त हुआ मेरा मन जिस आनन्दामृत समुद्र के एक अंश के भी अंश मे लीन होकर अब अति आनन्दरूप से स्थित हो गया है। उस आत्मानन्द रूप अमृत प्रवाह से परिपूर्ण परब्रह्म - समुद्र का वैभव वाणी से नहीं कहा जा सकता और मन से मनन नहीं किया जा सकता ।|189| मोक्ष की प्राप्ति होने पर सांसारिकता का नाश हो जाता है।

' वह ससार कहाँ चला गया? उसे कौन ले गया? वह कहाँ लीन हो गया? अहो बड़ा आश्चर्य है। जिस संसार को मैं अभी देख रहा था वह कहीं दिखाई नहीं देता।' [190] ' अब मुझे न यहाँ कुछ दिखाई देता है, न सुनायी देता है और न मैं कुछ जानता ही हूँ। मैं तो अपने नित्यानंद स्वरूप आत्मा में स्थित होकर अपनी पहली अवस्था से सर्वथा विलक्षण हो गया हूँ। [191] प्रो0 हिरियन्ना शंकर की मोक्ष–अवधारणा परप्रकाश डालते हुए कहते हैं -

'शंकर के मतानुसार मोक्ष कोई ऐसी अवस्था नहीं है जिसे प्राप्त करना है बल्कि आत्मा का स्वरूप ही है। इसीलिए साधारण अर्थ में उसकी प्राप्ति के उपाय की बात नहीं की जा सकती। मोक्ष को प्राप्त करने का मतलब वहाँ जीव को यह समझ लेना है जो हमेशा से उसका सहज स्वभाव रहा है, लेकिन जिसे वह कुछ समय के लिए भूल गया है। [192]

वृहदारण्यकोपनिषद् में इस प्रसंग की व्याख्या के लिए एक राजकुमार का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है जिसका संयोगवश लालन-पालन बचपन से ही एक शिकारी के घर में होता है पर जो बाद में जान लेता है कि वह एक राजकुमार है। [193] शंकर के अनुसार मोक्ष सच्चिदानन्द की अवस्था है।

सन्दर्भ सूची

01. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद् ब्रह्मेति। तैत्तिरीय उपनिषद् 3/1.

02. पितामहस्य जगतो माता धाता पितामहः वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्सामयजुरेव च।। श्रीमद् भगवद्गीता-शांकर भाष्य 9/17 प्रकाशक - गोविन्द भवन कार्यालय गीताप्रेस, गोरखपुर।

03. तद्भिन्नेसति तद्बोधकं तटस्थ लक्षणम्।

तद्भिन्नेसति उद्बोधकं स्वरूप लक्षणम् ।।

ब्रह्मसूत्र - प्रवचन (शारीरक भाष्य) भाग - 2, अनंत श्री स्वामी अखंडानंद सरस्वती, प्रकाशक - सत्साहित्य प्रकाशक ट्रस्ट, मुम्बई।

04. विवरण प्रमेय संग्रह, वर्णक - 4, पृष्ठ 645 - 646 ।

05. तैत्तिरीय उपनिषद् 2/1, पर शांकर भाष्य ।

06. शांकर भाष्य - गीता, 2/17, (सदाख्येन ब्रह्मणा .....)।

07. शांकर भाष्य - तैत्तिरीय, 2/6 (परमार्थ सत्यं ब्रह्म) ।

08. शांकर भाष्य - गीता 2/59 (परमार्थ तत्वं ब्रह्म) ।

09. शांकर भाष्य - छान्दोग्य 7/23 (भूमा महन्निरतिशयं) ।

10. शांकर भाष्य - ब्रह्म सूत्र 1/3/19 (कूटस्थ नित्य .....) ।

11. शांकर भाष्य - तैत्तिरीय 2/6 (एकमेवाहि), शांकर भाष्य छान्दोग्य उपनिषद् 6/2 1/2 ।

12. शांकर भाष्य - ईश 4 (सर्वदैक रूपं) ।

13. ब्रह्म सूत्र - शांकर भाष्य 4/3/14, शांकर भाष्य श्वेताश्वतर 6/19 ।

14. श्रीमद् भगवद्गीता - शांकर भाष्य 2/17, 2/30 ।

15. ईश उपनिषद् - शांकर भाष्य 4 ।

16. श्रीमद् भगवद्गीता - शांकर भाष्य 2/17 ।

17. मुण्डक उपनिषद् - शांकर भाष्य 1/1/6 ।

18. वृहदारण्यक् उपनिषद् - शांकर भाष्य 3/8/8 ।

19. अतः परं ब्रह्म सदद्वितीयं विशुद्धविज्ञानघनं निरंजनम् ।

प्रशान्तमाद्यन्तविहीनमक्रियं निरन्तरानंदरसस्वरूपम् ।।

विवेक चूड़ामणि 239 वाँ श्लोक, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

20. वही, 240 वाँ श्लोक ।

21. ज्ञातृज्ञेयज्ञानशून्यमनन्तं निर्विकल्पकम् ।
केवलाखण्डचिन्मात्रं परं तत्त्वं विदुर्बुधाः।।
वही, 241 वॉं श्लोक ।

22. अहेयमनुपादेयं मनोवाचामगोचरम् ।
अप्रमेयमनाद्यन्तं ब्रह्म पूर्ण महन्महः ।।
वही, 242 वॉं श्लोक ।

23. ब्रेडले, एफ0 एच0 आभास और सत् पृष्ठ 158 ।

24. Fully to realise the existence of the absolute is for finite beings impossible - Ibid, Page - 140.

25. अजरममरमस्ताभासवस्तुस्वरूपमस्तिमित सलिलराशिप्रख्यमाख्याविहीनम् ।
शमितगुणविकारं शाश्वतं शान्तमेकं हृदिकलयति विद्वान्ब्रह्म पूर्णं समाधौ ।।
विवेक चूड़ामणि, 411 वॉं श्लोक, प्रकाशक-गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

26. In order thus to know we shall have to be and then we shall not exist. Bradle. F.H. Appearance and Reality.

27. ब्रह्मसूत्र-शांकर भाष्य 1/1/1। (आनन्दमयाधिकरणं)

28. Three lectures on the Vedant philosophy, Page 82, 132-35.

29. Breadle. F.H., Appearance and Reality, Page - 124-126.

30. केन उपनिषद् - शांकर भाष्य 2/1 (स्वात्मा ब्रह्म)
कठ उपनिषद् - शांकर भाष्य 2/4/4 (साक्षादहमास्मि परमात्मा)

31. न जायते नो म्रियते न वर्धते न क्षीयते नो विकरोति नित्यः ।
विलीयमानेऽपि वपुष्यमुष्मिन् न लीयते कुम्भ इवाम्बरं स्वयम् ।।
विवेक चूड़ामणि - 136 वॉं श्लोक, प्रकाशक - गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस गोरखपुर ।

32. ब्रह्मसूत्र प्रवचन (शारीरक भाष्य) - । पृष्ठ 30, स्वामी अखंडानंद सरस्वती, प्रकाशक - सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, मुम्बई ।

33. विवेक चूड़ामणि, 508 वॉं श्लोक, गीताप्रेस गोरखपुर ।

34. सन्तु विकाराः प्रकृतेर्दशधा शतधा सहस्त्रधावापि ।
किं मेऽसंगचितेस्तैर्न घन. क्वचिदम्बरं स्पृशति ।।
वही 512 वॉं श्लोक ।

35. प्रो० एम० हिरियन्ना - भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ 55, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पटना 1965 ।

36. निर्विकल्पकमनल्पमक्षरं, यत्क्षराक्षरविलक्षणंपरम ।

नित्यमव्ययसुखं निरंजनं, ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ।।

विवेक चूड़ामणि, 262 वाँ श्लोक, प्रकाशक - गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस गोरखपुर ।

37. अनंत श्री स्वामी अखंडानन्द सरस्वती - ब्रह्मसूत्र प्रवचन । (शारीरक भाष्य) भाग - 2, पृष्ठ 227, सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, मुम्बई ।

38. यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्य म् ।।

श्रीमद् भगवद्गीता - शांकर भाष्य 4/7 ।

39. श्वेताश्वतर उपनिषद् 6/11 ।

40. अनंत श्री स्वामी अखंडानन्द सरस्वती - ब्रह्मसूत्र प्रवचन (शारीरक भाष्य) भाग - 2, पृष्ठ 268, सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, मुम्बई ।

41. ब्रह्मसूत्र भाष्य 2/1/9 यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते,

अवस्तुत्वात् एवं परमात्मापि संसारमायया न संस्पृश्यते ।

42. The absolute has no history of its own. Though it contains histories without number. Bradley F.H., Appearance and Reality p.442,

43. यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।।

कठोपनिषद 2/1/10 अन्तर्गत ईशादि नौ उपनिषद् गीताप्रेस गोरखपुर ।

44. श्वेताश्वरतर उपनिषद् 6/11 ।

45. यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

श्रीमद् भगवद् गीता - शांकर भाष्य 417, प्रकाशक गोविन्दभवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

46. परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे ।।

वही, 418.

47. डॉ० श्रीवास्तव जगदीश सहाय, अर्वाचीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास पृष्ठ 46 किताब महल, इलाहाबाद

48. "As Kant falls back on faith, so Shankar falls back on shruti-" Sharma Chandra Dhar - A critical survey of Indian philosophy. p. 281.

49. समस्त विशेषरहितम् निर्विकल्पम् एव ब्रह्मोपदिश्यते, उपाधिकृतत्वात् आकार भेदस्य। भेदस्योपासनार्थत्वाद् अभेदे तात्पर्यात्। शांकर भाष्य 3/2/12

50. वही, 1/1/11

द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यतेः नामरूप विकार,

भेदोपाधिविशिष्टम् तद्विपरीतंच सर्वोपाधि विवर्जितम् ।।

51. श्रीमद्भगवद्गीता - शांकर भाष्य 13/19, प्रकृति पुरूषं ....

52. विवेक चूड़ामणि, 137 वाँ श्लोक, प्रकाशक - गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस गोरखपुर।

53. वही, 241 वाँ श्लोक.

54. यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।

शांकर भाष्य केनोपनिषद् 1/5, अन्तर्गत ईशादि नौ उपनिषद। गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस गोरखपुर।

55. ऊँ नारायणः परोऽव्यक्तादण्डमव्यक्तसम्भवम्।

अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः सप्तद्वीपा च मेदिनी ।।

श्रीमद्भगवद् गीता शांकर भाष्य, उपोद्घात ।।, गीता प्रेस, गोरखपुर

56. श्री विद्यारण्य स्वामी - श्री पंचदशी 10/20.

57. वही, 10/22.

58. श्वेताश्वतरोपनिषद् - 6/11, अन्तर्गत ईशादि नौ उपनिषद्, प्रकाशक - गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर.

59. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरनन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य, नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।

मुण्डकोपनिषद् 3/1/1 अन्तर्गत ईशादि नौ उपनिषद्, प्रकाशक - गोविन्दभवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर.

60. पश्यत्येव केवलं दर्शनमात्रेण हि तस्य प्रेरयितृत्वम् राजवत्। वही, 3/11.

61. कठोपनिषद् 1/3/1.

62. श्री विद्यारण्य स्वामी - श्री पंचदशी 10/23, प्रकाशक-संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेदनगर),बरेली. उ0प्र0 ।

63. नृत्यशालास्थितो दीपः प्रभु सभ्यांश्च नर्तकीम्। दीपयेद विशेषेण तद्भावेऽपि दीप्यते।। वही, 10/11.

64. वही, 10/15.

65. वही, 10/18.

66. वही, 10/19.

67. सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवा ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।।
श्रीमद्भगवद्गीता - शांकर भाष्य 14/5, गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर।

68. विवेक चूड़ामणि, 192 वाँ श्लोक, प्रकाशक - गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस गोरखपुर।

69. कठोपनिषद् 1/8/4.

70. विवेक चूड़ामणि, 220 वाँ श्लोक, गीताप्रेस गोरखपुर.

71. सर्वोऽपि बाह्यससार· पुरुषस्य यदाश्रय· ।
विद्धि देहमिदं स्थूलं गृहवद्गृहमेधिनः ।। वही, 92 वाँ श्लोक ।

72. वही, 89 वाँ श्लोक.

73. वही, 98 वाँ श्लोक.

74. वही, 122 वाँ श्लोक.

75. दास गुप्ता, एस0 एन0 - भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-एक, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर-4, द्वितीय संस्करण 1988.

76. विवेक चूड़ामणि, 200 वाँ श्लोक, गीताप्रेस गोरखपुर।

77. अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ।।
माण्डूक्य कारिका 1/16.

78. मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः । वही, 1/17.

79. पचदशी, 1/16,17

80. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मन षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानिकर्षति ।।
श्रीमद्भगवद्गीता - शांकर भाष्य, 15/7, प्रकाशक-गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर।

81. नौलखा, रामस्वरूप सिंह - आचार्य शंकर: ब्रह्मवाद पृ0 161 किताबघर, आचार्य नगर, कानपुर।

82. मरणे सभवे चैव गत्यागमनयोरपि ।
स्थितौ सर्वशरीरेषु आकाशेनाविलक्षण· ।।
माण्डूक्यकारिका 3/9.

83. श्रीमद् भगवद्गीता – शांकर भाष्य 14/4 गीताप्रेस गोरखपुर।

84. श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/11

85. तस्याद् राम जगन्नासीन्न चास्ति न भविष्येति । योगवाशिष्ठ 4/2/8.

87. विवेक चूड़ामणि - 236 वाँ श्लोक, गीताप्रेस गोरखपुर।

88. वही, पृष्ठ संख्या 43, 172 वाँ श्लोक.

89 वही, 200 वाँ श्लोक.

90 उपलम्भात् समाचारान्माया हस्ती यथोच्यते ।

उपलम्भात् समाचारादस्ति वस्तु तथोच्यते ।।

माण्डूक्यकारिका 4/44.

91. प्रारब्धसूत्रग्रथित शरीर प्रायातु वा तिष्ठतु गोरिव स्रक् ।

न तत्पुन. पश्यति तत्त्ववेत्तानन्दात्मनि ब्रह्मणि लीन वृत्ति· ।।

विवेक चूडामणि 417 वाँ श्लोक, गीताप्रेस गोरखपुर।

92. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम् ।
ईशावास्योपनिषद्, 15, निर्णयसागर प्रेस मुम्बई, 1925.

93. द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानाधर्मदेशना, लोकसवृत्ति - सत्य च, सत्य च परमार्थत । यो ऽ नयोर्न विजानन्ति भेद परम-तात्विकम्, ते कदा ऽ पि न जानन्ति गम्भीर बुद्धशासनम् ।। माध्यमिक शास्त्र-24/8.9

94. I shall point out that the world, as so understood contradicts itself and is therefore appearance and not reality. Bradley F.H. - Appearance and Reality Page - 09.

95. In order thus to know, we should have to be and then we should not exist. Ibid, 140 Page.

96. प्रसाद, जयशंकर - कामायनी 1/2.

97 थीबो का कथन - " ब्रह्म एक ऐसी शक्ति के साथ सम्बन्धित है जिसे माया या अविद्या कहा जा सकता है। इस विश्व का आभास उसी शक्ति के कारण है। (ब्रह्मसूत्र के अनुवाद की भूमिका) पृष्ठ 25

98 वही, पृष्ठ 05.

99. पचदशी 1/15,17.

100 नौलखा, रामस्वरूप सिंह - आचार्य शंकर: ब्रह्मवाद पृ0 209, 210. प्रकाशक - किताबघर, आचार्य नगर कानपुर.

101 शर्मा, डॉ0 उमाशंकर 'ऋषि' भाष्यकार सर्वदर्शन संग्रह, पृष्ठ 855-856, प्रकाशक - चौखम्बा विद्याभवन - वाराणसी ।

102. अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्ति, रनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया, यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ।।
विवेक चूड़ामणि, 110 वाँ श्लोक, गीताप्रेस गोरखपुर.

103. श्रीमद्भगवद्गीता - शाकर भाष्य 13/19.

104. वही, 14/3.

105. अनन्त श्री स्वामी अखण्डानद सरस्वती - ब्रह्मसूत्र प्रवचन (शारीरक भाष्य) सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, मुम्बई।

106 विवेक चुडामणि, 146 वाँ श्लोक, गीताप्रेस गोरखपुर।

107. वही, 111 श्लोक।

108. सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तय· संभवन्ति या ।

तासा ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रद· पिता ।।

श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य - 14/4.

109. सत्व रजस्तम इति गुणा· प्रकृतिसम्भवा ।

निबध्नन्ति महाबाहो, देहे देहिनमव्ययम् ।।

वही, 14/5.

110. अनत श्री अखडानन्द सरस्वती - ब्रह्मसूत्र प्रवचन (शारीरक भाष्य) - 2, पृष्ठ 208, सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, मुम्बई।

111. मायामात्रमिद द्वैतमद्वैतं परमार्थतः । माण्डूक्यकारिका - 1/17.

112. नौलखा, रामस्वरूप सिह - आचार्य शंकर ब्रह्मवाद प्रकाशक - किताबघर, आचार्य नगर, कानपुर-3 पृष्ठ 151।

113 विवेक चूड़ामणि, 10 वॉ श्लोक, गीताप्रेस गोरखपुर।

114. वही, 85 वाँ श्लोक ।

115. वही, 86 वाँ श्लोक ।

116. वही, 87 वाँ श्लोक ।

117. अनत श्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती, ब्रह्मसूत्र प्रवचन (शारीरक भाष्य) - 2, पृष्ठ 121.

118. न तद्विशेषम् प्रति विप्रतिपत्तेः, देहमात्रं चैतन्यविशिष्टम् आत्मेति प्राकृता जना लोकायतिकाश्च इन्द्रियाणि इत्यपरे, मन· इत्यन्ये, विज्ञानन्मात्रम इत्येके । - शारीरक भाष्य 1/1/1.

119 विवेक चूड़ामणि, 139 वॉ श्लोक, गीताप्रेस गोरखपुर ।

120. प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वश : ।

अहकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।।

श्रीमद्भगवद्गीता - शाकर भाष्य, 3/27 प्रकाशक - गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस गोरखपुर।

121. वृहदारण्यक् उपनिषद् - शाकर भाष्य 1/4/10.

122. विवेक चूड़ामणि, 145 वॉ श्लोक, गीताप्रेस गोरखपुर ।

123. वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान् कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवताः ।

आत्मैक्यबोधेन विना विमुक्तिर्न सिध्यति ब्रह्मशतान्तरेऽपि ।।

वही, 6 वाँ श्लोक.

124. वही, 58 वाँ श्लोक.

125 वही, 63 वाँ श्लोक.

126. अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती - ब्रह्मसूत्र प्रवचन (शारीरक भाष्य) पृष्ठ सं0 140 सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, मुम्बई।

127. [illegible]ने फलसिद्धिर्विशेषत. ।

उपाया देशकालाद्याः सन्त्यस्मिन्सहकारिण· ।।

विवेक चूड़ामणि, 14 वाँ श्लोक, गीताप्रेस गोरखपुर.

128. वही, 19 वाँ श्लोक.

129. श्रेयश्च, प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीर ।

श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते, प्रेयोमन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ।।

कठोपनिषद् 2/2 व्याख्याकार डॉ0 आद्याप्रसाद मिश्र, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद।

130. न साम्परायः प्रतिभाति बाल प्रमाद्यन्तं विन्तमोहेन मूढम् ।

अयं लोको नास्ति पर इति मानी, पुन पुनर्वशमापद्यते मे ।।

वही, 2/6.

131. विवेक चूड़ामणि, 21 वाँ श्लोक.

132. वही, 22 वाँ श्लोक.

133. वही, 23 वाँ श्लोक.

134. वही, 25 वाँ श्लोक.

135 जितात्मन. प्रशान्तस्य परमात्मा समाहित· ।

शीतोष्ण सुखदु खेषु तथा मानापमानयो· ।।

श्रीमद्भगवद्गीता - शांकर भाष्य 6/7 गीताप्रेस गोरखपुर.

136. विवेक चूड़ामणि, 28 वाँ श्लोक.

137 वही, 67 वाँ श्लोक.

138 ' तस्मान्मिथ्या प्रत्ययनिमित्तत्वात्सशरीरत्वस्य सिद्ध जीवितोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम् ।

ब्रह्मसूत्र भाष्य 1/1/4.

139. 'मत्वा देवं हर्षशोको जहाति ।
अनन्त श्री स्वामी अखण्डानंद सरस्वती - ब्रह्मसूत्र प्रवचन - 1 (शारीरक भाष्य) पृ0 142, सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट मुम्बई।

140. विवेक चूड़ामणि - 432 वाँ श्लोक, गीताप्रेस गोरखपुर.

141. अतीताननुसन्धानं भविष्यदविचारणम् ।
औदासीन्यमपि प्राप्ते जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।।
वही, 433 वाँ श्लोक ।

142. वही, 435 वाँ श्लोक.

143. यस्य स्थिता भवेत्प्रज्ञा यस्यानन्दो निरन्तरः ।
प्रपञ्चो विस्मृतप्रायः स जीवन्मुक्त इष्यते ।।
वही, 429 वाँ श्लोक.

144. वही, 431 वाँ श्लोक.

145. विज्ञात आत्मनो यस्य ब्रह्मभावः श्रुतेर्बलात् ।
भवबन्ध विनिर्मुक्त. स जीवन्मुक्तलक्षण ।।
वही, 438 वाँ श्लोक.

146. वही, 442 वाँ श्लोक.

147. श्री विष्णु पुराण, तृतीय अंश पृ0 225, प्रकाशक-गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर।

148. ' वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं व्यक्त्वा संगान्परिव्रजेत् ।। '
मनुस्मृति, अध्याय 6/33 चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।

149. कषायं पाचयित्वाऽऽशु श्रेणिस्थानेषु चे त्रिषु ।
प्रव्रजेच्च परं स्थान पारिव्राज्यमनुत्तमम् ।।
महाभारत (पंचमखण्ड) शान्तिपर्व, पृष्ठ 5066, प्रकाशक - गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

150. वही पुस्तक, पृष्ठ 5065

151. वही पुस्तक, पृष्ठ 4582.

152. वही पुस्तक, पृष्ठ 4586.

153. अगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रो पचितो मुनिः ।
समुपोदेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ।
मनुस्मृति 6/41, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।

154. महाभारत (पंचम खण्ड) शान्तिपर्व पृष्ठ 4908, प्रकाशक - गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस गोरखपुर।

155. श्री विष्णुपुराण, तृतीय अंश पृष्ठ 225, प्रकाशक, गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस गोरखपुर।

156. महाभारत (पचम खण्ड) शांतिपर्व पृष्ठ 4908, प्रकाशक-गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस गोरखपुर।

157. श्री विष्णुपुराण, तृतीय अश पृष्ठ 225, प्रकाशक - गीताप्रेस गोरखपुर।

158. एक कालं चरेत् भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे ।
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ।
मनुस्मृति 6/55, चौखम्भा सस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।

159. वही पुस्तक (सभी छठे अध्याय से उद्धृत)।

160. कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता ।
उपेक्षा सर्वभूतानामेतावद् भिक्षुलक्षणम् ।।
महाभारत (पंचम खण्ड) शान्ति पर्व पृष्ठ 5066.

161. अहेरिव गणाद् भीतः सौहित्यान्नरकादिव ।
कुणपादिव च स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदु·।।
वही पुस्तक, पृष्ठ 5067.

162. वही पुस्तक, वही पृष्ठ.

163. वही पुस्तक , पृष्ठ 5068.

164. अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ।।
मनुस्मृति 6/49.

165 नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं मृतको यथा ।।
वही पुस्तक, 6/45.

166. महाभारत (शान्तिपर्व) पंचम खण्ड, पृष्ठ 5066 गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस गोरखपुर ।

167. श्री पचदशी ध्यानदीप, प्रकरण - 09 पृष्ठ 408 प्रकाशक - संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेद नगर) बरेली उ0प्र0.

168. श्रीमद्भगवद्गीता, शांकर भाष्य 12/17.
प्रकाशक - गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर

169. वही पुस्तक, पृष्ठ 93, 3/17

170 वही पुस्तक, 4/22.

171 वही पुस्तक, 5/25.

172 वही पुस्तक, पृष्ठ 170-171.

173. वही पुस्तक 6/16.

174. भिक्षावस्त्रादि रक्षेयुर्यदयेते भोगतुष्टये। अहो यतित्वमेतेषा वैराग्यभरमन्थरम् ।।
श्री पंचदशी, ध्यानदीप प्रकरण, पृष्ठ 410, प्रकाशक - संस्कृति संस्थान, बरेली (उ0प्र0)

175. विवेक चूड़ामणि, पृष्ठ 148, गीताप्रेस गोरखपुर।

176. सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन ।।
श्रीमद्भगवद्गीता - शांकर भाष्य 6/29, प्रकाशक - गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर

177. वही, 12/4.

178. न खिद्यते नो विषयैः प्रमोदते, न सज्जते नापि विरज्यते च ।

स्वस्मिन्सदा क्रीडति नन्दति स्वयं, निरन्तरानन्दरसेन तृप्त ।।
विवेक चूड़ामणि, 537 वाँ श्लोक, प्रकाशक - गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस गोरखपुर ।

179 क्षुधां देहव्यथा त्यक्त्वा बाल क्रीडति वस्तुनि, तथैव विद्वान रमते निर्ममो निरहं सुखी ।।
वही, 538 वाँ श्लोक.

180 वही, 545 वाँ श्लोक.

181. तस्मादहकारमिमं स्वशत्रुं, भोक्तुर्गले कण्टकवत् प्रतीतम् ।

विच्छिद्य विज्ञान महासिना स्फुटं, भुंक्ष्वात्मसाम्राज्यसुखं यथेष्टम् ।।
वही, 308 वाँ श्लोक.

182. प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् । आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।।
श्रीमद्भगवद्गीता - शांकर भाष्य 2/55, प्रकाशक - गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर।

183. परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि, तदेवास्वादयत्यन्तः परसंग रसायनम् ।

एवं तत्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तिमागत, तदेवास्वादत्यन्तर्वहिर्व्यवहरन्नपि ।।
पचदशी, 122-123 वाँ श्लोक, प्रकाशक - संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेदनगर) बरेली (उ0प्र0)।

184. इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थ नित्यं, व्योमवत् सर्वव्यापी, सर्वविक्रियारहितं, नित्यतृप्तं, निरवय, स्वयज्योतिःस्वभावम् । यत्र धर्माधर्मौसह कार्यण कालत्रयं न चोपावर्तते । तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम्।।
शाकर भाष्य 1/1/4.

185. विवेक चूड़ामणि, 502 वाँ श्लोक, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

186. वही, 498 श्लोक.

187. अनन्त श्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती, ब्रह्मसूत्र प्रवचन (शारीरक भाष्य) पृष्ठ 112-113, सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, मुम्बई ।

188. पाया कहै सो बावरा खोया कहै तो क्रूर। पाया खोया कछु नहीं ज्यों का त्यों भरपूर।।
ना कछु हुआ न हो रहा ना कछु होवत हार। अनुभव का दीदार है अपना रूप अपार।।

वही पृष्ठ 23.

189. विवेक चूड़ामणि, 483 वाँ श्लोक, गीताप्रेस गोरखपुर.

190. क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत्। अधुनैव मयादृष्टं नास्ति किं महत् अद्भुतम्।।
वही, 484 वाँ श्लोक.

191. वही, 486 वाँ श्लोक.

192. प्रो0 एम0 हिरियन्ना - भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ 375, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली ।

193. वृहदारण्यक् उपनिषद् - शांकर भाष्य 2/1/20.

द्वितीय अध्याय

प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य का अद्वैतवाद

प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य (1875 - 1949)

भारतीय मनीषियों का लक्ष्य ऐहिक जीवन में अपरिमित भौतिक शक्ति और अतुल सम्पत्ति की उपलब्धि नहीं है बल्कि इस धरती पर दिव्य जीवन को प्राप्त करना है। प्राकृतजन जिन छोटी-छोटी कामनाओं में लिप्त रहता है तथा तदुपलब्धि हेतु जीवन को सकटग्रस्त बना लेता है। उनके प्रति पराऽन्मुखता का भाव, वैराग्यभाव लाना भारतीय दार्शनिक दृष्टि का मूलभाव है। यथा - यमराज द्वारा सहज ही दिये जा रहे सम्पूर्ण स्वर्गिक सुख को नचिकेता ने ठुकराकर एकमात्र आत्मविद्या की ही जिज्ञासा प्रकट की।[1] इस सम्बन्ध में डॉ0 राधाकृष्णन् का मन्तव्य है ''भारतीय दर्शन मुख्यत. आध्यात्मिक है जो इतिहास के सारे उथल-पुथल को झेलने के लिए बल प्रदान करता है''।[2]

गीता के ' लोकसग्रह ' के आदर्श और महाप्राण बुद्ध के ' चरथ भिक्खवे, बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय ' के उपदेश को वही व्यक्ति मूर्तमान् कर सकता है जो ऐहिक जीवन की भोगेच्छाओं की तृष्णाजन्य ज्वाला से दूर, आत्मक्रीडस्थ योगी की भाँति अपने और पराये में समत्व दृष्टि रखता है। परन्तु चेतना का यह ऊर्ध्वीकरण दिव्य दृष्टि से ही संभव है। इस दिव्य दृष्टि को अन्तर्दृष्टि द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ऐसे ही आधुनिक भारतीय दार्शनिक हैं जिनकी सम्पूर्ण दार्शनिक साधना का उद्देश्य उस तत्त्व का अनुसंधान करना है जिससे मानवीय चेतना को अत्यधिक समृद्ध किया जा सके। उस दिव्य दृष्टि/पराविद्या की तलाश करना है जिससे परमतत्त्व का साक्षात् किया जा सके । प्रो0 भट्टाचार्य अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के दार्शनिक हैं। उनका दर्शन गम्भीर एवं परिपक्व विश्लेषणात्मक दृष्टि का परिणाम है। उनकी सूक्ष्म दृष्टि अन्य दार्शनिक दृष्टियों की एक पक्षीयता को ढूँढ निकालती है और उन्हे अधिक व्यापक समन्वयात्मक धरातल पर आने की ओर इंगित करती है।

डॉ0 धीरेन्द्र मोहन दत्त के अनुसार - भट्टाचार्य की कृतियाँ अत्यल्प हैं, उनकी शैली अत्यन्त संक्षिप्त है। तथा उनके विचार इतने अधिक विश्लेषणात्मक एव दुरूह हैं कि सामान्य पाठक कई प्रयासों के बाद ही उन्हें समझ सकता है। .... उनकी विश्लेषणात्मक बुद्धि मूर का स्मरण दिलाती है परन्तु उनकी मौलिकता एवं उनकी विश्लेषणात्मक अन्तर्दृष्टि की सुदूर पहुँच, वस्तुगत एवं आत्मगत क्षेत्रों मे उनकी पैठ, उन्हें दिग्गज आचार्यों की कोटि में प्रतिष्ठित करा देती है। उनकी श्रेष्ठता दूसरों के सिद्धान्तों के खण्डन में नहीं अपितु उनके अज्ञात एवं अचिन्तित पूर्व - आशयों को प्रकट करने, उनके श्रेष्ठ तत्वों का प्रदर्शन करने और उन्हें कई सम्भव वैकल्पिक सिद्धान्तों में स्थान प्रदान करने में है। उनके लिए दार्शनिक विजय का आदर्श आत्मनिषेधकारी सहानुभूति एवं प्रेम में निहित है।[3]

प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य नव्यवेदान्त के प्रमुख प्रणेता आचार्य हैं। उन्होंने वेदान्त दर्शन के निष्कर्षों को पाश्चात्य दार्शनिक चिंतन के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का अनुपम प्रयास किया है। यद्यपि आचार्य, इमैन्युअलकाट से विशेष रूप से प्रभावित हैं तथापि अपनी नवीन युक्तियों द्वारा पाश्चात्य दर्शन की अपूर्णता को स्पष्ट करते हुए उन्होंने अपने दर्शन में पा`र्वात्य दर्शन (शांकर वेदान्त) की श्रेष्ठता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। (समकालीन भारतीय दर्शन की प्रवृत्तियाँ, नामक निबंध में प्रो0 संगम लाल पाण्डेय ने भी इसी तरह का अभिमत प्रकट किया है।)

डॉ0 आर0 सी0 सिन्हा का मन्तव्य है कि प्रो0 भट्टाचार्य एक तरफ वेदान्त दर्शन से प्रभावित है तो दूसरी तरफ जर्मन दार्शनिक कान्ट से भी अभिभूत हैं।[4] परन्तु कान्ट से प्रभावित होते हुए भी उनकी तीक्ष्ण दार्शनिक दृष्टि कान्ट के दर्शन के आपत्तिग्रस्त स्थलों का अनुसंधान कर ही लेती है। आचार्य जहाँ कान्ट के सांवृत्तिक ज्ञान और उसको प्राप्त करने के माध्यम से सहमत हैं वहीं उसके अज्ञेयवाद का निर्ममतापूर्वक खण्डन भी करते हैं। प्रो0 भट्टाचार्य का मत है कि परमार्थ को अपरोक्षानुभूति के द्वारा जाना जा सकता है। वह अज्ञेय नहीं है। इस स्थल पर हम देखते हैं कि प्रो0 भट्टाचार्य, परमार्थ विषयक् आचार्य शंकर के मत से सहमत हैं। आचार्य शंकर का विचार है कि ब्रह्म न तो प्रत्यक्ष द्वारा, न अनुमान द्वारा, न तर्क और न श्रुति द्वारा ही जाना जा सकता है बल्कि अपरोक्षानुभूति ही ब्रह्म साक्षात्कार करा सकती है। आत्मा नित्य अपरोक्ष है तथा प्रत्यगात्मा (अन्तरात्मा) रूप से प्रसिद्ध है।[5]

अब हम विविध शीर्षकों के अन्तर्गत प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के दार्शनिक विचारों का समीक्षात्मक अध्ययन करने का प्रयास करेंगे।

विज्ञान और दर्शन :-

प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य दर्शन और विज्ञान को ज्ञान के दो परस्पर विरोधी ध्रुवों के रूप मे परिगणित करते हैं। दोनों के प्रतिपाद्य विषय पृथक-पृथक हैं। परन्तु इस तथ्य को सुस्पष्ट करने के पूर्व उनकी चेतना विषयक् अवधारणा को स्पष्ट करना आवश्यक है। अपने दर्शन मे विषयी (Subject) पर अत्यधिक बल देते हुए प्रो0 भट्टाचार्य चेतना को मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित करते है .- 1. वस्तुनिष्ठ चेतना 2. सैद्धान्तिक चेतना ।

वस्तुनिष्ठ चेतना में एक वस्तु का दूसरी वस्तु से सम्बन्ध का अध्ययन किया जाता है। सैद्धान्तिक चेतना में वस्तु का चेतना से क्या सम्बन्ध है? यह पता चलता है। अर्थात् इसके अन्तर्गत वस्तु और विषयी के सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त होता है। वस्तुत. दर्शन सैद्धान्तिक चेतना की अभिव्यक्ति है।[6]

विज्ञान और दर्शन दोनों सैद्धान्तिक चेतना की अभिव्यक्ति हैं परन्तु एक निश्चित सीमा के उपरान्त दोनों के रास्ते एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। सैद्धान्तिक चेतना के चार स्तरों में से प्रथम विज्ञान से सम्बन्धित होता है शेष दर्शन से सम्बन्धित होता है। सैद्धान्तिक चेतना वचनीय की समझ है, जिसको हम अभिव्यक्त करते हैं उसमें विश्वास का होना आवश्यक है। इस बात को एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। स्क्वायर सर्किल या गोल्डेन माउंटेनमेंन तो विश्वास किया जाता है और न अविश्वास। यदि इसके बारे में कुछ भी कथ्य ऐसा लगता है जैसे कुछ भी नहीं कहा गया है 'यह सैद्धान्तिक चेतना का अंश नहीं बन सकता। 'स्पीकेबल' जिसमें विश्वास किया जाता है वह सैद्धान्तिक चेतना का अंश है - एक झूठ भी सैद्धान्तिक चेतना का अंश होता है क्योंकि जब हम झूठ भी बोलते है तो एक विश्वास को अभिव्यक्त करते हैं। झूठ जब हम बोलते हैं तब हम यह विश्वास दिलाते हैं कि जो कुछ भी हम बोल रहे हैं वह सत्य है। यह एक ऐसे विश्वास की स्थापना करना चाहता है जिसमें वक्ता को विश्वास नहीं हैं फिर भी श्रोता को विश्वास दिलाना चाहता है।

दर्शन और विज्ञान के बीच की सीमा रेखा को स्पष्ट करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं कि विज्ञान वस्तु का तथ्य के रूप में अध्ययन करता है अर्थात इसमें वस्तु की ऐन्द्रिक परीक्षणीयता अनिवार्य है। जबकि दर्शन में वस्तु की ऐन्द्रिक परीक्षणीयता अनिवार्य नहीं है। दर्शन तथ्यों से सम्बद्ध नहीं है। जब वह विज्ञान के क्षेत्र में हस्तक्षेप करता है तभी तथ्यों पर विचार करता है। ऐसी स्थिति में वह न तो श्रेष्ठ दर्शन की उत्पत्ति कर पाता है और न श्रेष्ठ विज्ञान की ही। वह केवल काल्पनिक साहित्य का एक रूप प्रस्तुत कर पाता है। तथ्य को स्पष्ट करते हुए प्रो0 भट्टाचार्य कहते है - वह वस्तु जिसका प्रत्यक्षीकरण सभव हो या जिसका सम्बन्ध प्रत्यक्ष करने वाली वस्तु से हो, जो शाब्दिक निर्णय के रूप में प्रकट की जा सकती हो और वाक्य का सन्दर्भ दिये बिना ही जिस पर विश्वास कर लिया जाता हो।

विज्ञान में वस्तु की असंदिग्ध सत्ता और उसकी उपयोगिता के दृष्टिकोण से विचार किया जाता है। इसके विपरीत दर्शन वस्तु के वास्तविक स्वरूप को जानने का प्रयास करता है तथा उसका दृष्टिकोण मात्र उपयोगिता मूलक नहीं रहता है।

विज्ञान और दर्शन में एक और महत्वपूर्ण भेद ज्ञाता की महत्ता से सम्बन्धित है। जहाँ एक दार्शनिक के दार्शनिक विचारों में, उसके दार्शनिक ज्ञान में उसके निजी व्यक्तित्व, परिवेश का प्रत्यक्षतः एव अप्रत्यक्षत. प्रभाव रहता है वहीं वैज्ञानिक ज्ञान में वैज्ञानिक के निजी जीवन का कोई

प्रभाव नहीं पड़ता है। क्योंकि वैज्ञानिक वस्तु को 'तथ्य' के रूप मे देखता है जबकि दार्शनिक वस्तु को 'ज्ञेय' के रूप मे देखता है।[7]

इस बात को एक उदाहरण के माध्यम से और स्पष्ट किया जा सकता है - न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण का नियम वैज्ञानिक अध्ययन का निष्कर्ष है जबकि वर्कले का अनुभववाद दार्शनिक अध्ययन का निष्कर्ष है। गुरुत्वाकर्षण के नियम को भलीभाँति जानने के लिए न्युटन के व्यक्तित्व, पारिवारिक वातावरण, समसामयिक परिस्थितियों आदि को जानने की अनिवार्यता नहीं है जबकि वर्कले के दर्शन को समझने के लिए उसके स्वभाव, शैक्षणिक परिवेश, समसामयिक विचारधारा आदि का ज्ञान होना आवश्यक है।

'तथ्य' और स्वय सत्तात्मक वस्तुओं में भेद को सकेतित करते हुए प्रो0 भट्टाचार्य दर्शन और विज्ञान की विभाजन रेखा को और सुस्पष्ट करना चाहते है। तथ्य भाषागत अनुमानीकरण से स्वतन्त्र रहता है जबकि स्वय सत्तात्मक वस्तुयें भाषा की निर्मिति के रूप में ही प्रमुख होती है।[8] क्योंकि एक वैज्ञानिक तथ्य का अध्ययन करते समय केवल मानसिक तर्क-वितर्क (अनुमान) पर ही आश्रित नहीं होता है। बल्कि किसी तथ्य का बार-बार परीक्षण भी करता है। तदुपरान्त ही तथ्य सम्बन्धी किसी ज्ञान का प्रकाशन करता है जबकि वस्तु के सम्बन्ध में जो भी दार्शनिक विचार या चिंतन होता है। वह अनुमान पर आधारित होता है तथा दार्शनिक अपने इन्ही विचारों को भाषा में अभिव्यक्त करता है। अत दर्शन मे वस्तु का स्वरूप दार्शनिक की विचार प्रक्रिया भाषागत परिणति है अर्थात् इसके परे वस्तु क्या है, यह नहीं जाना जा सकता।

इस प्रकार प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य वस्तु को जानने के लिए ज्ञाता की पूर्वमान्यता को स्वीकार करते है। उनकी इस मान्यता की तुलना पाश्चात्य वस्तुवादी दार्शनिक वेर्ट्रण्ड रसेल से की जा सकती है। वस्तु को अनुमान के आधार पर भी जाना जा सकता है। इसी प्रकार रसेल भी मानते हैं कि यद्यपि भौतिक वस्तु प्रत्यक्षत: नहीं जानी जा सकती तथापि उसके अस्तित्ववान होने का स्वाभाविक ज्ञान हमे होता है। इसी प्रकार इन्द्रियानुभववादी भी स्वीकार करते है कि वस्तु के प्राथमिक और गौण गुणों के आधार पर ही हम वस्तु को जानते है। इसके अतिरिक्त वस्तु क्या है उसे हम नहीं जानते यद्यपि उसके होने का आभास हमें होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इन्द्रियानुभववादी भी बिना इन्द्रिय प्रत्यक्ष के वस्तुके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार भट्टाचार्य वस्तु की ऐन्द्रिक परीक्षणीयता पर ही बल नहीं देते।[9]

प्रो0 भट्टाचार्य के अनुसार सामान्य व्यावहारिक जगत् की वस्तुओं को साधारण इन्द्रिय अनुभव के माध्यम से जाना जा सकता है परन्तु पारमार्थिक सत्ता को चेतना के इन सामान्य आयामों के द्वारा नहीं जाना जा सकता। पारमार्थिक सत्ता को अन्य शब्दों मे एक भिन्न प्रकार के आयाम की अपेक्षा है जिसमे उस सत् की अभिव्यक्ति एवं साक्षात् हो सकता है। इसी सम्भावना को अपने दर्शन में मूर्तमान करने के उद्देश्य से प्रो0 भट्टाचार्य चेतना के विविध आयामों का वर्णन करते हैं -

सैद्धान्तिक चेतना के आयाम -

सैद्धान्तिक चेतना के निम्नलिखित चार आयाम है :-

1. आनुभविक विचार -
2. शुद्ध वस्तुगत विचार -
3. आध्यात्मिक विचार -
4. अतिव्याप्त विचार या पारमार्थिक विचार -

1. आनुभविक विचार :-

चेतना के इस आयाम के अन्तर्गत इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय आता है। चेतना के इस आयाम द्वारा विभिन्न वस्तुओं के बारे में तथा उनके आपसी सम्बन्धों का ज्ञान होता है। प्रो0 भट्टाचार्य ने आनुभविक विचार को वास्तविक विचार के रूप में समझा है। आनुभविक विचार की विषय वस्तु 'फैक्ट' है इसका अध्ययन विज्ञान में होता है। इसको 'लिटरल थाट' के रूप में जाना जाता है। ' फैक्ट ' को आचार्य ने ' स्पोकेन ऑफ ' की संज्ञा दी है उसको मात्र स्पोकेन नहीं माना है।[10]

2. शुद्ध वस्तुगत विचार :-

यह मनस् का स्तर है। यद्यपि इस स्तर पर भी वस्तु से सम्बन्ध बना रहता है तथापि इसका इन्द्रिय प्रत्यक्ष से कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं होता है। तथ्यात्मक विषयों से सम्बद्ध विचार से निश्चित ही यह विचार भिन्न है और यह इस बात का प्रमाण है कि हम एक महत्वपूर्ण अर्थ में आनुभविक विचार का अतिक्रमण कर सकते हैं। विचार के इस स्तर पर ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत बना रहता है किनतु वह द्वैत स्थूल आनुभविक इन्द्रियों की मध्यस्थता से किये हुए विचार मे उपस्थित द्वैत से भिन्न होता है। शुद्ध वस्तुगत विचार मे ' विषय ' तथ्य के रूप मे ज्ञात नहीं होता - बल्कि आत्मनिर्भर या आत्म - अवस्थित विषयनिष्ठता के रूप मे जाना जाता है। ' आत्मनिर्भर विषयनिष्ठता

तथ्य नहीं है - यह कोई ' वस्तु ' नहीं है। आनुभविक चेतना में ' तथ्यात्मक वस्तु ' की अवगति होती है किन्तु यहाँ मात्र यह अवगति है कि ' विषयी ' से पृथक् कुछ ' विषय ' है। इसी कारण भट्टाचार्य कहते है कि यह चेतना किसी विषयनिष्ठ तथ्य की चेतना नहीं है, बल्कि मात्र विषयनिष्ठ अभिवृत्ति मे चेतना है। यहीं से दर्शन की शुरुआत होती है। इसे प्रतीकात्मक विचार भी कहते हैं।

आनुभविक विचार मे विषयी की ओर निर्देश या सकेत नहीं रहता है। वस्तुगत विचार की विषय वस्तु ' आत्मनिर्भर ' है तथा इसे हम मात्र ' स्पोकेन ' मान सकते हैं। इसमें विषय की ओर सकेत न होकर विषयी की ओर संकेत रहता है।[11]

3. **आध्यात्मिक विचार :-**

चेतना के इस स्तर पर विषयों से सम्बन्ध पूर्णतया छूट जाता है। चेतना बाह्य विषयों से पराऽ.मुख होकर एकदम अन्तर्मुखी हो जाती है तब वह ज्ञाता का साक्षात् करती है। विषयों की ओर उन्मुख होना चाहे वह यथार्थ हो अथवा सम्भाव्य, विचार की सहज गति है किन्तु विचार अपने इस नवीन आयाम में विषयों से अपने को सम्पूर्णत मुक्त करने की सामर्थ्य रखता है। तब वह विषयों से मुक्त होकर अपने ज्ञाता रूप मे अवस्थित हो जाता है। प्रो0 भट्टाचार्य इस चेतना को उपयोगी चेतना कहते हैं। इस चेतना में आत्म ' विषय ' को भोगता है, उसका आनन्द लेता है क्योंकि यहाँ चेतना आत्मकेन्द्रित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रथम स्तर में चेतना की विषय वस्तु ' तथ्य है। दूसरे स्तर में चेतना की विषयवस्तु ' आत्मनिर्भर विषय ' है। किन्तु तीसरे स्तर में चेतना का विषय ' आत्म ' ही है जिसे ' सत् ' कहा जाता है।

प्रो0 भट्टाचार्य की इस सत्ता को डेकार्ट ने 'चित्' तत्त्व से व्यक्त किया है। यह ज्ञाता है और ज्ञाता रूप में ही हम इसे जानते है। यह किसी ज्ञान का विषय नहीं हो सकता।[12] डेकार्ट का चित् तत्त्व इसी सत्ता को व्यक्त करता है।[13]

आध्यात्मिक विचार को स्पष्ट करते हुए स्वयं प्रो0 भट्टाचार्य कहते हैं - ' विषयीगत चेतना की विषय वस्तु न तो तथ्य है और न तो आत्मनिर्भर (सेल्फ सब्सिसटेट) । इसकी विषयवस्तु सत् है। सत् को हम ' आई ' के द्वारा व्यक्त करते है इसमें भाषा के द्वारा जो व्यक्त करते है वह भी विषयीगत चेतना से सम्बन्धित है । [14]

4. पारमार्थिक विचार :-

इस चतुर्थ स्तर की चेतना में पारमार्थिक चिंतन होता है जो आत्मगत और वस्तुगत दोनों से परे होता है। पारमार्थिक चेतना ने तो विषय और न विषयी की ओर सकेत करती है। इसकी विषय वस्तु निरपेक्ष है। इसको ' सिम्बोलिकली स्पोकेन ' रूप में जाना जाता है। इसकी विषय वस्तु परमसत्ता है तथा इसकी अभिव्यक्ति अतिव्याप्त दृष्टिकोण से की जाती है।[15]

ज्ञाता के रूप में चेतना की स्थिति सहज नहीं है। इससे भिन्न रूप मे अवस्थित रहने की सम्भावना उसमे विद्यमान है। ज्ञाता रूप से असम्बद्ध होने के पश्चात ही उसे अपने यथार्थ, पारमार्थिक तात्विक स्वरूप का साक्षात् होता है, जिसमे वह विषयों से ही सम्पूर्ण मुक्त नहीं होता प्रत्युत प्रक्षेपित अपने ज्ञाता रूप से भी मुक्त हो विशुद्ध चेतना रूप मे अवस्थित हो जाता है। ज्ञाता सीमित सापेक्ष सत्ता का प्रतीक है। जो ' ज्ञाता ' है वह ज्ञेय से स्थूल, सूक्ष्म अथवा सम्भाव्य किन्हीं रूपों मे से किसी भी एक के साथ अनिवार्यत सम्बद्ध रहता है। जो ज्ञाता है उसे विषयों से अपने पार्थक्य को सतत् बनाये रखना है। उसके स्वरूप का समर्थन इसी पार्थक्य की मध्यस्थता से होता है इसीलिए वह निर्विशेष नहीं हो सकता ।

अत. जब विचार ज्ञातारूप से भी विमुक्त हो जाता है तब यह अपने यथार्थ तात्विक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। जिससे वह अभी तक अनभिज्ञ था। इसी में ही उसकी स्वतन्त्रता है, क्योंकि वह समस्त प्रक्षेपित सत्ताओं से विमुक्ति की स्थिति है।

इस प्रकार निष्कर्षरूपेण संक्षेप में कहा जा सकता है कि चेतना के उपर्युक्त चतुर्भुज आयामों में -

1. आनुभविक विचार में हम निर्णय लेते हैं कि ' अ ' का ' ब ' से सम्बन्ध है। अर्थात् इस स्तर पर एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ के सम्बन्ध का अध्ययन किया जाता है।
2. शुद्ध वस्तुगत विचार के स्तर पर हम निर्णय लेते है वस्तु है । (' आब्जेक्ट इज ')
3. आध्यात्मिक विचार मे ' मैं चैतन्य हूँ ' इस भाव का ज्ञान होता है ।
4. पारमार्थिक विचार मे केवल सत् का ज्ञान रहता है।

प्रो0 भट्टाचार्य द्वारा प्रतिपादित सैद्धान्तिक चेतना के उपर्युक्त चार आयाम को निम्नलिखित तालिका द्वारा सुस्पष्ट किया जा सकता है -

	अ	ब	स
	सैद्धान्तिक चेतना	चेतना के विषय	स्पीकेबिल्टी
1.	आनुभविक विचार	तथ्य	स्पोकेन आफ
2.	शुद्ध वस्तुगत चेतना	स्वतः निर्भर	स्पोकेन
3.	आध्यात्मिक विचार	रियल्टी (आई)	स्पोकेन एज सिम्बोलाइज्ड
4.	पारमार्थिक विचार	सत् (निरपेक्ष) (Truth)	प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति

सैद्धान्तिक चेतना के उपर्युक्त चार स्तरों में से प्रथम विज्ञान से सम्बन्धित है शेष दर्शन से । इस प्रकार दार्शनिक ज्ञान त्रिविध स्तरीय होता है।[16] उल्लेखनीय है कि दर्शन के उक्त तीनों स्तर एक दूसरे से सर्वथा पृथक् नहीं हैं। हर स्तर में निहित उसकी तार्किकता उसे दूसरे स्तर की ओर बढ़ा देती है। वस्तुत. हर स्तर में ज्ञान का विषय एक ही है अन्तर यही है कि हर स्तर में उसका अयथार्थ बोध हो जाता है। हर स्तर में किसी न किसी रूप में हम इसे गलत समझ जाते हैं। और यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक हम अन्तिम स्तर तक नहीं पहुँच जाते। इस क्रम में हर स्तर क्रमशः निषेधित होता जाता है तथा हर ऐसा निषेध दूसरे स्तर के विश्वास को रूप देने का आधार बन जाता है। इस दृष्टि से बाद में आने वाला हर स्तर एक प्रकार से अपने पहले के स्तर से ही निकल आता है, उससे आपादित होता है। अन्तिम स्तर में कुछ निषेधित होने के लिए बचा ही नहीं रहता, इसी कारण वह अन्तिमस्तर है। इस प्रकार दार्शनिक चिंतन को एक क्रमिक चिंतन-प्रक्रिया के रूप में सोचा जा सकता है। दार्शनिक निर्णयों का एक प्रकार से एक क्रम बनाया जा सकता है जिसमें एक स्तर के निर्णयों का निषेध दूसरे स्तर के निर्णयों तक ले जाता है और यह क्रम तब तक चलता है जब तक अन्तिम स्तर न प्राप्त हो जाय । यह अन्तिम स्तर निषेधों से भी परे है।

शुद्ध वस्तुगत विचार का सम्बन्ध प्रो0 भट्टाचार्य के ' दि फिलासफी ऑफ आब्जेक्ट ' से है। आध्यात्मिक विचार का सम्बन्ध ' दि फिलासफी ऑफ सब्जेक्ट ' से है। पारमार्थिक विचार का सम्बन्ध ' दि फिलॉसफी ऑफ ट्रुथ ' से है। फिलासफी ऑफ आब्जेक्ट, फिलासफी ऑफ सब्जेक्ट और फिलासफी ऑफ ट्रुथ को हम प्रतीकात्मक विचार कह सकते हैं। अब हम इनमें से एक -एक पर विचार करेंगे ।

विषय का दर्शन :-

विज्ञान की विषयवस्तु ' तथ्य रूप विषय ' का अतिक्रमण या निषेध करने के उपरान्त ही विषय के दर्शन की विषय वस्तु ' आत्मनिर्भर ' तक पहुँचा जा सकता है। जिस विषय से दर्शन का सम्बन्ध है, वह तथ्यात्मक नहीं है। क्यों कि दर्शन विचार है और इसका विषय ' तथ्य ' नहीं हो सकता । बल्कि यहाँ इस विषय के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि यह विचार की विषय परकता में स्पष्ट हुआ विषय है। यह कोई ' तथ्य ' नहीं । कोई ' वस्तु ' नहीं यह केवल वस्तु निष्ठता का एक रूप है। दर्शन के इस स्तर मे विचार मे विषय का आत्म से सम्बन्धित होने का अवबोध है।

इस प्रकार ' विषय ' के दर्शन में भी 'विचार' की प्रधानता खण्डित नहीं होती। यहाँ विषय से तात्पर्य कोई 'वस्तु' नहीं है। कोई 'अस्तित्ववान' तथ्य नहीं है। 'अस्तित्व' के लिये हमारे विचारों से पृथक् वस्तु का स्वतन्त्रत रूप में रहना आवश्यक है। अर्थात् चाहे वस्तु हमारे विचारों का विषय बने या न बने तथापि उसकी स्वतन्त्र स्थिति सुरक्षित रहती है। किन्तु विषयकी विषयनिष्ठता के लिए यह आवश्यक शर्त नहीं है। विषयनिष्ठता के लिए आत्म से पूर्णतया स्वतंन्त्र होना आवश्यक नहीं, आत्म इसे अपने वैचारिक विषय के रूप में जान लेता है।

कांट का विचार है कि स्वलक्षण वस्तुयें अज्ञेय हैं। इस स्थल पर प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य और इमैन्युअल कांट में असहमति स्पष्ट है। वस्तुतः कांट ने विषयनिष्ठता के इस स्वरूप को समझने में भूल की थी। उन्होने स्वलक्षण वस्तुओं को आत्मा से स्वतन्त्र कर दिया । वे ' स्वलक्षण ' में वस्तु को मात्र विषयनिष्ठ नहीं अस्तित्ववान भी मान लिये। यदि यह समझ लिया जाय कि - विषयनिष्ठता आत्म से सम्बन्धित होने में भी सुरक्षित है तो इस प्रकार के विषयनिष्ठ विषय अज्ञात एवं अज्ञेय नहीं रह जाते क्योंकि आत्म को उनका अवबोध है।

अतः विषय के दर्शन का सम्बन्ध उस विषय से है जिसकी अवगति का अनिवार्य अंग उसका आत्म से सम्बन्धित होना है। यह विषयनिष्ठता की एक विशिष्ठ परिभाषा है। विषयनिष्ठता 'तथ्य' नहीं, तथ्यात्मक भी नहीं यह तो वह परिस्थिति है - वह वैचारिक स्थिति है जिसमे कुछ वस्तुपरक ढंग से समझा जाता है, जाना जाता है।

आत्म का दर्शन : (फिलोसफी ऑफ स्पिरिट)

भट्टाचार्य का मन्तव्य है कि कोई तात्विक अवधारणा तब तक स्पष्ट नहीं हो सकती जब तक उसे आत्मा के सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में न देखा जाय। तात्विक विषय से क्या तात्पर्य है - उनसे कुछ ऐसा ही सूचित हो सकता है जिसकी आन्तरिक अनुभूति उनमें विश्वास का आधार है। वह कुछ ऐसा ही हो सकता है जिसमें विश्वास करने का आधार मात्र यही है कि उसे भोगा जा रहा है। इस उपयोगी अवबोध का क्या तात्पर्य है? इसका तात्पर्य है कि यह अवबोध 'विषय' को दूर रखकर नहीं होता, बल्कि उसे आत्मसात कर उसे अनुभूत कर होता है। यहाँ 'विषय' की पृथकता ही समाप्त हो जाती है, वह आत्मा का अंग बन जाता है। इस प्रकार का ज्ञान जिसका अवबोध भोगकर, अनुभूत कर या आत्मसात कर होता है, आत्मा के दर्शन की विषय वस्तु है ।

उपरोक्त विवेचन को स्पष्ट करने के लिए आत्मनिर्भर विषय तथा सत् के भेद को स्पष्ट करना आवश्यक है। आत्म - अवस्थित विषय की चेतना विषयनिष्ठ अवस्थिति की चेतना है, यहाँ विषयनिष्ठा से सम्बन्ध टूटा नहीं, विचार की प्रकृति विषयपरक ही रहती है। किन्तु सत् की चेतना इस प्रकार की अभिवृत्ति से संभव नहीं। सत् को तो विषय बनाकर जाना ही नही जा सकता, उसके अवबोध के लिए उसे भोगना है, अनुभूत करना है, आत्मसात करना है। यह क्रिया आत्मकेन्द्रित क्रिया है जहाँ विषय की दूसरे विषय से सम्पर्क नहीं है। यह एक उपभोगी चेतना है और आत्मा के दर्शन का मूल सम्बन्ध इसी विषय से है। इस चेतना का केन्द्र ' मैं ' है और इसे अन्तर्निरीक्षण के द्वारा ही जाना जा सकता है। इस अन्तर्निरीक्षण में ' विषय ' से या ' विषयपरकता ' से सम्बन्ध पूर्णतया टूट जाता है। यह ऐसा आत्मकेन्द्रन है जिसके अवबोध में विषय-मान सर्वथा नहीं है।

परन्तु इस अन्तर्निरीक्षण आधारित चेतना केभी तीन स्तर है, जो क्रमिक भी है-

(क) प्रथमतः ' मैं ' की चेतना, वह 'मैं' है जो शरीरधारी है।

(ख) पुनः उस चेतना में 'आत्म' की चेतना है, जिसमे अन्य आत्मों की चेतना भी उत्पन्न हो जाती है।

(ग) इस आत्मकेन्द्रित अन्तर्निरीक्षण मे एक परम आत्म की चेतना भी उत्पन्न हो जाती है। यही

चेतना धार्मिक चेतना का आधार बन जाती है। आत्मा के दर्शन मे इन तीनों स्तरों से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार होता है।

सत्यता का दर्शन :-

सैद्धान्तिक चेतना के उपरोक्त स्तर (आत्मा का दर्शन) पर पूर्ण मुक्ति सभव नही हो पाती है। वास्तविक मोक्ष की स्थिति में 'मैं' की अनुभूति का भी विलय हो जाता है। इससे भी उच्चतर आध्यात्मिक चेतना सम्भव है जहाॅ उपरोक्त स्थिति की प्राप्ति सभव है। यह चेतना 'आत्म' 'विषय' आदि के भेद से ऊपर उठ जाती है - यही चरम या परम सत्य की चेतना है। जिसे निरपेक्ष सत् भी कहा जाता है। इस चेतना मे ' मै ' की भवना का निषेध हो जाता है। पूर्ण निरपेक्ष सत् को भोगा नहीं जा सकता, आत्म अपने मे आत्मसात् नहीं कर सकती है। इसमें विश्वास एक ऐसे अवबोध पर आधृत है जो निषेधों से संरचित है, प्रतीकों से सूचित है। यह सैद्धान्तिक चेतना का उच्चतम रूप है। इसी कारण इस चेतना को न आत्मपरक कहा जा सकता है और न विषयपरक । इसे पूर्णतया अनुभवातीत चेतना कहा जाता है। इसी अर्थ में इस चेतना का विषय अनिर्वचनीय है, पूर्णतया अनिर्धारित है। यही अनिर्वचनीय परमसत् सत्यता के दर्शन का केन्द्र है। इन्द्रियों की यहाॅ तक पहुॅच नही है। वाणी के द्वारा इसका वर्णन नहीं किया जा सकता ।

निरपेक्ष सत् या ईश्वर की विशेषताओं के सम्बन्ध मे पाश्चात्य दार्शीनक स्पिनोजा का मन्तव्य है कि परमसत् का कोई निर्वचन शक्य नहीं है, क्योंकि निर्वचन करत ही बुद्धि के विकल्प ईश्वर को सीमित कर देते है, गुण हमारी बुद्धि के धर्म है। अत निरपेक्ष सत् का निषेधात्मक निरूपण ही सर्वोत्तम निरूपण है। इसी तरह से प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य का भी विचार है कि वस्तुत· हम निषेध के माध्यम से ही निरपेक्ष सत् की अवगति या अवबोध तक पहुँच सकते है। कोई भी ज्ञात भाव या कोई ज्ञात अन्तर्वस्तु निरपेक्ष सत् का निरूपण करने मे असमर्थ है क्योंकि हर भावात्मक सम्बन्ध उसे कुछ हद तक सीमित कर देगा। यदि किसी प्रकार हम निषेध–प्रक्रिया को उसकी उच्चतम सीमा तक ले जा सके तो उसी रूप में निरपेक्ष सत् की अवगति संभव है। अत. निषेध को उनके दर्शन के आधार के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। ' निषेध ' का अर्थ है किसी वस्तु की भ्रामकता के आधार पर निरसन। साधारण भ्रम के उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है। जब हम रज्जुसर्प के भ्रम में सर्प की प्रतीति का खण्डन करते हैं तो हम 'निषेध' का स्पष्ट उपयोग करते है। ' रज्जु-सर्प ' के भ्रम में सर्प भ्रामकता के कारण निषेधित हो गया।

किसी भी वस्तु का निषेध करते समय भ्रामकता के निषेध की चार सम्भावनाये उभर कर सामने आती हैं -

(1) जो कुछ भी देखा गया है उसी का निषेध होता है।

(2) भ्रम में जो दिखाई देता है वह भावात्मक तो है किन्तु तथ्य से भिन्न है और किसी प्रकार उस समय तथ्य से सम्बन्धित भी है।

(3) जो भ्रम मे दिखाई देता है अर्थात् जो निषेधित होता है वह तथ्य ही है।

(4) जो निषेधित होता है वह कोई सत्ता नहीं। यहाँ निषेध प्रक्रिया सभी सत्ताओं से ऊपर उठ जाती है।[17]

उपर्युक्त वर्गीकरण को यदि ध्यान के विभिन्न भावात्मक एवं अभावात्मक रूपों के साथ मिलाकर विचार किया जाये तो ध्यान के चार स्तर होते हैं:-

(1) पहले स्तर मे ध्यान भावात्मक रूप में ' विषयवस्तु ' पर केन्द्रित होता है।

(2) दूसरे स्तर में ध्यान क्रमश विषयों एवं विषय दोनों पर केन्द्रित होता है।

(3) तीसरे स्तर मे ध्यान विषयी - विषय दोनों पर एक साथ केन्द्रित होता है अर्थात् यहाँ ध्यान का केन्द्र विषयी - विषय का एक सगठित रूप हो जाता है।

(4) चतुर्थ स्तर निषेधात्मक ध्यान का स्तर है जहाँ एक प्रकार से विषयी - विषय से ध्यान का प्रत्याहरण हो जाता है, ध्यान दोनों से परे हो जाता है।

प्रो0 भट्टाचार्य का मत है कि इस वर्गीकरण के आधार पर निषेध के विभिन्न ढर्गों तथा उनके अनुरूप दार्शनिक दृष्टियों का निर्धारण निम्नवत् किया जा सकता है .-

(1) निषेध का प्रथम स्तर ध्यान के उस प्रथम स्तर के अनुरूप है जिसमे ध्यान दृष्टिपथ / विचारपथ पर आये हुए सम्पूर्ण विषयों में से किसी विषय पर केन्द्रित हो जाता है। इस प्रक्रिया मे ध्यान जिस विषय पर केन्द्रित होता है उसके अलावा बाकी सब कुछ निषेधित हो जाता है। अत यहाँ उस वस्तु का निषेध हो रहा है जो विषय के रूप में स्पष्ट नहीं होता । यहाँ विषय जो प्रदत्त है वह पूर्णतया ' विषयनिष्ठ ' है। यहाँ एक प्रकार की विषयनिष्ठता की अभिवृत्ति उत्पन्न होती है/ अत इसके अनुरूप जो दार्शनिक दृष्टि सरचित होती है उसे सर्ववाह्य―वाद या सर्वविषय―निष्ठतावाद कहा जा सकता है।

(2) दूसरे स्तर पर ध्यान बारी-बारी से विषय तथा विषयी दोनों पर केन्द्रित होता रहता है। इसमे विषय तथा विषयी परस्पर विरोधी नहीं प्रतीत होते और न दोनों को भ्रामक ही कहा जा सकता है। अत· कहा जा सकता है कि जब क्रम मे ध्यान ' विषय ' पर केन्द्रित होता है तो उस समय ' विषयी ' निषेधित हो जाता है, और जब विषयी पर ध्यान केन्द्रित हो जाता है उस समय विषय निषेधित हो जाता है। इस प्रकार विषय और विषयी क्रमश. निषेधित होते रहते है। इस प्रकार के निषेध के अनुरूप जो दार्शनिक सिद्धान्त उभरता है उसे द्वैतवाद कहा जाता है।

(3) इस स्तर पर ध्यान विषयी और विषय पर एक साथ केन्द्रित होता है। ध्यान की इस विधा में विषय - विषयी एक व्यवस्था के दो पक्ष के रूप में स्पष्ट होते हैं। इस अवस्था की एक विशिष्टता यह भी है कि इसमें पूर्ण अनिश्चितता भी नही रहती, साथ-साथ यह भी प्रतीत होता रहता है कि ध्यान की यह अवस्था अन्तिम अवस्था नहीं है। भट्टाचार्य कहते हैं - 'इस अवस्था में विषयी भी विषय के रूप मे स्पष्ट हो सकता है तथा विषय भी विषयी के रूप में स्पष्ट हो सकता है। इस प्रकार दोनों का भेद मिटता प्रतीत होता है। फिर भी साथ - साथ यह भी प्रतीत होता रहता है कि यह ध्यान की अंतिम अवस्था नहीं है, इसमे एक संगठित व्यवस्था की प्रतीति होती है किन्तु साथ - साथ यह भी लगता रहता है कि ध्यान की विधायें समाप्त नही हुई।[18]

(4) इस स्तर मे ध्यान किसी भावात्मक बिन्दु पर केन्द्रित नहीं होता - न किसी आत्मनिष्ठ और न किसी विषयनिष्ठ बिन्दुपर। वैसे प्रारम्भ मे ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी प्रवृत्ति भी भावात्मक ही है। यहाँ प्राथमिक बिन्दु जिससे इस अवस्था का प्रारम्भ है, वह एक प्रकार की व्याघातकता की स्थिति हो जाती है जिसे अनुभवातीत निषेध कहा जा सकता है। यहाँ हर प्रकार के अवधारक निषेधित हो जाते हैं। ध्यान की इस निषेधात्मक विधा मे क्या प्रकाशित हुआ यह निर्धारित नहीं होता, किन्तु यह विधा ही एक प्रकार की निश्चितता के साथ स्पष्ट होती है। निरपेक्ष सत् के अवबोध का यही आधार है। यह निषेध का तथा अभावात्मक ध्यान का पूर्ण विकसित रूप है। जहाँ आत्म की चेतना मे ' आत्म ' का ही निषेध हुआ रहता है। इसी प्रकार की क्रिया से निरपेक्ष सत् का अवबोध संभव है।

निष्कर्षरूपेण कहा जा सकता है कि आत्मा को सत् की अनुभूति के लिए निषेध के विभिन्न स्तरों से होकर क्रमिक रूप से ऊपर उठना ़ड़ता है। मनुष्य का सामान्य जीवन आनुर्भविक स्तर का है। अत प्रथम निषेध ' आनुभविक वस्तु ' का होता है यह निषेध एक ' शुद्ध विषय ' पर ध्यान ले जाता है। यह शुद्ध विषय विचार में पृथक् तथा विषयी से स्वतन्त्र प्रतीत होता है और तब इस ' शुद्ध विषय ' का निषेध होता है। इस दूसरे निषेध मे ध्यान विषयी परक हो जाता है। आत्मा की ओर केन्द्रित हो जाता है किन्तु इस ' आत्म ' का भी निषेध संभव है। किसी तात्विक अनुभूति में ' मैं ' भी तिरोहित या निषेधित हो जाता है। यह निषेध की चरम सीमा है। अत इसमे कुछ भावात्मक स्वीकारना नहीं होता है और तब ऐसा कुछ रह ही नही जाता जिसका आगे निषेध है। यह निषेध ' मै ' की चेतना के परे चला जाता है और इसी कारण यह पूर्णतया निषेधात्मक रूप ' परमसत् ' के अवबोध का आधार बन जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि निषेधों के विभिन्न स्तरों के माध्यम से ही परमसत् या निरपेक्ष सत् की ओर उठने की प्रक्रिया चलती है। इसी अर्थ में ' निषेध ' को प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के तात्विक विचारों का आधार कहा जा सकता है।

उपरोक्त पूरी प्रक्रिया तथा पूरे विचार को पूर्णरूपेण समझने के लिए भट्टाचार्य की पूर्ण स्वतन्त्रता की अनुभूति के क्रम का विवेचन अपेक्षित है। परन्तु पूर्ण स्वतन्त्रता की अनुभूति के क्रम को समझने के लिये उसे सुगम बनाने के लिये भट्टाचार्य की ' आत्मपरकता ' की अवधारणा का विश्लेषण अनिवार्य होगा ।

विषयी एवं विषय में अन्तर

प्रो0 भट्टाचार्य के अनुसार तत्त्वमीमांसा मे दो प्रमुख पद है - एक विषयी तथा दूसरा विषय। इन्हीं दोनों पदों को लेकर दर्शनशास्त्र में क्रमशः प्रत्ययवाद और यथार्थवाद - दो दार्शनिक विचारधाराये उभरकर सामने आयी हैं। परन्तु यथार्थवादी और प्रत्ययवादी किसी भी दृष्टिकोण द्वारा परमसत् के स्वरूप का अन्तिम निरूपण नहीं किया जा सकता क्योंकि इन परस्पर विरोधी धाराओं मे ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत को अन्तिम मान लिया गया है। यथार्थवादी या वस्तुवादी दृष्टिकोण में वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की जाती है। उसके अस्तित्व के लिए ज्ञाता का अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक नहीं। प्रत्ययवादी दृष्टिकोण चेतना के ज्ञाता स्वरूप को ही अन्तिम और मूल मान लेता है। किन्तु परम सत् इन दोनों रूपों से भिन्न रूप में अवस्थित है। इसलिए सम्बन्धात्मक चेतना के माध्यम से उसे अभिव्यक्त करना उचित नहीं। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ' सब्जेक्ट एज फ्रीडम ' में प्रो0 भट्टाचार्य विषय की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि ' विषय ' वह है जिसे अभिप्रेत किया जा सके। इसे हम 'व्हाट इज मीन्ट' कह सकते हैं। विषय की चेतना सदैव अर्थ चेतना होती है। ' अर्थ चेतना ' सदैव सम्बन्धों के बीच होती है। दूसरे शब्दों में, विषय चेतना, वस्तुओं का क्या स्वरूप है? उसकी क्या विशेषतायें हैं? एक विषय दूसरे विषय से किस प्रकार सम्बन्धित हैं, उनमें आपस मे समानता है या असमानता आदि तथ्यों से सम्बन्धित होती है। विषयी - चेतना सदैव अर्थ - चेतना से भिन्न होती है। विषयी - चेतना विषय से अपने को अलग करने में निहित है। विषयी एक ऐसी सत्ता है जो अर्थों के जगत् से पृथक् होते हुए भी एक अपूर्व अर्थ में अर्थपूर्ण है। इस प्रकार के ज्ञान को अन्त अनुभूति की संज्ञा दी जाती है। यह अर्थ - चेतना नहीं है बल्कि स्वचेतना है। अर्थचेतना में द्वैत का बोध रहता है किन्तु अन्तस्तम की चेतना में द्वैत का बोध नहीं रहता है।[19]

एफ0 एच0 ब्रेडले का मत है कि विचारों के माध्यम से सत् की प्राप्ति नही की जा सकती। क्योंकि विचार अस्तितत्व और अन्तर्वस्तु के द्वैत से संयुक्त होता है। जबकि सत् में इसका पूर्ण तादात्म्य पाया जाता है। कहने का तात्पर्य है कि सत् की प्राप्ति में विचार को आत्महत्या करनी पडेगी। इस स्थल पर प्रो0 भट्टाचार्य प्रसिद्ध फ्रासीसी दार्शनिक ब्रेडले से पूर्ण सहमति रखते है। अपनी पुस्तक ' आभार और सत् ' में ब्रेडले कहता है कि निर्विकल्प अनुभूति की अवस्था मे ज्ञाता

और ज्ञेय का द्वैत समाप्त हो जाता है।

'निरपेक्ष तत्त्व दर्पण मे अपने प्रतिबिम्ब को नहीं देखना चाहता और न गिलहरी की तरह किसी पिजडे में अपने पूर्णता के वृत्त की परिक्रमा ही करना चाहता है।'[20] पूर्ण अवस्था की प्राप्ति पर गति के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता है। इस प्रकार की पूर्ण अवस्था मे उस अव्यवहिततत्व का एक श्रेष्ठ रूप होगा जो अनुभूति में पाया जाता है और इस पूर्णता में सारे विभाग विलीन हो जायेंगे।

' वह एक ऐसा पूर्ण अनुभव होगा जिसमें सारे तत्व समन्वित रूप में होंगे। वहाँ विचार एक श्रेष्ठ अनुभूति के रूप में होगा, संकल्प का वह रूप होगा जिसमे आदर्श यथार्थ हो चुका होगा और इस समस्त सिद्धि में सौन्दर्य , सुख तथा भावना सभी बनी रहेगी ।'[21]

विषय की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति अंग्रेजी शब्द ' दिस ' द्वारा की जा सकती है। कोई भी विषय ' दिस ' कहा जा सकता है। एफ0 एच0 ब्रेडले ने भी ' दिस ' को विषय का सकेत सूचक माना है ।[22]

विषयी की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति अंग्रेजी शब्द ' आई ' के द्वारा की जा सकती है। वह (He) तथा तुम (You) शब्द भी विषयी के लिए प्रयुक्त किये जा सकते हैं। परन्तु जहाँ तक विषयी की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति का प्रश्न है ' विषयी ' की ' मैं ' के रूप मे अभिव्यक्ति ' ही ' तथा ' यू ' से अधिक मौलिक प्रतीत होती है। आचार्य शंकर के दर्शन में भी ' तत्त्वमसि ' की अनुभूति के उपरांत ही ' अह ब्रह्मास्मि ' की अनुभूति होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य शकर भी ' अहं ब्रह्मास्मि ' की अनुभूति को ' तत्त्वमसि ' की अनुभूति से अधिक मौलिक मानते है। अत इस स्थल पर भट्टाचार्य के विचार आचार्य शकर के ही विचारों का समर्थन करते हैं। विषय और विषयी के विवेचन को और सुस्पष्ट करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं कि ' यह ' शब्द का प्रयोग एक ही वस्तु के लिए एक साथ विभिन्न व्यक्तियों द्वारा तथा भिन्न - भिन्न वस्तुओं के लिए विभिन्न व्यक्तियों द्वारा प्रयोग किया जा सकता है। एक वक्ता जिस चीज को देख रहा है उसके लिए ' दिस ' शब्द का प्रयोग करता है। तथा दूसरा वक्ता किसी भी दूसरी वस्तु के लिए ' दिस ' शब्द का प्रयोग कर सकता है। वक्ता तथा श्रोता दोनों ' दिस ' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं।[23]

परन्तु ' आई ' के साथ यह बात लागू नहीं होती है। यदि ' आई ' शब्द

का प्रयोग मैं करता हूँ तो मेरा अभिप्राय स्वयं से है। यदि कोई दूसरा व्यक्ति ऐसा प्रयोग करता है तो वह अपने सन्दर्भ में करता है।

चूँकि विषय या वस्तुयें भिन्न - भिन्न होती है अत विषय का प्रयोग व्यक्ति वाचक और समूह–वाचक दोनों रूपों मे किया जा सकता है। परन्तु विषयी को व्यक्ति वाचक या समृह वाचक नहीं कहा जा सकता है। कुछ सीमा तक कुछ अर्थों मे इसे व्यक्तिवाचक या समूह वाचक कह सकते हैं। इसे व्यक्तिवाचक कहते हैं क्योंकि सभी व्यक्ति इसका प्रयोग अपने लिये करते है। इसे समूह वाचक इसलिए कहते हैं क्योंकि सभी व्यक्ति इसका प्रयाग करते हैं।

कभी - कभी विषयी को विषय की तरह प्रयुक्त किया जा सकता है किन्तु विषय को कभी भी विषयी की तरह प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है। यथा - यदि कोई व्यक्ति कहता है कि ' मै नेता हूँ ' तब यहाँ विषयी का वस्तुगत सन्दर्भ हो जाता है। यहाँ विषयी का अस्तित्व एक विशेष सन्दर्भ मे है। यहाँ ' आई ' ' दिस ' की तरह प्रतीत होता है। किन्तु कोई भी विषय विषयी की तरह प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है।[24]

पुन· इन दोनों सत्ताओं की चर्चा करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं कि ज्ञेय जगत की सत्ता के विषय में सन्देह किया जा सकता है। उसका निराकरण संभव है किन्तु ' विषयी ' की सत्ता का निराकरण किसी भी स्थिति में संभव नहीं है। भला जो समस्त विषयों के निराकरण का आधार है उसका निराकरण कैसे किया जा सकता है । सही बात तो यह है कि निराकरण शब्द की सार्थकता भी व्यावहारिक जगत (ज्ञेय जगत्) मे ही संभव है। ज्ञेय जगत के अन्तर्गत ही एक तथ्य का निराकरण अन्य तथ्यों के आधार पर सभव हो पाता है, एक के निराकरण द्वारा दूसरे की संस्थापना होती है क्योंकि दोनों सत्तायें एक जैसी ही है। किन्तु वह जो निराकरण की पृष्ठभूमि मे विद्यमान, निराकरण को संभव बनाने वाला आधारभूत तत्त्व है उसका निराकरण किस प्रकार और किसके द्वारा सभव है? पुनः सामान्य विचार की भाषा में उक्त सत्ता अचिन्त्य कही जा सकती है। किन्तु ' वास्तव मे वह अचिन्त्य है ' यह कहना भी उपयुक्त नहीं। ' अचिन्त्य ' शब्द का प्रयोग उस सत्ता के लिए ही किया जा सकता है जिसके निराकरण की कल्पना और प्रयास दोनों ही सभव है और जो उक्त प्रयास के बाद ही अचिन्त्य ठहराई गयी हो। किन्तु विषयी तो एक ऐसी सत्ता है जिसके निराकरण की कल्पना और प्रयास दोनों ही असंभव है। यह तो गूँगे द्वारा किया गया मीठे फल का रसास्वादन

है जिसकी अनुभूति तो वह कर सकता है परन्तु शब्दों के माध्यम से उसका वर्णन नहीं कर सकता। उपनिषदों मे इसी सत्ता का वर्णन करते हुए कहा गया है - ' यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।' प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य शकराचार्य के इस मत से सहमत प्रतीत होते हैं कि ज्ञान के सभी साधनों की पूर्णता आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान मे पहुँचकर ही होती है।[25] यह अपरोक्षानुभूति इतनी निश्चित होती है कि सभी संशयों की जड उच्छिन्न हो जाती है।[26] फ्रासीसी दार्शनिक एफ0 एच0 ब्रेडले भी विषयी को सामान्य भाषा के माध्यम से अवर्णनीय और अचिन्त्य ही मानता है। वह चेतन अनुभूति को ही एकमात्र तत्त्व मानता है। उसके अनुसार अनुभूति ही एक ऐसी वस्तु है जिसका निराकरण या निषेध नहीं किया जा सकता है। क्योंकि निराकरण में ही इसकी सत्ता सिद्ध हो जाती है। ' मेरी समझ मे जो तथ्य इससे बाह्य है वह शब्द मात्र और एक असफलता है। अथवा वह एक आत्मव्याघातक प्रयत्न है। यह एक दोषपूर्ण प्रत्याहार है जिसका अस्तित्व निरर्थक असगति है और इसलिए असंभव है।[27]

आत्मा की क्रमिक स्वतन्त्र चेतना

ज्ञाता-ज्ञेय द्वैत के विभिन्न स्तर :

आचार्य शकर के मतानुसार जीव (आत्मा) अविद्याग्रस्त होकर बाह्य विषयों के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है, परीणामस्वरूप नाना प्रकार के सुख और दु ख का भागी बनता है। वस्तुत सुख और दु ख आत्मा को ग्रसित नहीं कर सकते हैं। जिस प्रकार एक पिता अपने पुत्र को सुखी और दु.खी देखकर स्वय तदनुसार सुख और दुःख का अनुभव करने लगता है। उसी प्रकार जीव भी आत्मस्वरूप को विस्मृत कर शरीर के सुख, दुःख को अपना धर्म स्वीकार कर लेता है। जिस क्षण आत्मा इन अनात्म विषयों से अपना सम्बन्ध तोड़ लेगी उसी क्षण आत्मस्वरूप का साक्षात् कर सभी बन्धनों से मुक्त हो जायेगी । प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, आचार्य शकर के उक्त मत से पूर्ण सहमति रखते हुए आत्मा के मोक्ष या मुक्ति का अर्थ उसका बाह्य विषयों से पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद स्वीकार करते है । आत्म स्वातन्त्र्य को स्पष्ट करते हुए भट्टाचार्य कहते है ' आत्म स्वातन्त्र्य का तात्पर्य यह है कि आत्मा वस्तुबोध से अपने को क्रमानुसार स्वतन्त्र कर लेती है। परन्तु अविद्याग्रस्त होकर आत्मा (जीव) बाह्य जगत के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती है कि वस्तु (विषय) और आत्मा के अन्तर को सुस्पष्ट कर पाना टेढ़ी खीर हो जाती है। दोनों में ऐसी कोई विभाजक रेखा नहीं खीची जा सकती है जो दोनों के क्षेत्र को निश्चित कर दे । व्यक्ति को जो कुछ भी अनुभव होता है, वही वस्तु सज्ञा के अन्तर्गत आता है। जैसे - प्रकाश के लिए छाया है वैसे ही व्यक्ति के लिए वस्तु है। जिन विभिन्न रूपोंमेंज्ञाता-ज्ञेय का द्वैत व्यञ्जित होता है, प्रो0 भट्टाचार्य उसे तीन स्तरों में विभाजित करते है .-

(ए) शारीरिक आत्मगत चेतना या दैहिक विषयि निष्ठता ।

(बी) मनोगत आत्मगत भावना या मानसिकीय विषयिनिष्ठता ।

(सी) आध्यात्मिक आत्मभावना या आध्यात्मिक विषयिनिष्ठता ।

शारीरिक आत्मगत चेतना -

बन्धन की प्रथम अवस्था में आत्मा बाह्य विषयों (शरीर आदि) के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेती है। बाह्य विषयों को आत्मवत् समझने लगती है। शारीरिक आत्मगत चेतना के भी तीन स्तर हैं -

(क) शरीर विषय रूप मे ।

(ख) शरीर अनुभूति रूप मे

(ग) वस्तु की अनुपस्थिति जो वर्तमान तथ्य की तरह जाना जाता है।

सर्वप्रथम यह शरीर बाह्य रूप में दिखाई पड़ता है। उसी को हम आत्मा समझते है। इस स्तर पर आत्मा बाह्य शरीर के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेती है। मै मोटा हूँ, मै पतला हूँ, मै लम्बा हूँ, मै नाटा हूँ, मैं सुन्दर हूँ, मैं कुरूप हूँ आदि में अपने को समझती हुई आत्मा बाह्य शरीर के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेती है। परिणाम स्वरूप तदनुरूप सुख, दु:ख का भोग भी करती है। चेतना के द्वितीय स्तर पर यद्यपि आत्मा का शरीर के साथ तादात्म्य बना रहता है तथापि वह बाह्य शरीर से अपना सम्बन्ध तोड़कर शरीर की आन्तरिक अनुभूतियों, आन्तरिक भावनाओं के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेती है। मै सुखी हूँ, मैं दु.खी हूँ आदि आन्तरिक अनुभूति से अपना सम्बन्ध जोड़ लेती है। चेतना के तृतीय आयाम में हम शारीरिक सीमाओं से ऊपर उठने का प्रयास करते हैं। यह एक ऐसा स्तर है जिसमे हम एक शरीर या वस्तु का अभाव महसूस करते है। भीतर से अनुभूति रूप में शरीर ज्ञाता रूप में अवस्थित होकर स्वयं अपने वस्तुरूप से अपने को पृथक कर लेता है। यद्यपि इस अवस्था में आत्मा मे शरीर से अलग होने की छटपटाहट तो रहती है परन्तु वह शरीर से बिल्कुल ही अलग नहीं हो जाता है। आत्मा एक विशेष प्रकार के शारीरिक अभाव या अनुपस्थिति की अनुभूति करती है। यह अभाव या अनुपस्थिति का ज्ञान दो तरह का हो सकता है -

(1) काल्पनिक प्रत्यक्ष के द्वारा अनुपस्थिति का ज्ञान

(2) सचेतन प्रत्यक्ष के द्वारा अनुपस्थिति का ज्ञान

उपर्युक्त दोनों स्थितियों की व्याख्या निम्नलिखित दो उदाहरणों के द्वारा की जा सकती है -

1. मानलिया किसी स्थान पर एक वृक्ष था और कुछ समय के बाद देखते हैं कि उस स्थान में एक भिन्नता दिखाई पड़ती है। सर्वप्रथम यह मालूम नहीं पड़ता है कि वृक्ष के अभाव मे ही वह भिन्नता दिखाई पड़ती है। बाद में हम इस बात को जान जाते हैं कि किसी वस्तु का अभाव है लेकिन किस वस्तु की अनुपस्थिति है, यह मालूम नहीं है।

2. माना कि एक व्यक्ति पुस्तकालय में किसी पुस्तक की खोज कर रहा है लेकिन वह पुस्तक

नहीं मिलती है। उसे यह जानकारी है कि किस वस्तु का अभाव है। इन दोनों प्रकार की अनुभूतियों में हमे अभाव या अनुपस्थिति का ज्ञान होता है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि कैसे आत्मा अपने को वस्तु से भिन्न करता है। यद्यपि कि अभाव या अनुपस्थिति का ज्ञान शारीरिक आत्मभावना के स्तर पर है किन्तु यहाँ सथूल शरीर से भिन्नता का बोध होता है। इसी अभाव के ज्ञान के स्तर से हम मनोमय आत्मा के अन्दर प्रवेश करते है जिससे चित्र और विचार से अपनी आत्मा का तादात्म्य स्थापित करते हैं।

मनोमय आत्म चेतना -

आत्मगत चेतना का दूसरा स्तर मनोमय आत्म-भावना से प्रारम्भ होता है। इस स्तर पर ज्ञाता/विषयी शरीर का निषेध कर अपना आकृति और विचार के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। प्रतिमा किसी भी वस्तु को सामने उपस्थित करने के लिए आकार प्रदान करती है।

इस स्तर पर ज्ञाता की वस्तु से सम्बद्धता रहती है लेकिन वस्तु दिक् और काल से आबद्ध नहीं है। भाव विश्वव्यापी प्रत्ययों या अमूर्त प्रत्ययों से सम्बन्धित है। विचार इस तरह वस्तु के स्वभाव से अपने को भिन्न मानता है। चित्र और विचार, प्रतिमा एव भाव के स्तर पर ' विषयी ' दिक् और काल से आबद्ध न होकर उससे ऊपर उठ जाता है। इस तरह शरीरगत आत्मभावना का निषेध मनोमय आत्मगत भावना को स्वीकार करता है। परन्तु इस स्तर पर भी आत्मा आत्मभाव में विद्यमान नहीं हो पाती है क्योंकि इस स्तर पर भी ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत विद्यमान रहता है। मनोमय आत्म चेतना के इसी स्तर को ह्यूम ने अन्तिम मान लिया और आत्मतत्त्व को किसी अन्य रूप मे स्वीकार करने से उन्होने स्पष्ट इन्कार किया है। वे कहते है जिसे हम सामान्यत आत्मतत्त्व कहते है। उसका जब हम साक्षात् करने का प्रयास करते हैं तब इन मन· वृत्तियों के अतिरिक्त हमे कुछ भी नही दिखलाई पड़ता। ' जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मै तो जब - जब अपनी इस आत्मा को देखने के लिए इसके भीतर, खूब भीतर घुसता हूँ तब - तब किसी न किसी विशेष संवेदन या विज्ञान से ही टकराकर रह जाता हूँ, जो सवेदन या विज्ञान, गर्मी या सर्दी, प्रकाश या छाया, प्रेम या घृणा, दु.ख या सुख आदि के होते है। बिना किसी संवेदन या विज्ञान के मैं तो अपनी आत्मा को कभी नहीं पकड़ पाता और न मुझे संवेदन या विज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी की अनुभूति होती है। मुझसे अलग हो जाते है जैसे गाढ़ निद्रा मे।' तब मुझे अपनी आत्मा ' का अनुभव नहीं होता और उस समय सचमुच मेरा अस्तित्व नही रहता।[23]

इन इन्द्रिय संवेदनों की पृष्ठभूमि में ह्यूम के लिए किसी स्थाई तत्त्व की कल्पना करना अनुचित है क्योंकि इन्द्रियानुभव इसका समर्थन नहीं करता।

प्रो0 भट्टाचार्य की दृष्टि ज्ञाता के उक्त रूप को अन्तिम नहीं मानती। चेतना का उपरोक्त रूप निश्चित ही महत्वपूर्ण है परन्तु अन्तिम नहीं है। क्योंकि ज्ञाता का उपरोक्त रूप ज्ञेय की अपेक्षा करता है। अन्य शब्दों में इस स्तर पर ज्ञाता और ज्ञेय दो सापेक्ष तत्त्व हैं और अपने अस्तित्त्व और अर्थ दोनों ही दृष्टि से एक दूसरे की अपेक्षा करते है।

आध्यात्मिक आत्म चेतना -

मनोमय आत्मभावना के बाद का स्तर आध्यात्मिक आत्मभावना का है। शारीरिक आत्मगत चेतना तथा मनोमय आत्मगत चेतना मे वस्तुबोध रहता है। जब विषयी आध्यात्मिक आत्म चेतना के स्तर पर आता है तो वस्तुबोध समाप्त हो जाता है। मनुष्य का सही रूप इस आध्यात्मिक आत्मचेतना के स्तर पर ही उभर कर आता है।

आध्यात्मिक आत्मचेतना को प्रो0 भट्टाचार्य ने तीन अर्थों मे समझन का प्रयास किया है। प्रथमत विषयी या ज्ञाता की भावना के रूप में ।
द्वितीय विषयी को 'मै' के रूप मे समझने की चेष्टा की गई है।
तृतीय विषयी को पूर्णत स्वतन्त्र रूप मे समझा गया है।

1. विषयी का भावना से तादात्म्य स्थापित किया गया है।
2. विषयी का अन्तर्निरीक्षण से तादात्म्य स्थापित किया गया है।
3. विषयी का अन्तर्निरीक्षणातीत स्तर से तादात्म्य स्थापित किया गया है।

भावना के स्तर पर प्रो0 भट्टाचार्य का कहना है कि आध्यात्मिक आत्म -चेतना की पहली झाँकी मिलती है। इसलिए ' मैं ' का तादात्म्य विचार से नकारकर ' मैं ' को भावना-बोध से तादात्म्य स्थापित करना आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होना है। विचार के स्तर पर अर्थचेतना या अर्थवत्ता का बोध रहता है। लेकिन भावना के स्तर पर वस्तु एवं बोध का द्वैत नहीं रहता। इसलिए भावना बोध को ' सब्जेक्टिविटी प्रापर ' कहा गया है।

चेतना के ऊर्ध्वीकरण के अगले स्तर पर 'मैं' का भावना से तादात्म्य भी समाप्त

हो जाता है। इससे ऊपर उठने पर अन्तर्निरीक्षण का स्तर आता है। अन्तर्निरीक्षण के इस स्तर पर मै या विषयी की पहचान ढूँढ़ते हैं। लेकिन इस स्तर पर ' आई एम ' का बोध रहता है। यह अन्तर्निरीक्षण मनोवैज्ञानिक नहीं होता है बल्कि आध्यात्मिक अनुनिरीक्षण होता है। इस अनुनिरीक्षण मे ' मैं ' की चेतना होती है। इस स्तर पर आत्मा वस्तुगत बोध से अपने को पूर्णतः स्वतन्त्र कर लेता है। यहाँ ' अर्थ बोध ' समाप्त हो जाता है। अर्थबोध समाप्ति का अर्थ है– ज्ञाता और ज्ञेय, विषयी और विषय का द्वैत समाप्त हो जाता है। इसमे हम वस्तु और चेतना के द्वैत से ऊपर उठ जाते है।[29]

उपर्युक्त तथ्य को सुस्पष्ट करते हुए प्रो0 भट्टाचार्य कहते हैं - अन्तर्निरीक्षण भावात्मक है। इसमें अर्थवत्ता का अभाव ही नहीं प्रत्युत अर्थवत्ता की असंभवता को भी स्पष्ट संचेतन रूप से स्वीकार किया जाता है, किन्तु अर्थवत्ता का एक महत्वपूर्ण अर्थ मे अतिक्रमण करत हुए भी यह सर्वथा शून्य नहीं है। प्रत्युत यह एक ऐसी सत्ता है जिसका किसी भी स्थिति में निराकरण सभव नहीं। उसके विषय मे तो निराकरण का प्रयास भी संभव नहीं है। आत्मगत भावना के विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ' मैं ' की चेतना को भी नकारा जा सकता है। आध्यात्मिक अनुभूति में व्यक्ति ' मै ' की चेतना से ऊपर उठ जाता है।[30]

इस तरह हम देखते हैं कि प्रो0 भट्टाचार्य के अनुसार आध्यात्मिक चेतना के स्तर पर ' मै हूँ ' मे से ' हूँ ' को नकारकर मात्र ' मै ' शेष रह जाता है।

यह स्वत सिद्ध सत् है जिसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति सर्वनामों की मध्यस्थता से ही संभव है, किन्तु उक्त सर्वनामों की मध्यस्थता से अभिव्यक्त होने के बावजूद उनकी अर्थवत्ता से वह किसी प्रकार सम्बध्द नहीं होती । यही उसकी अभिव्यक्ति की विशेषता है। अन्य शब्दों मे उसकी अभिव्यक्ति सर्वनामों की अर्थवत्ता से नहीं प्रत्युत स्वयं सर्वनामों के माध्यम से ही सभव है। अपने विचार व्यक्त करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं ' अपने को मै ' कहने वाला वक्ता शब्द के अर्थ से नहीं बल्कि स्वयं उस शब्द से समझा जाता है। पुनः वे कहते हैं ' यहाँ पर शब्द का कार्य अर्थव्यञ्जित करने का है। उसका अपना कोई अर्थ नहीं है। यह अन्तर्निरीक्षण को अभिव्यक्त करने का या यूँ कहें ' मै ' को व्यञ्जित करने का कार्य है।[31]

उपर्युक्त विवरणोपरान्त निष्कर्षरूपेण कहा जा सकता है कि सर्वप्रथम शरीर में आत्मगत भावना होती है। (मैं) इस कक्षा में शरीर से तादात्म्य भाव रखता है। उसी को ज्ञाता या ' मैं ' जानकर शरीर से भिन्न वस्तुओं को वस्तुगत भावना से देखता है। दूसरी मनोगत आत्मचेतना

मे ' मै ' अपने मन से तादात्म्य भाव स्थापित करता है। मनोमय आत्म चेतना होने पर शरीर से लेकर अन्य सब तथ्यों को वस्तुगत दृष्टिकोण से देखता है। परन्तु सही ' मै ' की पहचान मनोमय स्तर पर नहीं होता है। आत्मसत्ता को मनविचार या भावनाओं से अलग कर सकते हैं। तीसरी स्थिति आध्यात्मिक आत्मचेतना की है। इस स्थिति में आत्मसत्ता शरीर चेतना से भिन्न है। शरीर चेतना तथा मन चेतना दोनों में अर्थ बोध रहता है। आध्यात्मिक चेतना इन दोनों स्तरों से ऊपर का स्तर है। इन तीनों कक्षाओं में वस्तु और व्यक्ति की सीमायें बदलती प्रतीत होती है जो एक स्तर पर आत्मगत प्रतीत होने लगता है। इसका तात्पर्य यह है कि वस्तुगत और आत्मगत भावना का भेद यह सूचित करता है कि ये दोनों किसी एक आधार पर अवलम्बित हैं। यह सत्ता निरपेक्ष सत्ता है। आत्मगत और वस्तुगत की अनिश्चित सीमायें इस बात को सिद्ध करती हैं कि वस्तु से क्रमशः आत्मस्वातन्त्र्य प्राप्त किया जा सकता है। चेतना का अन्तर्मुखी होकर क्रमशः वस्तु से भिन्न होते जाना ही आध्यात्मिक प्रगति है। पूर्ण स्वतन्तता तभी प्राप्त हो सकती है जब सभी वस्तुओं से ' मैं ' अपने को भिन्न देखने लगता है। अंत में ' मैं ' या आत्मगत भावना भी समाप्त हो जाती है। आत्मगत भावना या मैं की भावना वस्तुतः सापेक्ष है। इसलिए उसके रहते हुए पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति नहीं हो सकती । पूर्ण स्वतन्त्रता का स्तर है - आत्मबोध को भी नकार कर हम पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं।

निरपेक्ष सत् विचार

ज्ञाता या विषयी के स्वरूप - विवेचन के सम्बन्ध में प्रो0 भट्टाचार्य का कहना है कि निरपेक्ष सत् को आत्मगत या वस्तुगत तथ्यों द्वारा परिभाषित नहीं किया जा सकता । वस्तुत· इस पर कोई ' लेबल ' चिपकाने का कोई प्रश्न ही नही उठता है। विचारों के माध्यम से निरपेक्ष सत् का वास्तविक लक्षण निरूपण सम्भव नहीं है। इसीलिए वे उसे ' अनिश्चित ' की संज्ञा देते है। वस्तुतः केवल आत्मा और वस्तु ही निश्चित की परिधि में आते हैं। उनसे अतीत जो कुछ भी है वह अनिश्चित ही है।

निरपेक्ष सत् को सत् कहने का प्रयास भी वस्तुतः उपयुक्त नहीं। यह वस्तुनिष्ठता, विषयनिष्ठता आदि सभी विवरणों से परे है क्योंकि सभी विवरणों में कुछ भावात्मक बिन्दु उभरते है - और उस रूप मे ' निरपेक्ष सत् ' का हर मानसिक चित्रण अनुचित या असम्यक् ही होगा। ऐसा हर तत्त्वमीमांसिक दृष्टि के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि वे सब ' सत् ' के स्वरूप को पकड़ने, समझने के विभिन्न ढंग अवश्य हैं किन्तु इनसे किसी ढंग से ' सत् ' का वास्तविक स्वरूप पकड़ में नहीं आता।

प्रो0 भट्टाचार्य के निरपेक्ष सत्ताविषयक् ये विचार पाश्चात्य दार्शनिक स्पिनोजा से मिलते-जुलते हैं। स्पिनोजा भी निरपेक्ष सत् को निर्गुण और अनिर्वचनीय मानता है। उसका विचार है कि वाणी और बुद्धि की पहुँच द्रव्य तक नहीं। बुद्धि द्रव्य की ओर संकेत करती है, किन्तु उसे पूर्ण रूप से नहीं जान सकती। यह निर्विकल्प अनुभूति का विषय है। गुण बुद्धि के विकल्प हैं। किसी वस्तु का गुण बताना उस वस्तु को उस गुण द्वारा परिच्छिन्न करना है। किसी वस्तु का निर्वचन करना उसे अंश में सीमित करना है। सीमा या परिच्छेद का अर्थ है - अन्य गुणों का निषेध। जैसे- किसी वस्तु को श्वेत कहना उसमें काले, नीले, पीले, लाल आदि गुणों का निषेध करना है।[32]

भट्टाचार्य के अनुसार तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में ' अनिश्चित ' को कई रूपों में ग्रहण किया गया है। ' मोटे तौर पर ही यदि उल्लेख करें तो प्लेटों का निषेधात्मक भौतिक तत्त्व, वेदान्तियों की माया, बौद्धों का शून्य, अरस्तू का वस्तुगत आकस्मिक , लुक्रीटस का अणुओं मे अवर्णनीय दिक् परिवर्तन, शोपेनहावर का अनिर्धारित संकल्प तथा काट एवं स्पेन्सर का अज्ञेय अनिश्चित के ही प्रकार है। '[33] अन्य दार्शनिकों का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए भट्टाचार्य कहते हैं कि इन सभी

ने किसी न किसी रूप में निर्विकल्प को स्वीकार किया है किन्तु उसके महत्व का अहसास पूर्णरूप से किसी को भी नहीं हो सका है, यही खेद की बात है। हेगल ने परम तत्त्व के रूप मे इसी निर्विकल्प की कल्पनाकीहै। किन्तु उनका परम तत्त्व सविकल्प का ही प्रारूप है। एक मूर्त सामान्य के रूप मे परम तत्त्व को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने ' सर्वाधिक सुनिश्चित ' के रूप में ही प्रस्तुत किया है। निर्विकल्प तो उनकी दृष्टि में शून्य ही है। वस्तुत. प्राय· दार्शनिकों की मुख्य भूल यह रही है कि वे अनिश्चित को एक भावात्मक सत्ता मान बैठे।

कांट और स्पेन्सर को अनिश्चित के इन्द्रियातीत स्वरूप को प्रकाश में लाने का श्रेय है यद्यपि वे दोनों ही उसे अज्ञेयसत्ता मानते हैं।[34]

ब्रेडले का विचार है कि विचारों के माध्यम से सत् की प्राप्ति नहीं की जा सकती क्योंकि विचार अस्तितत्व और अन्तर्वस्तु के द्वैत से युक्त होता है। जबकि सत् में इसका पूर्ण तादात्म्य पाया जाता है। कहने का तात्पर्य है कि सत् की प्राप्ति में विचार को आत्महत्या करनी पड़ेगी। तभी तो ब्रेडले ने कहा ' अपूर्ण मनुष्य के लिए परमतत्त्व को जानना कठिन ही नहीं वरन् असभव है।[35] पूर्ण तत्त्व को जानने के लिए हमें स्वयं पूर्ण बनना होगा क्योंकि ऐसी स्थिति मे हमारा अपूर्ण अस्तित्व समाप्त हो जायेगा।[36]

इसी तरह भट्टाचार्य भी परमतत्त्व के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत करते है। उनका मत है कि निरपेक्ष सत् के सम्बन्ध में विचार करना, ' विचार करने के शाब्दिक अर्थ में' विचार करना नहीं है। यदि हम चिंतन की प्रक्रिया पर ध्यान दें तो हम देखतें है कि प्रत्येक चिंतन - प्रक्रिया में चिंतन का अन्तर्विषय और अन्तर्विषय की चेतना अवश्य पायी जाती है। वह भी इस प्रकार की कि ' चेतना ' तथा उसका अन्तर्विषय एक दूसरे को आपादित करते हैं। चेतना तथा चेतना के अन्तर्विषय के पारस्परिक आपादित सम्बन्ध को प्रो0 भट्टाचार्य आपादन रूप द्वैत की संज्ञा देते हैं; इस आपादन रूप द्वैत सम्बन्ध की एक विशेषता यह भी होती है कि उसका कोई पद निश्चित नहीं होता है। न तो यहाँ चेतना में निश्चितता है और न उसके अन्तर्विषय में अर्थात इन दोनों का सम्बन्ध ही अनिश्चित है।[37]

परन्तु हम अपनी चिंतन प्रक्रिया को निश्चितता तक पहुँचाना चाहते हैं। अनिश्चित चिंतन, चितन के लक्ष्य को पूरा नहीं कर पाता। निश्चित रूप से हमें एक ऐसे स्तर को

प्राप्त करना होगा जो पूर्ण निश्चितता की स्थिति हो। परन्तु वैचारिक चिंतन तो हमेशा इस द्वैत से युक्त रहता है। अत वैचारिक चिंतन से परे अति वैचारिक चिंतन (जो इस आपादन रूप द्वैत से मुक्त होता है) कि चेतना से ही निरपेक्ष सत् को जाना जा सकता है क्योंकि निरपेक्ष सत् चेतना और उसके अन्तर्विषय के द्वैत से पूर्णतया मुक्त होता है।[38]

चेतना और चेतना के अन्तर्विषय के पारस्परिक आपादित सम्बन्ध (आपादन रूप द्वैत) तीन प्रकार - (ज्ञानात्मक, भावनात्मक तथा क्रियात्मक) का होता है। आपादन रूप द्वैत ज्ञानात्मकता के क्षेत्र मे हो सकता है या भावना के क्षेत्र में या क्रियाओं के क्षेत्र मे हो सकता है । ज्ञान मे विषय चेतना से निर्धारित नहीं रहता - क्योंकि वहाँ चेतना और विषय का द्वैत पूर्णतया स्पष्ट होता है। भावना में चेतना से विषय एक प्रकार से निर्धारित हो जाता है - क्योंकि भावनात्मक चेतना के अनुरूप ही भावना का लक्षण स्पष्ट होता है। संकल्प तथा क्रियाओं मे चेतना एवं विषय एक प्रकार से सगठित रहते है।

चूँकि निरपेक्ष सत् आपादन रूप द्वैत से मुक्त रहता है अतः उसके सम्बन्ध में तीन प्रकार से सोचा जा सकता है -

1. चिंतन के इस प्रथम प्रकार में निरपेक्ष उस विषयवस्तु के रूप में स्पष्ट होता है जो ज्ञानात्मक चेतना से स्वतन्त्र है। अतः यह निरपेक्ष सत् ज्ञान की सीमा के अन्तर्गत नहीं है। यह एक ऐसा ज्ञान है - जिसके विषय निर्देश का प्रश्न ही नहीं उठता। इसे इस रूप में भी कह सकते है कि यह इस प्रकार ज्ञात है जिस प्रकार कोई ज्ञात विषय ज्ञात नहीं होता ।

2. इस उदाहरण में निरपेक्ष उस चेतना के रूप में स्पष्ट होता है जो अपने अन्तर्वस्तु से पूर्णतया मुक्त है। अत इस रूप में ' निरपेक्ष ' पर विचार करने में ' निरपेक्ष ' के किसी अन्तर्विषय का विचार आ ही नहीं सकता — एक दृष्टि से यह निरपेक्ष अन्तर्वस्तुविहीन है, रिक्त है। जब कोई संकल्प पूर्ण होता है तो वह अब संकल्प रहता नहीं। हम उससे उपर उठ जाते है और उस प्रकार मूल सकल्प निषेधित हो जाता है।

3. हमारे वैचारिक चितन की यह विशेषता होती है कि हर चेतना अपने अन्तर्विषय के साथ अन्तर्सम्बन्धित प्रतीत होती है। इस प्रकार का संगठन जो चेतना और उसके अन्तर्वस्तु के द्वैत से मुक्त है भावनामूलक निरपेक्ष है।

चेतना और उसके अन्तर्वस्तु के आपादित द्वैत से मुक्त होने का अर्थ यही है कि दोनों एक दूसरे से मुक्त प्रतीत हों और फिर भी इस भिन्नता की निश्चित अवगति हो गई तो वह वैचारिक चिंतन के स्तर की बात हो जायेगी, उससे स्वतन्त्र निरपेक्ष के स्तर की बात नहीं। अत भावनामूलक निरपेक्ष सभी ' ज्ञात ' विषयों से ऊपर है। यह सत् तथा असत् दोनों से ऊपर है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ज्ञानमूलक निरपेक्ष ऐसा है जिसे जाना नहीं जा सकता ।

संकल्प मूलक निरपेक्ष ऐसा है जो अन्तर्विषय से रिक्त है। भावनामूलक निरपेक्ष सत् और असत् दोनों से परे है। यह विचित्र निष्कर्ष उतना स्थापित हो रहा है कि ' निरपेक्ष ' पूर्णतया अनिश्चित है। ज्ञान, संकल्प तथा भावना किसी की कोई विधा इस निरपेक्ष को निश्चित ढ़ाँचे में नहीं ढाल सकती।

उपरोक्त निष्कर्ष की स्थापना एक अन्य प्रकार से भी की जा सकती है - निरपेक्ष का अवबोध सत्यता, स्वतन्त्रता तथा मूल्य तीन रूपों में हो सकता है। इन तीनों के परस्परिक सम्बन्ध पर विचार करना कठिन है। यहाँ पर इतना ही कहा जा सकता है कि ये तीनों निरपेक्ष के वैकल्पिक रूप हैं। इन तीनों का प्रत्यावर्तन निरपेक्ष का स्वरूप है। अतः यह भी कहा जा सकता है कि इनमे से हर निरपेक्ष है तथा निरपेक्ष इन तीनों विकल्पों में रूप लेता है।

यहाँ एक प्रश्न यह पैदा होता है कि यदि निरपेक्ष पूर्णतया अनिश्चित है। यदि सत् असत् के भेद से परे है। यदि वैचारिक चितन के ज्ञात वर्गों में इसके रूप को व्यक्त भी नहीं किया जा सकता तो इसके विविध रूपों तथा उनके प्रत्यावर्तन का विवरण किस आधार पर किया जा रहा है? प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि जब निरपेक्ष को सत्यता, स्वतन्त्रता और मूल्य रूप मे निरूपित करने की बात कही जा रही है तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि एक निरपेक्ष सत् है जिसके तीन रूप होते है। निरपेक्ष सत् तथा उसके प्रत्यावर्तन के रूप मात्र प्रतीक हैं जिनके आधार पर उस सम्भावना के सम्बन्ध में सोच पाते हैं। वस्तुतः निरपेक्ष का कोई ज्ञात अन्तर्स्वरूप नहीं है। अत. निरपेक्ष का कोई विवरण हमारे सामान्य अर्थ में संज्ञानात्मक नहीं है।[39]

निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि निरपेक्ष को हम जानने के साधारण प्रचलित अर्थों में नहीं जान सकते, किन्तु इसमें विश्वास किया जा सकता है। इसका हमें आंशिक

अवबोध ही हो पाता है - और वह भी अभावात्मक रूप में, निषेधों के माध्यम से। इसके विषय में जो कुछ भी कहा जा सकता है वह प्रतीकात्मक भाषा में ही। इसी दृष्टि से यह अनिर्दिष्ट एवं अनिश्चित है। निरपेक्ष अज्ञात का चितन शाब्दिक अर्थों में चिंतन नहीं है, वह तो संकेत मात्र है। यद्यपि अनिश्चित को इन्द्रिय प्रत्यक्ष या शुद्ध विचार का विषय नहीं माना जा सकता तथापि उसकी उपेक्षा सभव नहीं क्योंकि हमारे ज्ञेय अनुभवों के चारों ओर अज्ञेय भी विद्यमान रहता है।

आचार्य शकर के अनुसार भी ब्रह्म मन और वाणी का विषय नहीं है। उपनिषदों में जिसके सम्बन्ध में ' यतो वाचा निवर्तन्तें अप्राप्य मनसा सह ' कहा गया है। वह ब्रह्म साक्षात् अनुभव का विषय है। तथापि ब्रह्म का वर्णन करते हुए शंकराचार्य ने उसे सत्य, ज्ञान अनन्तं कहा है। (ब्रह्म सत्य और अनंत ज्ञान स्वरूप है) इसे ब्रह्म का स्वरूप लक्षण कहा जाता है। तथापि परतुत यह भी सीधे - सीधे ब्रह्म का ठीक स्वरूप नहीं बतला सकता। यह केवल इतना ही संकेत देता है कि ब्रह्म का स्वरूप असत्, शान्त और अचेतन नहीं है और इस तरह बुद्धि को ब्रह्म की ओर प्रेरित करता है। शकराचार्य के इस मत से सहमति रखते हुए भट्टाचार्य भी यद्यपि निरपेक्ष सत् को सत्यता, स्वतन्त्रता और मूल्य के रूप मे निरूपित करते हैं तथापि अंततः उसे अनिश्चित निरपेक्ष की संज्ञा देते हुए अपरोक्षानुभूति का विषय मानते हैं।

तर्कशास्त्र में अनिश्चित का महत्त्व–

अनिश्चित की अवधारणा के आधार पर भट्टाचार्य ने परम्परागत तर्कशास्त्र के दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने का प्रयास किया है। वे वर्तमान सन्दर्भ में एक नवीन तर्कशास्त्र की सभावना को स्वीकार करते हैं। उनका विश्वास है कि तर्कशास्त्रीय जगत् में यह स्वीकृति क्रान्ति स्वरूप है और पाश्चात्य चिंतन में इस प्रकार की सभावना को किसी भी दार्शनिक ने इतनी स्पष्टता के साथ स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार यदि तर्कशास्त्र को अपना सामान्य स्वरूप बनाये रखना है तथा न केवल विज्ञान के अपितु सम्पूर्ण दर्शन के अमूर्त सिद्धान्तों की रक्षा करनी है तो उसे किसी विशेष दार्शनिक दृष्टिकोण की परिधि में नहीं बँध जाना चाहिये। जैसा वह सामान्यतया करता है। उसे विचार के सभी प्रकारों को ज्ञान की सम्भावित विधाओं के रूप में स्वीकार करना चाहिए। तत्त्व ज्ञान की सत्यता का मूल्यांकन उसका कार्य नहीं है। वह केवल इसी अर्थ में सामान्य न हो कि ज्ञान कहलाने वाले सभी विचारों के सन्निविष्ट रूप का वह प्रतिनिधित्व करता हो, बल्कि वह समस्त सशय एव विवाद को भी प्रस्तुत करता हो।

अतः इसकी प्राथमिक समस्या इस संभावना का पता लगाना है कि क्या कोई ऐसा भी रूप है जो भौतिक तत्त्व नहीं है, जो निर्धारित नहीं है तथा जो सभी निर्धारित मूर्त चिंतन - स्वीकृत या विवादग्रस्त में अपरिहार्यत· पूर्वकल्पित है।[40]

भट्टाचार्य के अनुसार तर्कशास्त्र का आधार न कोई तथाकथित आवश्यक सिद्धान्त हो सकता है और न कोई निर्धारित आकस्मिक सिद्धान्त। आवश्यक सिद्धान्त के बारे मे सशय होने की अवस्था में अपना औचित्य सिद्ध करने के लिए तर्कशास्त्र को किसी विशेष प्रकार की ज्ञानमीमांसा की सहायता लेनी पड़ती है और तब उसे पक्ष - विशेष का समर्थन एवं अन्य विवादों मे पड़कर अपने सामान्यत्व से हाथ धोना पड़ता है। यही बात आकस्मिक सिद्धान्त पर भी लागू होती है।

अत· तर्कशास्त्र के लिए सबसे सुरक्षित उपाय यही है कि वह एक ऐसे अनिर्धारित सिद्धान्त पर आधारित हो जिसे समान रूप से आवश्यक या आकस्मिक कुछ भी कहा जा सकता है। यह सिद्धान्त निश्चित और अनिश्चित के कोरे द्वैतवाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं। भट्टाचार्य की मान्यता है कि अनिश्चित को स्वीकार कर लेने से तर्कशास्त्र उस परम्परागत दोष से मुक्त हो जायेगा, जो केवल निश्चित, बौद्धिक और ज्ञेय तत्त्व को ही अपना विषय मानने के लिए उसे

प्रवृत्त करता है तथा अनिश्चित की सर्वथा उपेक्षा कर देता है।

अनिश्चित का सिद्धान्त जो सत्ता विषयक् विभिन्न तत्वमीमांसीय सिद्धान्तों के लिए उपयुक्त पद प्रदान करता है, स्वीकार करने से तर्कशास्त्र वास्तव में सामान्य रूप धारण कर लेगा और वह निश्चित के तर्क में भी संशोधन प्रस्तुत करेगा। भट्टाचार्य ने यद्यपि अपनी इस सूझ के अनुसार परम्परागत तर्कशास्त्र का पूर्णत रूपान्तरण नहीं किया है, तथापि उसके कुछ प्रसगों जैसे- सामान्य एवं विशेष के प्रत्यय, निषेधात्मक सोपाधिक प्रतिज्ञाप्ति आदि की अनिश्चित के सिद्धान्त के आधार पर जॉच की है और अपने तत्त्वमीमांसीय चिंतन में उसका उपयोग किया है। प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य की ' आत्म स्वतन्त्रता ' के विश्लेषण की तुलना हम छान्दोग्य उपनिषद में वर्णित आत्मा के विश्लेषण से कर सकते हैं। गुरु प्रजापति और शिष्य इन्द्र के संवाद में आत्मा के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। सम्पूर्ण संवाद के माध्यम से आत्मा के प्रगतिशील स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। जैसे-जैसे ज्ञान प्राप्त होता जाता है, आत्मा का शरीर और शारीरिक विशेषताओं से निवृत्ति होती जाती है। जिस प्रकार देह से सम्बद्ध, सुन्दर अलंकार और बहुमूल्य वस्त्रादि आगन्तुक पदार्थ जल के शकोरे मे अपनी छाया प्रकट करते हैं उसी प्रकार पहले शरीर भी छाया कारक था - ऐसा इससे ज्ञात होता है। शरीर के एकदेश रूप तथा नित्य रूप से माने गये अखण्डित लोम और नखादि भी पहले छाया जनक थे किन्तु अब उन्हें काट लिये जाने पर उन लोम और नखादि की छाया दिखाई नहीं पड़ती। इससे लोम और नखादि के समान शरीर भी आगमापायी (उत्पन्न और नष्ट होने वाला) सिद्ध होता है। इस प्रकार जल के शकोरे आदि में दिखने वाले उनके निमित्त भूत का भी अनात्मत्व सिद्ध होता है। क्योंकि देह सम्बन्धी अलंकारादि के समान उसका भी जल के शकोरे आदि में छायाकरत्व है। इसी से केवल इतनी ही बात सिद्ध होती हो सो नहीं, बल्कि सुख, दुःख, राग, द्वेष और मोहादि जितना कुछ भी आत्मीय रूप से माना जाता है वह भी नख एवं लोमादि के समान कभी-कभी होने वाला होने के कारण अनात्मा ही है।[41]

आगे इसी तरह का वर्णन द्वादश खण्ड में भी प्राप्त होता है। ...... हे इन्द्र ! यह निश्चित ही मर्त्य है। तुम जो ऐसा समझते हो कि मेरा बतलाया हुआ नेत्रादि का आधारभूत सम्प्रसाद - रूप आत्मा विनाश को ही प्राप्त हो जाता है। सो उसका कारण सुनो ! तुम जो यह शरीर देखते हो वह यह शरीर मर्त्य - नाशवान है। यह मृत्यु से आत्त अर्थात सर्वदा ही ग्रस्त है .. ... देहाभिमान से उठकर अशरीर स्वरूप विज्ञान के द्वारा जिसका विवेक ज्ञान - निवृत्त हो

गया है ऐसे उस अशरीरभूत आत्मा को प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते।[42]

प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य की यह मान्यता है कि चेतना का अन्तर्मुखी होकर क्रमश. वस्तु से भिन्न होते जाना ही आध्यात्मिक प्रगति है और पूर्ण स्वतन्त्रता तभी प्राप्त हो सकती है जब सभी वस्तुओं से मैं अपने को भिन्न देखने लगता है। आत्मा या ज्ञाता का समस्त सांसारिक वस्तुओं से विच्छेद ही मोक्ष है। इसी तथ्य को मुण्डकोपनिषद में नदी और समुद्र के निम्न रूपक के माध्यम से स्पष्ट किया गया है .-

यथा नद्यः स्पन्दनमाना. समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।

तथा विद्वान नामरूपाद् विमुक्तः, परात्परं पुरुष मुपैति दिव्यम् ।।

जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ अपना - अपना नामरूप छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी महापुरुष नाम - रूप से रहित होकर परात्पर दिव्य पुरुष पर--ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाता है - सर्वतोभाव से उसी में विलीन हो जाता है।[43]

प्रो0 भट्टाचार्य द्वारा प्रस्तुत चेतना के इन विविध आयामों की तुलना तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्णित आत्मा के विविध कोषों के साथ की जा सकती है। शरीर के अन्नमय कोष के अन्तर्गत एक प्राणमय कोष है। अन्नमय कोष, प्राणमय कोष से परिपूर्ण है, जो मनुष्याकार है। प्राणमय कोष के अन्तर्गत मनोमय कोष है। प्राणमय कोष, मनोमय कोष से परिपूर्ण है जो मनुष्याकार है। मनोमय कोष के अन्तर्गत विज्ञानमय कोष है। यह मनोमय कोष विज्ञानमय कोष से परिपूर्ण है जो पुरुषाकार है। अंत मे विज्ञानमय कोष के अन्तर्गत आनंदमय कोष है। विज्ञानमय कोष आनन्दमय कोष से परिपूर्ण है जो पुरुषाकार है। इस प्रकार (परमात्मा) को जो जानता है वह क्रमश· अन्नमय, प्राणमय आदि को प्राप्त करता हुआ अंत में आनन्दमय परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है।[44]

वस्तुतः प्रो0 भट्टाचार्य के दार्शनिक विचारों का बीज उपनिषदों की उर्वर भूमि में ही प्रस्फुटित हुआ है। माण्डूक्य उपनिषद् में भी चेतना की चार अवस्थाओं का वर्णन किया गया है जो प्रो0 भट्टाचार्य वर्णित चेतना के विविध आयामों के सदृश ही है।

चेतना की केवल तीन ही अवस्थायें नहीं हैं किन्तु एक चौथी अवस्था भी मानना चाहिये जो प्रज्ञातीत या तुरीय अवस्था कहलाती है। किन्तु हमारे विचार से ' प्रज्ञातीत ' इस चौथी अवस्था के नामकरण के उपयुक्त शब्द नहीं: चेतना की प्रज्ञातीत (चेतनातीत) अवस्था व्याकरण व्यतिक्रम

है। अत हम इस चौथी अवस्था को ' आत्म चेतना ' कहेगे। इस प्रकार उक्त उपनिषद् के अनुसार आत्मा चार अवस्थाओं का अनुभव करती है - जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और आत्मचेतन (तुरीय)। आत्मा चतुष्पदी है। पहली अवस्था जागृति है। जब आत्मा बाह्य पदार्थों का ज्ञान रखती है तथा भौतिक वस्तुओं का उपभोग करती है। इस अवस्था में उसे वैश्वानर कहते हैं। दूसरी अवस्था स्वप्न है। जब आत्मा को आभ्यंतरिक पदार्थों की चेतना होती है और वह सूक्ष्म पदार्थों का उपभोग करती है। इस अवस्था में उसे तेजस् कहते हैं। तीसरी अवस्था सुषुप्ति है। जब मनुष्य को न कोई कामना होती है और न वह कोई स्वप्न देखता है। इस प्रकार आत्मा की तीसरी अवस्था सुषुप्ति है। जब आत्मा आत्म - संस्थित होने के कारण तथा ज्ञानमय और आनन्दमय होने के कारण आनन्द का उपभोग करती है। इस अवस्था मे उसे प्राज्ञ कहते हैं। आत्मा की चौथी अवस्था तुरीय अथवा आत्म चेतना है। जब न बाह्य सृष्टि की चेतना रहती है और न अंतः सृष्टि की और न दोनों के समन्वय की। जब आत्मा केवल ज्ञान का पुंजीभूत स्वरूप नहीं होती, क्योंकि वह चेतना और अचेतना दोनों से परे होती है, जब वह अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिंतन, एकात्म प्रत्ययसार, प्रपंचोपशम, शान्त, शिव और अद्वैत होती है तभी वह आत्मा कहलाने की अधिकारिणी है। चैतन्य की चार अवस्थाओं, उनके शरीर तथा आत्मा और ब्रह्म के विभिन्न रूपों का वर्णन निम्न तालिका के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है -[45]

अवस्था	शरीर	आत्मा का रूप	ब्रह्म का रूप
1. जागृत	स्थूल	विश्व	वैश्वानर
2. स्वप्न	सूक्ष्म	तैजस	हिरण्यगर्भ
3. सुषुप्ति	कारण	प्राज्ञ	ईश्वर
4. तुरीय	×	तुरीय	ब्रह्म

चैतन्य की विविध अवस्थाओं सम्बन्धी यह औपनिषदिक मान्यता आचार्य गौणपाद और आचार्य शंकर को भी स्वीकार्य है। माण्डूक्य कारिका के आगम प्रकरण में इस सम्बन्ध में विस्तृत विश्लेषण प्राप्त होता है। वेदान्त में चैतन्य की इन चारों अवस्थाओं का निम्नवत् वर्णन मिलता है :-

1. जागृत अवस्था :-

इस अवस्था में हमें व्यावहारिक जगत का ज्ञान प्राप्त होता है। इसमें अन्त - -करण बाह्य इन्द्रियों द्वारा बाहर निकलकर बाह्य वस्तुओं का स्वरूप धारण कर लेता है जिसे वृत्ति कहते हैं। इस वृत्ति के द्वारा ही जीवात्मा बाह्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करती है। जागृत अवस्था मे हमारा स्थूल शरीर कार्य करता है।

2. स्वप्नावस्था :-

जागृतावस्था की तरह स्वप्नावस्था में भी हमें वर्तमान वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है। स्वप्न केवल ' पुनरुज्जीवित संस्कार ' मात्र नहीं है। वह एक नवीन सृष्टि है जिसमें प्रातिभासिक सत्ताओं का ज्ञान प्राप्त होता है। यहाँ वस्तुयें बाह्य जगत् में घटित नहीं होती है बल्कि वे हमारे मन के अन्दर ही घटित होती है तथापि वे बहिर्वत् प्रतीत होती है। यहाँ अन्तःकरण बाह्य इन्द्रियों की सहायता लिये बिना ही स्वयं कार्य करता है। यहाँ हमारा स्थूल शरीर कार्य नहीं करता। केवल सूक्ष्म शरीर ही कार्य करता है।

3. सुषुप्तावस्था :-

इस अवस्था में अन्तःकरण अव्यक्त होकर अपने कारण माया मे लीन हो जाता है। इसमें केवल साक्षी और अविद्या शेष रहते हैं। अविद्या को ही कारण शरीर कहते हैं। अन्त करण के अभाव के कारण इस स्थिति मे जागृत व स्वप्न की तरह बाह्य वस्तुये प्रत्यक्ष करने को नहीं होती। यहाँ जीव का व्यक्तित्व तो रहता है पर यह व्यक्तित्व अन्तःकरण द्वारा सीमित न होकर साक्षी व अविद्या के द्वारा निर्धारित होता है। सुषुप्तावस्था में अविद्या केवल आंशिक रूप में ही कार्य करती है। अविद्या अपनी आवरण शक्ति के द्वारा तत्त्व के वास्तविक स्वरूप को ढक लेती है पर उसे विभिन्न नामरूपों में प्रदर्शित नहीं करती। सुषुप्ति में अग्रलिखित तीन चीजें पायी जाती हैं :-

(I) नामरूप का अभाव
(II) व्यक्तित्व का सातत्य
(III) आनन्द की अनुभूति ।

4. तुरीयावस्था :-

चैतन्य की यह चतुर्थ अवस्था है जिसे मोक्ष की अवस्था कह सकते हैं। इसमे प्रत्येक प्रकार के शरीर का अभाव पाया जाता है। यहाँ अविद्या न आवरण रूप में और न विक्षेप रूप मे ही कार्य करती है। किसी भी प्रकार के अज्ञान के अभाव के कारण यह पूर्ण मोक्ष या आनन्द की अवस्था है।

आचार्य गौपपाद ने इन अवस्थाओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'रज्जुसर्प की भाँति तत्त्व से विपरीत ग्रहण होने पर स्वप्न होता है ' और केवल तत्त्व को न जानने से निद्रा होती है। पर इन दोनों विपर्ययों के क्षीण हो जाने पर साधक तुरीयावस्था को प्राप्त होता है।[46]

इस प्रकार जीव जब अनादि माया से सोया हुआ तत्त्व बोध के द्वारा भली प्रकार से जग जाता है तभी उसे जन्म, निद्रा तथा स्वप्न से रहित अद्वैत आत्मतत्त्व का बोध प्राप्त होता है।[47]

प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य और इमैन्युअल कांट

प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के दार्शनिक विचारों के बीज उपनिषद् और अद्वैत वेदान्त की उर्वर भूमि में प्रस्फुटित हुए हैं। उनकी वैचारिकता का शिशु अपने शैशवकाल तक पौर्वात्य (उपनिषद् और विशेषकर अद्वैत वेदान्त) और पाश्चात्यदर्शन (विशेषकर इमैन्युअलकांट) से संरक्षण और समर्थन लेता रहा परन्तु प्रौढ़ावस्था आते - आते उसने अपने संरक्षण और समर्थन की बैसाखी का परित्याग कर अपनी अलौकिक प्रज्ञा प्रकाश द्वारा दार्शनिक जगत् को एक नवीन जीवन दृष्टि दी, एक अभिनव आलोक प्रदान किया। डॉ0 आर0 सी0 सिन्हा का मन्तव्य है कि कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य एक तरफ वेदान्त दर्शन से प्रभावित है तो दूसरी तरफ जर्मन दार्शनिक कांट से भी अभिभूत हैं।[48]

प्रो0 भट्टाचार्य और कांट के दार्शनिक विचारों के तुलनात्मक अध्ययन हेतु कांट के मूलविचारों का संक्षेप में उल्लेख आवश्यक है - ' काट का मन्तव्य है कि ज्ञान की प्राप्ति मे अनुभव और बुद्धि का युगपद् योगदान है। ज्ञान के लिए इन्द्रिय संवेदन रूपी उपादान तत्त्व या द्रव्य की और बुद्धि विकल्प रूपी स्वरूप देने वाले ढाँचे की आवश्यकता है। बिना इन दोनों के परस्पर सहयोग के ज्ञान की प्राप्ति असंभव है। बिना इन्द्रिय संवेदनों के ज्ञान असंभव है क्योंकि इन्द्रियसंवेदन ही बुद्धि विकल्पों रूपी ढाचे में ढलकर ज्ञान का निर्माण करते है। इसी कारण से व्यावहारिक जगत्/ऐन्द्रिक जगत् का हमे यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। परन्तु परमार्थ का हमे यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता है क्योंकि उनका इन्द्रिय संवेदन हमे नहीं प्राप्त होता है। अत· व्यवहार और परमार्थ के सम्बन्ध मे कहा जा सकता है कि प्रपञ्च ज्ञेय है और अप्रपंञ्च अज्ञेय है, यद्यपि वे चिन्त्य है।[49] अज्ञेयवाद को और स्पष्ट करते हुए कांट कहता है कि परमार्थ का विधिरूप ज्ञान असंभव है क्योंकि विधिरूप ज्ञान सदा इन्द्रिय सवेदन और बुद्धि विकल्प इन दोनों पर निर्भर रहता है और इन दोनों की गति परमार्थ तक नहीं। 'यद्यपि स्वत सत् वस्तु का नियत ज्ञान संभव नहीं है तथापि उसका अनियत ज्ञान संभव है। अत स्वत सद् वस्तु का अस्तित्व संभव है। इस अनियत ज्ञान को वह सोचना या चिंतन कहता है और नियत ज्ञान को खाली ज्ञान। सोचने मे देशकाल और पदार्थ नहीं निहित हैं किन्तु ज्ञान में निहित हैं।[50]

परमार्थ का निषेध रूप ज्ञान संभव ही नहीं, अपरिहार्य भी है क्योंकि यह निषेध रूप ज्ञान हमारे ज्ञान की सीमा का ज्ञान है। इसका तात्पर्य यह है कि हमारे ज्ञान की गति परमार्थ तक नहीं।[51] यह नेति-नेति वस्तुतः व्यवहार और परमार्थ की सीमा है। यह नेति-नेति न तो

परमार्थ का निषेध करती है और न व्यवहार का अतिक्रमण। इससे परमार्थ के विषय में किये जाने वाले निर्वचनों का निषेध होता है स्वय परमार्थ का नहीं। परमार्थ का निषेध रूप ज्ञान केवल ज्ञान की सीमा का ज्ञान है। आगे चलकर कांट कहते हैं कि परमार्थ (जगत्, आत्मा और ईश्वर) का ज्ञान प्रज्ञा के माध्यम से मिल सकता है परन्तु इन्द्रिय संवेदन के अभाव में और बुद्धि विकल्पों के अभाव में प्रज्ञा द्वारा ज्ञात तत्त्वों को सत्य और निश्चित नहीं कह सकते। ये सम्भावना मात्र है और हमारी प्रज्ञा की कल्पना मात्र है। लेकिन यदि प्रज्ञा इन्हें सिद्ध नहीं कर सकती तो इन्हें असिद्ध भी नहीं कर सकती। ईश्वर, संकल्प स्वातन्त्र्य और आत्मा की अमरता आदि सिद्धान्त नैतिक और धार्मिक जीवन के आधार स्तम्भ हैं। ये श्रद्धा या विश्वास के विषय हैं तर्क या बुद्धि के नहीं।

काट के उपर्युक्त दार्शनिक सार से स्पष्ट है कि कांट ने परमार्थ को अज्ञेय इसलिए मान लिया था क्योंकि वह भी अन्य वस्तुनिष्ठ दार्शनिकों की भाँति इन्द्रियानुभविक ज्ञान एवं अनुभूति से भिन्न ज्ञान एवं अनुभूति की संभावना को स्वीकार नहीं करता था। इसीलिए बड़ी सहजता के साथ उन्होंने इस बात का समर्थन किया कि जो भी इस अनुभूति के माध्यम से किन्ही भी कारणों से अभिव्यक्त न हो सके वह सर्वदा के लिए अज्ञेय है। वस्तुत. कांट और प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य दार्शनिक ज्ञान की उपलब्धियों की दृष्टि से क्रमशः व्यावहारिक, ऐन्द्रिक तथा पारमार्थिक या अतीन्द्रिय जगत् का प्रतिनिधित्व करते है। आनुभविक जगत् का ज्ञान प्राप्त करने के लिए काट द्वारा विवेचित विविध उपादानों / आयामों को प्रो0 भट्टाचार्य भी किसी न किसी प्रकार से स्वीकार करते हैं। परन्तु एक तरफ काट जहाँ व्यवहार (दृश्यमान लौकिक जगत्) का ज्ञान प्राप्त करने के साधनों का अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ अनुसंधान करता रहा और चेतना के इस आयाम का विश्लेषण करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की वहीं दूसरी तरफ चेतना के इसी आयाम को अन्तिम मान लेने के कारण परमार्थ उसके लिए एक अनबूझ पहेली (भले ही वह विश्वास का विषय क्यों न हो) बना रहा। अर्थात् परमार्थ उसके लिए एक मात्र विश्वास का ही विषय बनकर रह गया। उसके पक्ष - विपक्ष में वह तर्क न दे सका। प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य भारतीय दार्शनिक परम्परा के अनुसार नश्वर भौतिक जगत् में परमसत् की खोज नहीं करते। वे उसकी केवल व्यावहारिक सत्ता ही स्वीकार करते है जिसके कारण उनके दर्शन में व्यावहारिक जगत् और उसके रहस्यों पर विशद् विश्लेषण नहीं मिलता है। अपने दर्शन में व्यवहार के स्थान पर परमार्थ के विश्लेषण और अनुशीलन में उन्होंने अपनी सम्पूर्ण अन्तस् उर्जा का प्रयोग किया। तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में कांट के अज्ञेयवाद का खण्डन करते हुए प्रो0 भट्टाचार्य ने उसे साक्षात् अनुभूति या प्रत्यक्षानुभूति के द्वारा ज्ञेय बतलाया।

कांट की अन्तर्दृष्टि सही दिशा में थी। अपनी प्रथम क्रिटिक में उन्होने सर्वप्रथम विषय जगत् के आधारभूत तत्वों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया। यही कारण है कि उनका दर्शन अनुभवातीत दर्शन कहलाया। किन्तु इन अनुभवातीत तत्त्वों की ओर उन्मुख होते हुए भी उन तत्वों की ओर और उनसे सम्बद्ध तथ्यों को उन्होने उचित रूप से प्रस्तुत नहीं किया। अनुभवातीत तत्त्वों मे महत्त्वपूर्ण एवं अन्तिम विषयी को उन्होने अज्ञेय घोषित किया। यही उनके दर्शन की सबसे बड़ी भूल थी। चेतना के जिस आयाम द्वारा आनुभविक जगत् का ज्ञान प्राप्त होता है उसी को उन्होंने अन्तिम मान लिया। इसी कारण परमार्थ उनके लिए अज्ञेय रह गया। वस्तुतः चेतना के सामान्य से भिन्न आयाम भी होते हैं जिसका अनावरण करने में कांट असफल रहे। कांट विषयनिष्ठ दृष्टिकोण का सम्पूर्णत. परित्याग करने में सफल नहीं हुए। यही कारण है कि कान्ट के दर्शन में ज्ञानमीमांसा आध्यात्मिक मनोविज्ञान की एक भूमिका मात्र बनकर रह जाती है। वह उसके अन्तर्गत स्वीकृत एवं समन्वित पक्ष विशेष नहीं बन पाती। उक्त भूल के कारण का विश्लेषण करते हुए कहा जा सकता है ' कांट के दर्शन की मूलरुचि विषयनिष्ठ ही थी। अतएव विषय जगत् की अन्तिम, अनिवार्य, अनुभवातीत स्थितियों को अनावृत्त करने मे ही वे सफल हो पाये थे। उनकी रुचि मूलत. ' नालेज आफ आब्जेक्ट ' मे प्रयुक्त ' ऑफ ' शब्द के अर्थ के स्पष्टीकरण में ही केन्द्रित थी।

अतएव रचनात्मक कार्यों तथा विषयों की स्वीकृति क्यों कि एक सन्दर्भ मे हुई - इस कारण ज्ञेयता के विषय में किसी अन्य संभावना को स्वीकार करना उनके लिए संभव न था। यही कारण है कि रचनात्मक कार्यों की स्वीकृति में तथ्यों के जिस महत्वपूर्ण पक्ष की चर्चा होनी चाहिए थी, उसकी अवहेलना हुई है। अन्य शब्दों में, उन तथ्यों को सामान्य रूप से ज्ञेय न मानते हुए भी उन्हें बोध की व्यापक परिधि में लाने का कोई भी प्रयास कांट के दर्शन में नहीं मिलता। यदि किसी तथ्य को हम स्वीकार करते हैं और साथ ही यह भी अनुभव करते हैं कि वह सामान्य बोध की दृष्टि से अज्ञेय है तो उसे केवल अज्ञेय मान लेना ही पर्याप्त नहीं है। वस्तुतः इस स्थिति को हमे एक चुनौती के रूप में स्वीकार करना चाहिए और हमें इस बात के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिए कि हम बोध के उस आयाम को जान लें जिसके अन्तर्गत ये अभिगम्य होंगे। इस चुनौती को दुर्भाग्यवश कांट ने स्वीकार नहीं किया परिणाम स्वरूप वे अज्ञेयवाद के भयंकर जाल में फॅस गये। प्रो0 संगमलाल पाण्डेय का मन्तव्य है ' जहॉ तक आत्मा को स्वतः सद् वस्तु के रूप में जानने की बात है वहॉ तक कांट शुद्ध अज्ञेयवादी है। वह हमें उस प्रस्थान बिन्दु पर पहुँचा देता है जहॉ से

शंकराचार्य अपने आत्मज्ञान का विवेचन आरम्भ करते हैं। उनका कहना है कि 'मैं जानता हूँ कि मैं हूँ' यह ज्ञान हर मानव का प्रत्यक्ष है। इस ज्ञान से सिद्ध होता है कि कोई आत्मा है। लेकिन वह आत्मा क्या है? उसका स्वरूप क्या है? यह विशेष ज्ञान इस ज्ञान में नहीं है। इस विशेष ज्ञान के लिए ही वेदान्त का अनुशीलन किया जाता है। इसलिए कांट के दर्शन को शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त की दिशा में विकसित करने का अवकाश है।[52]

इस प्रकार प्रो0 भट्टाचार्य और कांट का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए निष्कर्षरूपेण कहा जा सकता है कि तत्त्वमीमांसा के जिन रहस्यों के अनुशीलन और अनुसंधान में कांट असफल रहे प्रो0 भट्टाचार्य ने उन रहस्यों का सफलतापूर्वक उद्घाटन किया।

आचार्य शंकर और प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य

प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के विचारों का समीक्षात्मक अध्ययन करते हुए कहा जा सकता है कि इस नवीन दार्शनिक कलाकार ने यद्यपि ज्ञानरूपी आभूषण का निर्माण करने के लिए आवश्यक उपादानों को पूर्वाचार्यों (उपनिषद् और शांकर वेदान्त) से ही ग्रहण किया तथापि उनकी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से अन्वेषित और परिपोषित उनका ज्ञानाभूषण समकालीन भारत का न केवल सर्वथा मौलिक आभूषण है बल्कि अधुनातन विद्वत समाज द्वारा समादृत और ग्राह्य भी है।

आचार्य शंकर और प्रो0 भट्टाचार्य के दार्शनिक विचारों का तुलनात्मक विवेचन अग्रांकित है :-

आचार्य शंकर के मतानुसार जगत और जागतिक सम्बन्धों की केवल व्यावहारिक सत्ता है। परमार्थतः वे असत् हैं। परमार्थतः केवल ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता है। शंकराचार्य की तरह ही कृष्णचन्द्र भी जागतिक प्रपञ्चों को सापेक्षतया ही सत् स्वीकार करते हैं और एकमात्र विषयी चेतना को ही परमचेतना स्वीकार करते हैं।

शंकराचार्य के अनुसार जब तक जीव सांसारिक माया-मोह के बन्धन में पड़ा हुआ है अर्थात् आत्मस्वरूप को विस्मृत किये हुए है तब तक उसे ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो सकता। महासमुद्र में एकमेक होते ही नदियाँ अपने विविध नामरूप का परित्याग कर देती हैं उसी तरह से जब तक जीव आत्म स्वरूप को विस्मृत किये हुए प्रपञ्चात्मक जगत में फँसा रहता है। ब्रह्मात्मभाव को नहीं प्राप्त कर सकता है।[53] ऐसी स्थिति मे मुमुक्ष को जागतिक प्रजञ्चों से ऊपर उठना पड़ता है।

प्रो0 भट्टाचार्य भी आचार्य शंकर के उक्त मत से पूर्णतया सहमत प्रतीत होते हैं। उनका स्पष्ट विचार है कि अर्थचेतना म द्वैत का बोध रहता है किन्तु अन्तस्तम की चेतना में द्वैत का बोध नहीं रहता है।[54] यहाँ तक कि उस पराचेतना के स्तर पर ' मैं ' की अनुभूति भी नहीं रहती है।

प्रो0 भट्टाचार्य द्वारा वर्णित आत्मा की क्रमिक स्वतन्त्रता का सिद्धान्त माण्डूक्य उपनिषद् मे वर्णित जाग्रतावस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्तावस्था और तुरीयावस्था से मिलता जुलता है।

जहाँ तक आत्मज्ञान का प्रश्न है शकराचार्य के अनुसार आत्म स्वय सिद्ध है प्रमाण से गम्य नहीं है। परन्तु आत्मा अगम्य भी नहीं है। यह अनुभूतिगम्य है। आत्मा तर्क ज्ञान का विषय नहीं बल्कि सद्यः अनुभूति या प्रत्याक्षानुभूति का विषय है। प्रो0 भट्टाचार्य के अनुसार भी आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान, अन्तःअनुभूति या 'कामनेटिव इनवार्डाइजेशन' द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। सिन्हा एवं विजय श्री चन्द्र का भी विचार है भट्टाचार्य के अनुसार आत्मा को हम 'अपरोक्षानुभूति' के द्वारा जान सकते हैं।[55]

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शंकर के कतिपय विचारों का प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य प्रत्यक्षतः या परोक्षतः समर्थन करते प्रतीत होते है परन्तु उनके दर्शन मे कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहाँ भट्टाचार्य का शंकर से विरोध है। आचार्य शंकर की मोक्ष प्राप्ति हेतु अधिकारी शिष्य की कल्पना भट्टाचार्य के दर्शन में दिखलाई नहीं पड़ती है। भले ही आचार्य शकर की तरह भट्टाचार्य ने यह कहा है कि जब तक आत्मा का बाह्य जगत् से सम्बन्ध नहीं टूट जाता तब तक उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती परन्तु वे कौन से साधन हैं जिनको अपनाकर मुमुक्ष जगत् प्रपञ्च से मुक्त हो सकता है, भट्टाचार्य के दर्शन मे इसका कोई वर्णन नहीं मिलता।

मोक्ष की स्थिति के सम्बन्ध में भी शांकर मत से इनका विरोध है। आचार्य शकर का मत है कि मुमुक्ष जब श्रवण, मनन, निदिध्यासन के स्तर को पार कर ब्रह्मज्ञानी गुरू के पास जाता है तब गुरू उसे तत्त्वमसि का उपदेश देता है जिससे उसे पूर्ण आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है। तब शिष्य कह उठता है 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात मैं ही ब्रह्म हूँ। आगे की स्थितियों का कोई विश्लेषण शंकराचार्य के दर्शन में नहीं मिलता। प्रो0 भट्टाचार्य, शकर के इस मत से पूर्णतः सहमत हैं कि विषय--निष्ठता के पूर्ण लोप हो जाने के उपरान्त ही विषयी का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकता है परन्तु शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित चेतना के उक्त आयाम को भट्टाचार्य अन्तिम नहीं मानते। उनका मत है कि पूर्ण स्वतन्त्रता तभी प्राप्त हो सकती है जब सभी वस्तुओं से 'मै' अपने को भिन्न समझने लगता है। आत्मभावना या 'मै' की भावना वस्तु सापेक्ष है इसलिए उसके रहते पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त हो सकती है । आध्यात्मिक अनुभूति में व्यक्ति 'मैं' की चेतना से भी ऊपर उठ जाता है।[56]

पूर्ण स्वतन्त्रता का स्तर है - आत्मबोध को भी नकार कर हम पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपरोक्षानुभूति के विश्लेषण में प्रो0 भट्टाचार्य, शंकर

से अधिक मौलिक और सूक्ष्म द्रष्टा प्रतीत होते हैं।

प्रो० भट्टाचार्य पहले समकालीन चिन्तक हैं जिन्होंने ' Subject as freedom ' की बात की है।[57] उनकी धारणा है कि ' अहं ब्रह्मास्मि ' की चेतना में भी विषयी पूर्ण स्वतन्त्र नहीं हो पाता है। पूर्ण स्वतन्त्रता के लिए उसे एक स्तर और ऊपर उठना पड़ता है जहाँ वह - ' मैं ' की चेतना को भी नकार देता है। तब सिर्फ ' मैं ' पूर्ण स्वतन्त्र हो जाता है। इस स्तर पर ' सब्जेक्ट ' और ' फ्रीडम ' एक दूसरे से सम्बन्धित नहीं रहते है। ' सब्जेक्ट ' ही ' फ्रीडम ' हो जाता है और ' फ्रीडम ' ' सब्जेक्ट ' हो जाता है। ट्रू सब्जेक्ट आब्सोल्यूट है।[58]

प्रो0 भट्टाचार्य के दार्शनिक विचारों की समीक्षा

प्रो0 भट्टाचार्य अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के दार्शनिक हैं। उनका दर्शन गम्भीर एव परिपक्व विश्लेषणात्मक दृष्टि का परिणाम है। उनके मतानुसार दर्शन और विज्ञान ज्ञान के परस्पर विरोधी छोरों का प्रतिनिधित्व करते हैं। व्यावहारिक चिंतन की वस्तु विज्ञान के अध्ययन का विषय है अर्थात् विज्ञान तथ्य से सम्बन्धित है जबकि दर्शन आत्मा एवं चरमसत्ता से सम्बन्धित है। यही कारण है कि उन्होंने कार्यकारण नियम और विकासवाद को दर्शन के क्षेत्र से अलग करते हुए उसे विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र के अन्तर्गत रखा है।

भट्टाचार्य के सम्पूर्ण दर्शन से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने दर्शन को तत्त्वमीमांसा तक ही सीमित कर दिया है। जबकि दर्शन की और भी विविध शाखायें हैं - यथा - ज्ञानमीमांसा, सौन्दर्यमीमांसा, मूल्यमीमांसा, सामाजिक दर्शन, राजनीतिक दर्शन आदि। इसका भट्टाचार्य के दर्शन में कोई उल्लेख नहीं मिलता है। ज्ञान-विज्ञान की समस्त विधाओं का उद्देश्य अंततः प्राणिमात्र के योगक्षेम का पथप्रशस्त करना है। ऐसी स्थिति में दर्शन को केवल तत्त्वमीमांसा तक सीमित रखना अत्यन्त संकुचित दृष्टिकोण है।

पुनः दर्शन और विज्ञान वस्तुतः एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं (जैसा भट्टाचार्य समझते हैं) यद्यपि दोनों के प्रतिपाद्य विषय अलग-अलग हैं। तथापि दोनों एक दूसरे का सहयोग करके ज्ञान के क्षेत्र में मानव - कल्याण की पूर्णता की मञ्जिल प्राप्त कर सकते हैं।

प्रो0 भट्टाचार्य ने दर्शन को सैद्धान्तिक चेतना की अभिव्यक्ति बतलाया है। उन्होने दर्शन के क्षेत्र को सैद्धान्तिक एवं सिम्बोलिक स्तर तक सीमित कर दिया है। दार्शनिक चिंतन को मात्र अमूर्त चिंतन तक सीमित करना उचित नहीं है। दर्शन का अध्ययन बहुमुखी और व्यापक होना चाहिए। ' विश्वमीमांसा ' के क्षेत्र में प्रो0 भट्टाचार्य का योगदान नगण्य है। उन्होंने प्रकृति को वेदान्त की तरह अज्ञानमय माना है।

प्रो0 भट्टाचार्य ने अपने दर्शन में चेतना के विविध आयामों का वर्णन किया है। आत्मा विविध प्रकार के स्तरों को क्रमशः पार करते हुए जब बाह्य जगत् (वस्तु जगत्) से पूर्णतया सम्बन्ध विच्छेद कर लेती है तभी उसे पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है। भावना और विचार से जब पूर्ण मुक्ति प्राप्त हो जाती है तभी स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। कृष्णचन्द्र जी ने इस तरह आत्म स्वातन्त्रय की बात तो की है परन्तु आत्मा को स्वतन्त्रता कैसे प्राप्त होगी? किन साधनों को अपना करके यह आत्मस्वातन्त्र्य प्राप्त किया जा सकता है? इसकी कोई चर्चा भट्टाचार्य के दर्शन में नहीं

मिलती। साधनों के अभाव में सामान्य साधक के लिए आत्मस्वातन्त्र्य का विचार केवल एक आदर्शात्मक कल्पना ही प्रतीत होती है।

समकालीन पाश्चात्य दार्शनिकों (विट्गेन्सटाइन, ए0 जे0 एयर, रुडोल्फ कार्नाप) ने प्रो0 भट्टाचार्य के दर्शन को अत्यन्त संकुचित कहा है। विशेषकर तार्किक भाववाद और भाषा-विश्लेषण जैसे दार्शनिक विधाओं की शुरुआत के बाद तो भट्टाचार्य का दर्शन एकदम अर्थहीन हो जाता है। तार्किक प्रत्यक्ष वादियों का कहना है कि यदि इन्द्रियानुभव से परे कोई सत्ता है तो वह अर्थहीन है। ए0 जे0 एयर स्पष्ट शब्दों में कहते हैं - यह हमारी मौलिक धारणा है कि कोई भी वाक्य जो हमारे सभी संभव इन्द्रियानुभव से परे की ओर संकेत करता है, अर्थ नहीं रखता। जिसका अभिप्राय यह है कि उन लोगों का सारा प्रयास जिन्होंने इस प्रकार की सत्ता के वर्णन की कोशिश की है, अर्थहीन की उत्पत्ति में रहा ।[59]

यह मान्यता कि दर्शन पराविद्या है, विज्ञानों का विज्ञान है, मिथ्या है। सिद्धान्ततः अनुभव का कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है, जो वैज्ञानिक नियमों के अन्तर्गत न हो एवं संसार का कोई भी चिन्तनात्मक ज्ञान विज्ञान से बाहर नहीं है।[60] तत्त्वमीमांसा का निरसन करने के उपरान्त दर्शन के कार्य के सम्बन्ध में विट्गेन्सटाइन कहता है ' समस्त दर्शन भाषा का आलोचन है।'[61]

वस्तुतः विश्व और जीवन के रहस्य की गुत्थियों को सुलझाने में न तो अकेले विज्ञान सफल हो सकता है और न दर्शन। विज्ञान और दर्शन दोनों में जब तक समन्वय नहीं होगा ' परमसत्ता ' को उसकी पूर्णता में नहीं समझा जा सकता। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि ' परमसत्ता ' की प्राप्ति के सम्बन्ध में भट्टाचार्य का दृष्टिकोण एकांगी है।

प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने जिस पूर्ण स्वतन्त्रता की बात की है वह एक संभावना मात्र है। ' सब्जेक्ट एज फ्रीडम ' या एब्सोल्यूट फ्रीडम, एक संभावना मात्र है।

अनादि काल से माया मोह के पाश में आबद्ध प्राकृत जन के लिए निरपेक्ष स्वतन्त्रता की प्राप्ति सुखद आदर्शात्मक कल्पना ही प्रतीत होती है। यह स्तर पूर्णतः अनिश्चित है क्योंकि यहाँ तक पहुँच पाना असंभव सा लगता है।

आध्यात्मिक चेतना हमें आत्म स्वातन्त्र्य का बोध नहीं करा सकती। ' विषयी ' सदैव पूर्ण स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। ' सब्जेक्ट एज फ्रीडम '

की अनुभूति अनुभवातीत चेतना में ही संभव है। आध्यात्मिक चेतना में ' मैं ' बोध का पूर्णतः निषेध नहीं हो पाता है। मनुष्य ' मैं ' बोध का निषेध कर पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति का सदैव प्रयास करता रहता है।[62]

- 0 -

संदर्भ सूची

1. ये - ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके
सर्वान् कामाँश्छन्दतः प्रार्थयस्व
इमा रामाः सरथाः सतूर्या
नहीदृश्या लम्भनीया मनुष्यैः
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ।।

कठोपनिषद् - 1/1/25 अन्तर्गत ईशादि नौ उपनिषद् प्रकाशक - गोविन्द भवन कार्यालय गीताप्रेस, गोरखपुर।

2. Philosophy in India is essentially spiritual. It is the intense spirituality of India and not any great political structure or social organisation that it has developed, that has enabled it to resist the ravages of time and accidents of history. S. Radhakrishanan, Indian philosophy. Vol - 1. P. 24 (London : George Atlem and unwin 1923)

3. दत्त, डी0 एम0, द चीफ करेन्ट्स आफ कन्टेमपोररी फिलोसफी, पृष्ठ 116 का हिन्दी अनुवाद, अन्तर्गत भारतीय दर्शन, सम्पादक - डॉ0 नन्द किशोर देवराज, पृष्ठ 692, प्रकाशक - उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान।

4. The classical German philosophy and the traditional Advaita vedanta exercised a major influence in shaping his philosophical views.
Sinha. R.C. Concept of Reason and Intution Page 69.

5. अपरोक्षत्वाच्चप्रत्यगात्मप्रसिद्धेः - ब्रह्मसूत्र प्रवचन (शारीरक भाष्य) पृष्ठ -324 खण्ड-1. प्रकाशक - सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, मुम्बई।

6. 'Philosophy presents beliefs that are speakble or Systematically communicable and is lik science an expression of the theoretic consciousness.' The concept of philosophy - Published in 1936.
Krishnachandra Bhattacharya - Studies in philosophy page 463 Edited by - Gopinath Bhattacharya, Publisher- Motilal Banarsidas.

7. The object is called 'fact' and is delt with in science. Philosophy deals with the object that is intelligible only in reference to the subject. वही, पृष्ठ . 472 ।

8. Fact and self-subsistent are both literally spoken and in both the believed content is figured by being spoken. Fact is understood as independent of this figuration while the self subsistent is presented as constituted by it. वही, पृष्ठ 474 ।

9. दार्शनिक त्रयमासिक, पृष्ठ 70 जनवरी - दिसम्बर (1991-92) संयुक्तांक

10. Empirical thought is the theoratic consciousness of a content involving reference to an object that is perceived or imagined to be preceived, such reference being part of the meaning of the content. The concept of philosophy, Published in 1936.
Krishnachandra Bhattacharyya - studies in philosophy edited by Gopinath Bhattacharyya, Page 464, Publisher- Motilal Banarsidas.

11. There are contents that are objective but have no necessary reference to sense-perception and the consciousness of such contents may be called pure objective or contempletive thought. वही, पृष्ठ 464.

12. श्रीवास्तव, जे0 एस0 - आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास पृष्ठ 75-76, प्रकाशक - किताब महल, 15 थार्नहिल रोड, इलाहाबाद।

13. सक्सेना, लक्ष्मी - समकालीन भारतीय दर्शन, पृष्ठ 263, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

14. The content of spiritual thought is no object, nothing that is contemplated in the objective attitude, being subjective in the sense of being appreciated in a subjective or 'enjoying' attitude. The concept of philosophy 1936, studies in philosophy p.464 Edited- G.N. Bhattacharya

15. Transcendental thought is the consciousness of a content that is neither objective nor subjective. वही , P.464.

16. The contents of four grades of thought may be provisionally called fact, self-subsistence, reality and truth. Science deals with fact, the content of empirical thought. Philosophy deals with the last three, the contents of pure thought in the objective, subjective and transcendental attitudes. वही , P. 464.

17. Illusion may be-
    (i) A being only to be denied.
    (ii) A being as positive as fact but different from it and positively related to it.

(iii) Identical with fact, relation being but identity, or

(iv) No being at all but negation transcending all being. some aspects of negation, Published in 1914 वही ,P. 567.

18. Each position is different from an infinity of other positions and is thus constituted by an infinity of differences, by infinite negation, Each negation too would thus be the negation of infinite position i.e., a negation identical with infinite position. वही , P.571 Some aspects of negation. published in 1914.

19. Object as meant is distinguished from the subject or the subjective of which there is some awareness other than the meaning awareness. The subject as freedom. Published in 1930. वही ,P. 381.

20. The absolute does not want to make eyes of itself in a mirror, or like a squirrel in a cage to revolve the circle of its perfections. Bradley. F.H. Appearance and Reality P.152.

21. It would be experience entire, containing all elements in harmony, Thought would be present as a higher intution will would be there, where the ideal had become reality and beauty and pleasure and feeling would live on in thus total fulfilment. वही,P. 152.

22. सिन्हा, रमेशचन्द्र, विजय श्री चन्द्र - समकालीन भारतीय चिंतक, पृष्ठ 132, जानकी प्रकाशन-नई दिल्ली.

23. What the speaker means by a word must be capable of being meant by the hearer if he were to use it. The subject as freedom. Published in 1930.
Krishna Chandra Bhattacharyya - Studies in philosophy, Edited by, Gopinath Bhattacharyya. Page 381, Publisher-Motilal Banarsidas.

24. The statement 'this is I ' is false while the statement 'I am this ' can not be denied. वही ,P.382.

25 " अहं ब्रह्मास्मीत्येतदवसाना एव सर्वे ......प्रमाणानि "। शांकर भाष्य ब्रह्मसूत्र-1/1/4.

26. ' सर्वे ....सशयाः विच्छेदमायान्ति । " शांकर भाष्य, मुण्डकोपनिषद - 2/2/8.

27. The fact that falls elsehere seems in my mind to be a mere word and a failure, or else an attempt at self contradiction, It is a vicious abstraction whose existence is meaningless non-sense and it therefore not possible. Bradley F.H. Appearance and Reality Page.128.

28. शर्मा, चन्द्रधर - पाश्चात्य दर्शन, पृष्ठ 147, प्रकाशक - मनोहर प्रकाशन, जतनवर, वाराणसी।

29. Pure subjectivety must be completely free from all traces of objectivity.
Sinha. R.C. Concepts of Reason and Intution.Page.112.

30. "At the level of introspection 'I consciousness' persists. In spiritual consciousness this ' I consciousness' should vanish. Therefore, even in the introspective level there is a demond for self transcendence."
Sinha.. R.C. Concept of Reason and Intution।Page. 117.

31. To mean not mearly the conscious absence but the conscious impossibility of meaning is the pure function of subjectivity, the function of introspection that is not objective even in the form of the meant unmeanable. If the feeting of feeling is already a detachment from subjective being, it is a contradiction .... It is the positive of which the negation is not even tried to be meant. The subject as freedom. published in 1930 Krishna Chandra Bhattacharyya- studies in philosophy Edited by- Gopinath Bhattacharyya. P.442-443. Publisher- Motilal Banarsidas.

32. शर्मा, चन्द्रधर, पाश्चात्य दर्शन पृष्ठ - 97, प्रकाशक - मनोहर प्रकाशन, जतनवर. वाराणसी.

33. To mention only a few at random, there is the negative matter of Pleto, The maya of the Vedantists, and the sunyam or void of Buddhists. There is the notion of objective chance in Aristotle and of the inexplicable change of direction of the Atoms of Lucretius. There is the conception of the indeterminate will, specially in the extreme form of unmotived or irrational activity as presented by a Duns scotus, a schopenhauer or a Bergson and there is finally the unknowable whether of Kant or of Spencer. The place of the indifinite in Logic- Published in 1916
Krishna Chandra Bhattacharyya- Studies in philosophy- Edited by- Gopinath Bhattacharyya, Page.587. Publisher- motilal Banarsidas.

34. Both bring out the transcendental indefinite but both take it uncritically to be real. वही , P. 584.

35. Fully to realise the existence of the Absolute is for finite beings impossible.
Bradley F.H. Appearence and Reality P.140

36. In order thus to know, we shall have to be and then we should not exist. वही ,P. 140.

37. We have only an indefinite relation between content and consciousness. The concept of the Absolute and its alternative forms published in 1934.
Krishna Chandra Bhattacharyya- Studies in philosophy- Edited by- G.N. Bhattacharyya, P.483. Publisher - Motilal Banarsidas.

38. The absolute may be defined from the stand point of reflection as what is free from the implicational dualism of content and consciousness. वही ,P.486.

39. It is meaningless, however, to cognitively assert that there are three absolutes or one absolute, for the absolute is not known content and it is only about a known content that the question 'one or many' has any meaning. वही, P. 486.

40. So its primary problem should be whether there is any form which is not matter, which is not determinate, which is undeniably presupposed in all determinate. concrete thought, accepted or disputed, which infact-

-paradoxical as it may sound- is not affected even by the uncertainty of this problem. वही , P.588.

41. साध्वलंकार सुवसनादीनामागन्तुकामां छायाकरत्वमुदशरावे यथा शरीरसम्बद्धानामेवं शरीरस्यापिच्छाया- -करत्वं पूर्वं वभूवेति गम्यते। शरीरैक देशानां च लोमनखादीनां नित्यत्वेनाभिप्रेतानामखण्डितानां छायाकरत्वं पूर्वमासीत्। छिन्नेषु च तेषु नैव लोमनखादिच्छाया दृश्यते अतो लोमनखादिवच्छरीरस्या- त्यागमापायित्वं सिद्धमित्युदशरावादौ दृश्यमानस्य तन्निमित्तस्य च देहस्यानात्मत्वं सिद्धम्, उदशरावादौ छायाकरत्वात्देहसम्बद्धालंकारादिवत्। न केवलमेतावदेतेन यावत्किंचिदात्मीयत्वाभिमतं सुख दुःख रागद्वेषमोहादि च कादाचित्कत्वान्नखलोमादिवदनात्मेति प्रत्येतव्यम् ।।

छान्दोग्योपनिषद् पृष्ठ 879-880 प्रकाशक - गोविन्द भवन कार्यालय गीताप्रेस, गोरखपुर.

42. मघवन्मर्त्यं वा इद शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनो अधिष्ठानमात्तो वैसशरीरः प्रियाप्रियाभ्या न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत.।।

वही, द्वादश खण्ड पृष्ठ 906-908.

43. मुण्डकोपनिषद् - अन्तर्गत ईशादि नौ उपनिषद्, ।।।, 2.8., प्रकाशक - गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर.

44. तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयाद् अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय· तेनैव पूर्णः।.................... पुरुष विध एष। तैत्तिरीय उपनिषद् ।।, 2.5.

प्रकाशक - गोविन्द भवन कार्यालय गीताप्रेस गोरखपुर।

45. सोऽयमात्मा चतुष्पात् । जागरित स्थानो वहिष्प्रज्ञः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः । स्वप्नस्थानो अन्त·प्रज्ञ· प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः । यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् । सुषुप्त स्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् प्राज्ञस्तृतीयः पादः ....। नान्तः प्रज्ञं न बहिप्रज्ञं नोभयतप्रज्ञं न प्रज्ञान घनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म्यप्रत्यय सारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा ।।

माण्डूक्य उपनिषद् 2-7.

रानाडे, रामचन्द्र दत्तात्रेय, अनुवाद - रामानन्द तिवारी, उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण,

पृष्ठ - 98 राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर ।

46. अन्यया गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्वमजानतः विपर्यासे तयो. क्षीणे तुरीय पदमश्नुते ।।
माण्डूक्य कारिका - आगम प्रकरण - 25

47. अनादि मायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते। अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैत बुध्यते तदा ।। वही, 1/16.

48. The classical German philosophy and the traditional Advaita Vedanta exercised an major influence in shaping his philosophical views.
Sinha R.C.'Concepts of reason and intution.' page. 69.

49. पाण्डेय, संगमलाल - कांट का दर्शन, पृष्ठ 106 प्रकाशक - दर्शनपीठ 117, टैगोर नगर, इलाहाबाद-211 002

50. वही, पृष्ठ 110-111.

51. शर्मा, चन्द्रधर - पाश्चात्य दर्शन, पृष्ठ 174, मनोहर प्रकाशन, जतनबर, वाराणसी।

52. प्रो0 संगमलाल पाण्डेय - काट का दर्शन, पृष्ठ 118, प्रकाशक - दर्शनपीठ 117, टैगोर नगर, इलाहाबाद- 211 002.

53. यथा नद्यः स्यन्दनमाना. समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपं विहाय ।
तथा विद्वान नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरूषमुपैति द्विव्यम् ।।
मुण्डकोपनिषद् - 3/2/8.

54. Object as the meant is distinguished from the subject or the subjective of which there is some awareness other than the meaning—awareness. The subject as freedom published in 1930.
Krishna Chandra Bhattacharyya. Studies in philosophy Edited by - Gopinath Bhattacharyya, p.381, Publisher-Motilal Banarsidas.

55. सिन्हा, रमेशचन्द्र एवं विजय श्री चन्द्र। समकालीन भारतीय चिन्तक, पृष्ठ 126. प्रकाशक - जानकी प्रकाशन, पटना, नई दिल्ली ।

56. At the level of introspection " I consciousness " persists. In spiritual consciousness this " I consciousness" should vanish. Therefore, even in the introspective level there is a demond for self transcendence.
Sinha. R.C. 'Concepts of Reason and intution' P.117.

57. I am never positively conscious of my present individuality, being conscious of it only as what is or can be outgrawn, only as I feel freeing myself from it and am free to the extent implied by such feeling.
The subject as freedom. published in 1930. Krishnachandra Bhattacharyya, Studies in philosophy Edited by - Gopinath Bhattacharyya. P.454, Publisher- Motilal Banarsidas.

58. The negation of " I" leades to the real and transcendental subject. In the introspective stage man has an awareness of freedom from all content meant or felf. In the final stage of subjectivity, this consciousness is no longer there. There is freedom without any consciousness of it. Sinha R.C. Concepts of Reason and Intution. Page.120.

59. The fundamental postulate of metaphysics is that there is a super (or hinter) phenomenal reality ...... it is the aim of metaphysics todescribe a reality lying

beyond experience and therefore any proposition which would be varified by empirical observation is ipso facto not metaphysical.
A.J. Ayer - Demonstration of the impossibility of metaphysics. Mind, July; 1934.

60. There is no field of experience which connot in principle be brought under some from of scientific law and no type of speculative knowledge about the world which it is, in principle beyond the power of science to give. A.J. Ayer Language truth and Logic page. 48.

61. All philosophy is a critique of language. Tractatus 4.0031.

62. In spiritual consciousness, there is enjoying consciousness of 'I' at this stage individuality is not completely transcended. There is a relation between 'subject as free' and freedom itself. In transcendental consciousness 'I' is negated. In this stage, even the enjoying consciousness of 'I' or subject is negated. There remains pure- consciousness.
Sinha R.C. Concepts. of Reason and Intution P.120.

* * *

तृतीय अध्याय

स्वामी विवेकानन्द का नव वेदान्तवाद

सत् (ब्रह्म) और ईश्वर

आचार्य शकर के अनुसार ब्रह्म की ही एकमात्र निरपेक्ष सत्ता है। यही ब्रह्म जब माया से संयुक्त हो जाता हे तो वह ईश्वर कहलाता है। ईश्वर की निरपेक्ष सत्ता नही है। इसकी तो आभासिक सत्ता है। स्वामी विवेकानन्द ब्रह्म और ईश्वर के बीच इस प्रकार का भेद करना उचित नहीं समझते है। उनके अनुसार ब्रह्मवाद, अमूर्त एकवाद, ईश्वरवाद - ये सभी सत् को समझने के हमारे भिन्न-भिन्न ढग हैं, ये सत् के लक्षण नहीं है। विवेकानन्द सत् की व्याख्या मे एकवादी तथा ईश्वरवादी दोनों व्याख्याओं के बीच सहज भाव से विचरण करते है। ए0के0 मजूमदार साहब का विचार है कि यद्यपि स्वामी विवेकानन्द ने व्यक्तित्व रहित ईश्वर या ब्रह्म को परमसत्ता के रूप मे स्वीकार किया है तथापि विवेकानन्द के अनुसार व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर की सत्ता है।[1]

प्राय· अद्वैत विचारकों के समान ही विवेकानन्द कहते है कि सत् एक निरपेक्ष ब्रह्म है। ब्रह्म ही एक और एक मात्र सत्ता है। विवेकानन्द इस सत्ता के एकत्व पर इतना अधिक जोर देते हैं कि उसे 'सम्पूर्णता' कहना भी उपयुक्त नहीं समझते हैं। 'सम्पूर्णता' शब्द स्वय मे विविध अवयवों का संघात होना द्योतित करता है। अत यदि सत् के लिए भी इसी संज्ञा का प्रयोग किया जायेगा तो उसे भी विविध अशों का समवाय स्वीकार करना पड़ेगा जबकि ब्रह्म अविभाज्य है। वस्तुत निरपेक्ष सत् की अवधारणा अमूर्त विचार प्रक्रिया की अन्तिम सीमा है। यही कारण है कि 'निरपेक्ष सत् अनिवार्यत: तथा अद्वैत रूप मे एक है, असीम अविभाज्य है। असीम के अवयव या अश नहीं होते। निरपेक्ष सत् का विभाजन नहीं हो सकता।[2]

ब्रह्म, देश, काल, कारणता आदि से परे है। कालातीत होने के कारण वह अपरिवर्तनशील है। वह कूटस्थ नित्य है। कारण कार्य के सम्प्रत्यय ब्रह्म पर लागू नही होते हैं। हम पूँछते हैं 'ब्रह्म पर किस कारण ने कार्य किया ? तो हम कितनी बड़ी भूल करते हैं, यह प्रश्न करने का अर्थ है कि ब्रह्म भी किसी अन्य के अधीन है - वह निरपेक्ष ब्रह्म सत्ता भी अन्य किसी के द्वारा बद्ध है। अर्थात ब्रह्म अथवा निरपेक्ष सत्ता शब्द को हम जगत् के समान समझते है।

हम उसे जगत् के स्तर पर नीचे खींच लाते हैं। ब्रह्म मे देश-काल-निमित्त है ही नहीं, क्योंकि वह एकमेवाद्वितीय है - अपनी सत्ता का जो स्वयं ही आधार है उसका कोई कारण हो ही नहीं सकता।[3]

विवेकानन्द के मतानुसार ब्रह्म, आत्मा और ईश्वर में न तो परस्पर विरोध पाया जाता है और न तीनो त्रिविधि सत्ताओं के अलग-अलग नाम है। ऐसा नही है कि हमे इनकी अलग-अलग अनुभूति होती है और तब हम इन्हे एक दूसरे के साथ सम्बन्धित करने का प्रयास करते हैं। वह सब एक ही प्रकार की अनुभूति है। वह तो हमारे भाषीय अभिव्यक्ति के ढंग, विशेषत. आलंकारिक एवं उपमाजन्य भाषीय प्रयोगों के ढंग हैं। जिससे इनकी भिन्नताओं की भ्रान्ति उत्पन्न होती है।[4] जिस प्रकार एक ही अग्नि जगत् में प्रविष्ट होकर वाह्य वस्तु के रूपभेद से भिन्न-भिन्न रूप धारण करती है उसी प्रकार सब भूतों की वह एक अन्तरात्मा नाना वस्तुओं के भेद से उस वस्तु का रूप धारण किये हुए है और सबके बाहर भी है। जिस प्रकार एक ही वायु जगत् में प्रविष्ट करके नाना वस्तुओं के भेद से तद्रूप हो गयी है, उसी प्रकार सब भूतो की वही एक अन्तरात्मा नाना वस्तुओं के भेद से उस रूप की हो गयी है और उनके बाहर भी है। जिस तरह से उपनिषदों में ब्रह्म को शब्द और वाणी से परे बतलाया गया है, उसी तरह से विवेकानन्द के अनुसार भी ब्रह्म मन और वाणी से परे है। निरपेक्ष सत् का किसी भी तरह से वर्णन नहीं किया जा सकता। यह कहना कि निरपेक्ष सत् को जाना जा सकता है, एक आत्म व्याघातक कल्पना है, वस्तुतत वह अनिर्वचनीय है।

हम 'उसे' जान गये, यह कहना ही पाखण्डपूर्ण है। क्योंकि पहले से तुम

वही (ब्रह्म) हो। नाम और रूप उठा लो फिर जो सत्य वस्तु बची रहती है वह वही है। वह हर एक वस्तु में सत्य स्वरूप है।[5] भगवान को माता-पिता, भाई या प्रिय मित्र कहने से उसको 'विषयीकृत' करना पड़ता है- उसको बाहर लाकर देखना पड़ता है। पर ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता। वह तो सब विषयों का अनंत विषयी है। तुम अपनी आत्मा को नहीं जान सकते, तुम उसे बाहर नहीं ला सकते और न उसे 'विषय' के रूप मे दृष्टिगोचर कर सकते हो, क्योंकि तुम स्वयं वही हो। तुम उसको अज्ञेय भी नहीं कह सकते क्योंकि अज्ञेय कहने से भी पहले उसे 'विषय' बनाना पड़ेगा- और यह हो नहीं सकता। तुम अपने निकट स्वयं जितने परिचित या ज्ञात हो इससे अधिक कौन सी वस्तु तुमको ज्ञात है? वास्तव मे वह हमारे ज्ञान का केन्द्र है। ठीक इसी अर्थ में यह कहा जा सकता है कि ईश्वर ज्ञात भी नहीं है, अज्ञात भी नहीं है, वह इन दोनों की अपेक्षा अनन्त गुना ऊँचा है क्योंकि वही हमारी यथार्थ आत्मा है।[6]

ब्रह्म ज्ञान के पूर्व हमे सर्वत्र नानात्व दिखायी पड़ता है परन्तु ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर नानात्व समाप्त हो जाता है। विधाता की सम्पूर्ण सृष्टि आत्मवत् हो जाती है। 'जब तक तुम अपने आपको संसार से भिन्न समझते हो, तब तक तुम्हारा कोई व्यक्तित्व नहीं। तुम तभी अपना व्यक्तित्व लाभ करोगे, जब ब्रह्मांड में मिलकर एक हो जाओगे। सम्पूर्ण में मिलकर ही तुम अमरता प्राप्त करोगे। जब तुम ब्रह्मांड हो जाओगे, तभी तुम निर्भय और अविनाशी भी होगे। जिसे तुम ईश्वर कहते हो, वह ब्रह्मांड ही है, वह सम्पूर्ण है, वही तुम भी हो। इस एक सम्पूर्ण ब्रह्मांड को साधारण स्थिति के हमारे से मस्तिष्क वाले सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि नाना रूपो में देखते हैं, जो इनसे भी ऊँचे होते हैं, वे इसे ब्रह्म लोक करके

देखते हैं और जो सम्पूर्णता प्राप्त कर चुके हैं वे न मृत्यु लोक देखते है, न स्वर्ग-लोक, न ब्रह्म-लोक। तब तो इस ब्रह्माड का ही लोप हो जाता है और केवल ब्रह्म ही ब्रह्म रह जाता है। [7]

विवेकानन्द के अनुसार यद्यपि निरपेक्ष सत् को मन और वाणी का विषय नहीं बनाया जा. सकता तथापि निरपेक्ष सत् को 'सत्-चित्-आनद' कहकर समझाने का प्रयास किया जा सकता है। यद्यपि यहाँ पर भी ब्रह्म का विश्लेषण उपनिषद् और शांकर वेदान्त से मिलता-जुलता है तथापि विवेकानन्द उक्त मतों से किंचित वैभिन्य स्थापित करते हुए आनन्द को प्रेम के रूप मे स्थापित करते हैं। फिर ब्रह्म का यही निरूपण उन्हे ईश्वर के निकट ले आता है। उनका मत है कि निरपेक्ष, अवैयक्तिक सत् को समझने की एक दृष्टि यह भी है कि उसे जगत् का स्रष्टा, शासक तथा जगत् के पूर्ण कारक के रूप मे देखा जाता है। यहाँ पर एक प्रश्न यह पैदा होता है कि यदि सत् अनिर्वचनीय है तो वह सगुण कैसे होगा? वस्तुत. ब्रह्म और ईश्वर एक ही सत्ता के दो नाम हैं। उनमे तात्विक भेद नहीं है। उनमें दिखलाई पड़ने वाला भेद हमारे दृष्टिकोण का फल है। ईश्वर को अन्तत अयथार्थ कहने की आवश्यकता ही नहीं है। वही सत् तात्विक दृष्टि से ब्रह्म है और उस सत् को जब हम धार्मिक दृष्टि से देखते हैं तो वह ईश्वर है। यह ईश्वर सब कुछ है। कण-कण मे व्याप्त है। उसी की शक्ति से आकाश में विस्तार है, उसी की शक्ति से वायु का श्वास है, उसी की शक्ति से सूर्य चमकता है तथा उसी की शक्ति से सभी जीवित हैं। वही जगत् का सत् है। वही आत्म की आत्मा है।[8] निरपेक्ष सत् महासागर है। जबकि आप और हम सूर्य एवं तारे तथा अन्य सभी कुछ उसी सागर की विभिन्न तरंगे हैं। इन तरंगो की एक दूसरे से भिन्नता क्या है ? वह भिन्नता केवल आकार का है, जो आकार काल, स्थान और कारणता है जो सब उन तरंगों पर ही पूर्णतया आधृत है।[9]

ईश्वर-अस्तित्व के पक्ष में युक्तियाँ

ईश्वर आस्था एवं विश्वास का विषय है। उसकी साक्षात् अनुभूति की जा सकती है। वह तर्क का विषय नहीं है तथापि जब तक ईश्वर-साक्षात्कार नहीं हो जाता है तब तक ईश्वर-विषयक् प्रमाणों से ईश्वर विषयक् आस्था उत्पन्न करने मे मदद मिलती है। विवेकानन्द का विचार है कि सामान्यतया प्रारम्भिक अवस्था मे लोगों की आस्था एवं अभिरूचि उन्ही विषयों में प्रगाढ़ होती है जिनका आधार बौद्धिक होता है साथ ही जिन व्यक्तियों को ईश्वरीय अनुभूति प्राप्त हो गयी है वे उस विशिष्ट रहस्यात्मक अनुभूति को सामान्य भाषा के माध्यम से व्यक्त नहीं कर सकते हैं। अतः साधारण मनुष्यों के अवबोध के लिए इन अनुभूतियों की यथार्थता एव प्रामाणिकता को बौद्धिक परिवेश मे प्रस्तुत करना पड़ता है। उक्त कारणों से ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में दी गयी युक्तियों का विशेष महत्व है। ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष मे निम्नलिखित युक्तियाँ दी जा सकती हैं -

क. इस जगत् पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो हम देखते हैं कि उसमे सम्पूर्णता, व्यवस्था, सामंजस्य और विशालता का अद्भुत संयोग पाया जाता है। सामान्य व्यक्ति इतनी सुन्दर व्यवस्था नहीं कर सकता है। निश्चित रूप से इसके पीछे किसी पूर्ण सत्ता का हाथ है जिसने इस संसार में इतनी सुन्दर व्यवस्था दी है और वह ईश्वर है। परन्तु इस प्रकार के तर्क से वस्तुतः ईश्वर के स्वरूप को पूर्णत विवेचित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के ईश्वर का विचार वस्तुत विश्व के एक परम निर्माण कर्ता का ही विचार है क्योंकि इस प्रकार का निर्माण कर्ता वस्तुत व्यवस्थापक ही होता है।[10] किन्तु कुछ लोगों के लिए इस प्रकार का प्रमाण ईश्वर का स्वरूप प्रस्तुत करने में सफल सिद्ध होता है।

ख. प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है बिना कारण के कोई भी घटना नहीं घटती है। इस तरह से कारण कार्य की श्रृंखला में जब हम उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं तो हमें एक ऐसे कारण को अवश्य स्वीकार करना पड़ता है जो अन्य सब कुछ का कारण तो है परन्तु उसका कोई कारण नहीं है। वही ईश्वर है। जो अपने अस्तित्व के लिए आत्म निर्भर है, उसका कोई कारण नहीं है। जो पूर्णतया स्वतन्त्र है उसका कोई कारण नहीं होता, अन्यथा वह स्वतन्त्र ही नहीं होता, कारण से बंधा होता।[11]

ग. सभी वस्तुओं में निहित एकत्व के द्वारा भी ईश्वर की सत्ता सिद्ध की जा सकती है। जगत् की विभिन्न वस्तुएं जो एक दूसरे को सर्वथा भिन्न प्रतीत होती है वस्तुतः तथा मूलतः एक रूप है। समस्त वस्तुएं उसी के प्रकाश से प्रकशित है। 'तमेवभान्तमनुभातिसर्वं तस्य भासा सर्व इदं विभाति। यदि हम धरातली दृष्टि से कुछ हट कर गहराई से देखें, सोचें तो हमें हर मनुष्य एक वर्ण में, यहाँ तक कि जीवों तथा मानव मे ईश्वर तथा मनुष्य में एकत्व दिखलाई पड़ेगा। इस दृष्टि से ऊँच-नींच, अमीर-गरीब जैसे मानवीय भेद मिट जाते है। यदि ऐसी दृष्टि और सघन तथा गहरी हो तो शायद यह भी स्पष्ट हो जाय कि सब कुछ वस्तुत. एक ही तत्व का स्पन्दन है।

यदि तुम भीतर जाकर देखो तो इस एकत्व को देखोगे - मनुष्य - मनुष्य में एकत्व नर-नारी में एकत्व, जाति-पाति में एकत्व ऊँच-नींच में एकत्व, धनी और दरिद्र में एकत्व, देवता और मनुष्य में एकत्व, मनुष्य और पशु में एकत्व। सभी तो एक हैं और यदि और भी भीतर प्रवेश करो तो देखोगे - अन्य प्राणी भी एक ही हैं। जो इस प्रकार एकदर्शी हो चुके हैं उनको फिर मोह नहीं रहता, वे अब उसी एकत्व में पहुँच गये हैं जिसको धर्म-

विज्ञान में ईश्वर कहते हैं।[12]

घ. प्रेम की व्यापक अनुभूति के माध्यम से भी विवेकानन्द ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करना चाहते हैं। आत्मस्थ भावों या आत्म स्वरूप का वाह्य जगत में प्रक्षेपण की प्रक्रिया में ही प्रेम का उद्भव होता है। प्रेमी अपने प्रेमपात्र में अपने ही स्वरूप को निहारता है। प्रेम में 'स्व' और 'पर' का भेद समाप्त हो जाता है। क्योंकि अन्य में भी हम अपने आपको देखते हैं। प्रेम का चरम रूप वहाँ होगा जहां नानात्व समाप्त हो गया होगा और वह एक दिव्य अनुभव होगा जहां शुद्ध एकत्व की अनुभूति होगी। यही ईश्वर है। तुम्हारी एक आत्मा मेरी दूसरी आत्मा - यह सत्य नहीं है। अतएव मनुष्य का प्रकृत स्वरूप एक ही है। वह अनन्त और सर्वव्यापी है और यह प्रातिभासिक जीव मनुष्य के इस वास्तविक स्वरूप का एक सीमाबद्ध भावमात्र है।[13] सत्ता केवल एक है। वह अनादि, अनन्त और शाश्वत, शिव स्वरूप है। एक आत्मा ही है जो इन सारी चीजों से परे है जो अपरिमेय है जो ज्ञात से, ज्ञेय से परे है। हम उसी मे तथा उसी के माध्यम से विश्व को देखते हैं। एक मात्र सत्य वही है। वही यह मेज है। वही दर्शक है, वही दीवाल है, वही सब कुछ है।[14]

ड शब्द प्रमाण के द्वारा भी ईश्वर की सत्ता सिद्ध की जा सकती है। वेदों और उपनिषदों में ईश्वर की सत्ता स्वीकार करते हुए उसके गुणों का नाना प्रकार से वर्णन किया गया है। अपनी ईश्वर विषयक' मान्यता की पुष्टि के लिए स्वामी विवेकानन्द श्वेताश्वतर उपनिषद् का उदाहरण देते हुए कहते हैं-"तुम्हीं पुरूष हो, तुम्हीं स्त्री हो, यौवन के गर्व से भरे हुए भ्रमणशील नवयुवक भी तुम्हीं हो, फिर तुम्हीं बुढ़ापे में लाठी के सहारे लड़खड़ाते हुए मनुष्य हो, तुम्हीं समस्त वस्तुओं में हो। हे प्रभो। तुम्हीं सब कुछ हो।[15]

शब्द-प्रमाण की आगे व्याख्या करते हुए वे कहते है कि अस्तित्व की दृष्टि से तो ईश्वर प्राथमिक है किन्तु ज्ञान की दृष्टि से शास्त्र प्राथमिक है। क्योंकि उन्ही के माध्यम से ईश्वर का ज्ञान प्राप्त होता है। अतः शास्त्रों के आधार पर भी ईश्वर की सत्ता सिद्ध की जा सकती है।

च ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए 'सादृश्यता मूलक' तर्क भी दिया जा सकता है। जिस प्रकार एक सुन्दर चित्र के सौन्दर्य का आनन्द स्वय विक्रेता नही ले पाता है, क्योंकि उसका ध्यान चित्र से मिलने वाली कीमत पर केन्द्रित रहता है परन्तु क्रेता उसका पूर्ण आनन्द लेता है क्योंकि वह उसे क्रय-विक्रय की दृष्टि से नहीं देखता। वह उसमें निहित सौन्दर्य को पकड़ता है तथा उससे अभिभूत होता है। उसी प्रकार विश्व भी एक चित्र है। जो इस विश्व में क्रय-विक्रय, लाभ-हानि के हिसाब-किताब में उलझे रहते हैं। वे इस चित्र के सौन्दर्य का आनन्द नहीं उठा पाते। जब इस प्रकार की इच्छाओं से ऊपर उठ हम विश्व के सौन्दर्य की ओर देखते है तभी हमें विश्व के सौन्दर्य का आनन्द मिलता है। विश्व के सौन्दर्य की अनुभूति में उसके रचयिता ईश्वर की अनुभूति निहित है। विवेकानन्द ईश्वर - आस्तित्व की कल्पना में एक कलाकार, एक कवि, एक चित्रशिल्पी आदि की उपमाओं का भी सहारा लेते हैं।

छ. हममें से प्रत्येक मनुष्य को 'स्वतन्त्रता' की न्यूनाधिक्य मात्रा प्राप्त है। कुछ कार्यों में हम अधिक स्वतन्त्र प्रतीत होते हैं और कुछ कार्यों मे कम। इसका अर्थ है कि तर्कत एक पूर्ण स्वतन्त्रता का भाव भी सम्भव है उसी भाव को ईश्वरीय भाव कहा जाता है। यह भाव अनिवार्य है क्योंकि यह अनिवार्यत. मानव में विद्यमान है, जिससे ईश्वर की सत्ता स्वयं

सिद्ध हो जाती है। विवेकानन्द कहते हैं - मानव के अन्तर मे स्थित ईश्वर की विद्यमानता ही उसे सदा ईश्वर को खोजने तथा ईश्वर को पाने के लिए प्रेरित करती है। मनुष्य उसकी खोज में भटकता रहता है वह उसे मन्दिरों और गिरजाघरों में ढूँढ़ता है। धरती पर ढूँढ़ता है, आकाश में ढूँढ़ता है तथा पुन· उसी बिन्दु पर वापस आ जाता है। जहाँ से प्रारम्भ करता है अर्थात् हर ओर ईश्वर को ढूंढ़ते-ढूँढ़ते पुनः अपनी आत्मा पर अपने अन्तर मे ही वापस आते हैं। इसका अर्थ है कि ईश्वर 'आत्म' के निकट है। यह आत्म, जीवन प्राण में निहित सत्ता है।[16]

ज. स्वामी जी का विचार है कि ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए यद्यपि अनेकों बौद्धिक प्रमाण दिये जा सकते है तथापि तर्कों के द्वारा ईश्वर की सत्ता पूर्ण-रूपेण नहीं सिद्ध की जा सकती। हाँ इतना अवश्य है कि जिसे परम सत्ता का बिल्कुल ज्ञान नहीं है ईश्वर विषयक् तर्कों से उसे इस दिशा मे आगे बढ़ने में किंचित मदद अवश्य मिलती है। वस्तुतः ईश्वर तर्क का विषय नहीं है। वह साक्षात् अनुभूति का विषय है। ऐसे द्रष्टा हुए हैं जिन्हें ईश्वर की साक्षात् अनुभूति प्राप्त थी। उनका यह भी कहना है कि हर व्यक्ति यदि प्रयत्न करे तो उसे भी ईश्वर की साक्षात् अनुभूति प्राप्त हो सकती है। उस अनुभूति के बाद उसके लिए बौद्धिक प्रमाणों की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। अत ईश्वर को प्रमाणित करने का सब से महत्वपूर्ण प्रमाण अंत प्रज्ञा मूलक प्रमाण है। विवेकानन्द स्पष्टत कहते हैं 'आप किसी भाषा में उसका विवरण नहीं दे सकते सभी भाषीय प्रयत्न जिनसे उसे पिता, भाई या प्रियतम, मित्र आदि कहा जाता है वे सभी ईश्वर को विषयनिष्ठ बनाने के प्रयत्न हो जाते हैं और ऐसा किया नहीं जा सकता। वह हर तत्व का शाश्वत् विषय है।[17]

जगत् विचार

आचार्य शंकर के अनुसार एक मात्र ब्रह्म की ही निरपेक्ष सत्ता है। ईश्वर और जगत् की केवल व्यावहारिक सत्ता है। जगत् मिथ्या और असत् है। परन्तु विवेकानन्द के जागतिक विचार आचार्य शंकर से भिन्न हैं। उनके अनुसार जगत् को असत् नहीं माना जा सकता। ईश्वर एक मात्र सत् है किन्तु जगत् ईश्वर की ही सृष्टि है अतः ईश्वरीय है और इस दृष्टि से वह भी सत् है। विवेकानन्द का विचार है कि वेदान्त में प्रतिपादित जगत् मिथ्यात्व का एक विशिष्ट अर्थ है। ब्रह्म के स्थायित्व तथा उसकी शाश्वतता के परिप्रेक्ष्य में जगत् को मिथ्या कहा गया है - जगत् अस्थायी तथा सतत् परिवर्तनशील है। जगत् में ऐसी अवस्था आती ही नहीं कि उसमें स्थायित्व हो। अत. जगत् का निश्चित शाश्वत तथा पूर्णतया निरपेक्ष स्वरूप निश्चित ही नहीं किया जा सकता। इस अर्थ में जगत् मिथ्या है और इस अर्थ में मिथ्यात्व सत् या सत्य का पूर्ण निषेध या व्याघात नहीं। सार रूप में कहा जा सकता है कि जगत् का कोई निरपेक्ष रूप में शाश्वत् एवं स्थाई स्वरूप नहीं है। किन्तु जिस रूप में जगत् है, जिस रूप में जगत् की अनुभूति होती है वह उसकी वास्तविक अनुभूति है।

'ज्ञानयोग' में अपने जगत् सम्बन्धी विचार स्पष्ट करते हुए विवेकानन्द कहते हैं 'जगत् मिथ्या है' इसका क्या अर्थ है? इसका यह अर्थ है कि उसका निरपेक्ष अस्तित्व नहीं है, मेरे तुम्हारे और अन्य सबके मन के सम्बन्ध में इसका केवल सापेक्ष अस्तित्व है। हम पाँच इन्द्रियों द्वारा जगत् को जिस रूप में प्रत्यक्ष करते हैं। यदि हमारे एक इन्द्रिय और होती तो हम इससे और भी कुछ अधिक प्रत्यक्ष करते तथा और अधिक इन्द्रिय सम्पन्न होने पर

हम इसे और भी भिन्न रूप में देख पाते। अतएव इसकी यथार्थ सत्ता नहीं है - इसकी अपरिवर्तनीय . अचल, अनन्त सत्ता नहीं है पर इसको अस्तित्व शून्य या अस्तित्व भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह तो वर्तमान है और इसमे तथा इसके माध्यम से हम कर्म करते हैं। यह सत् और असत् का मिश्रण है।[18]

अपने जगत् सम्बन्धी विचार स्पष्ट करते हुए विवेकानन्द कहते हैं - जगत् 'सृष्टिकर्ता' की सीमित रूप में अभिव्यक्ति है। अब यहाँ पर प्रश्न यह पैदा होता है कि असीम एवं निरपेक्ष तत्व ससीम कैसे बन गया? इस प्रश्न का उत्तर निम्न रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है -

----
(क) **ब्रह्म**

(ग)
देश
काल
निमित्त

(ख) **जगत्**

इस चित्र में (क) है ब्रह्म और (ख) है जगत्। निरपेक्ष सत् जगत में व्यक्त होता है। यहाँ पर जगत् शब्द से जड़ जगत ही नहीं किन्तु सूक्ष्म तथा आध्यात्मिक जगत् स्वर्ग, नरक और वास्तव में जो कुछ भी है, सबको इसके अन्तर्गत लेना होगा। एक परिवर्तन को मन कहा जाता है और दूसरे को शरीर । इन सबको लेकर अपना यह जगत् निर्मित है। यह ब्रह्म (क) देशकाल निमित्त (ग) में से होकर आने से जगत (ख) बन गया।[19] हम देशकाल निमित्त रूपी काँच में से ब्रह्म को देख रहे हैं और इस प्रकार नीचे की ओर से देखने पर ब्रह्म हमें जगत् के रूप में दीखता है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि देशकाल और कारणता के प्रत्यय

ब्रह्म पर लागू नहीं होते हैं। वहाँ देश के लिए कोई स्थान नहीं है क्योंकि निरपेक्ष सत् में कोई देश या स्थान परिवर्तन नहीं होता है। काल के सम्बन्ध में भी यही बात है। शुद्ध काल के सम्बन्ध में हम कोई धारणा नहीं कर सकते। काल की धारणा करने के लिए एक पूर्ववर्ती और एक परवर्ती घटना लेनी पड़ती है और अनुक्रम की धारणा के द्वारा उन दोनो को मिलाना पड़ता है।

इस प्रकार काल दो घटनाओं पर निर्भर रहता है निमित्त या कार्य - कारण - भाव की धारणा इस देश और काल पर निर्भर है। अर्थात् देश-काल और निमित्त की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अत देश-काल तथा कारणता की सार्थकता ब्रह्म के लिए नहीं है बल्कि सृष्टि प्रक्रिया के लिए है ।

यहाँ पर एक प्रश्न यह किया जा सकता है कि यदि एक निरपेक्ष सत् ही परम सत् है तो देश, काल, कारणता के प्रत्यय कैसे उत्पन्न हो जाते हैं ? यदि वे निरपेक्ष सत् में नहीं है तथा यदि सृष्टि इन्हीं के माध्यम से होती है, तो सृष्टि निरपेक्ष सत् से स्वतन्त्र हो जाती है किन्तु उस अवस्था में ब्रह्म का एकवादी रूप खण्डित हो जाता है जो विवेकानन्द जी को अभीष्ट नहीं है। प्रत्युत्तर में स्वामीजी का कहना है - देश, काल और कारणता तात्विक सत् नहीं है। कुछ आकार या रूपमात्र है जो किसी सन्दर्भ में तात्विक सत् की अभिव्यक्ति के माध्यम हो सकते हैं। ये ऐसे रूप हैं - आकारिक माध्यम हैं, जिनके माध्यम से सृष्टि व्यक्त होती है रूपया आकारिक माध्यम तात्विक सत्ता नहीं है किन्तु उसे असत् नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे स्वतन्त्र सत्ता की अभिव्यक्ति के माध्यम हैं । इस तथ्य को सागर तथा उसकी लहरों के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है - तरंगे सागर में ही हैं किन्तु सागर से भिन्न भी हैं। जब लहरें शान्त रहती हैं तो मात्र सागर रहता है। किन्तु

इससे यह सिद्ध नहीं होता कि लहरें असत् या भ्रामक हैं। सागर की अभिव्यक्ति एक ढंग - एक रूप लहरों का भी है। इसी कारण जब तक लहरें उठती रहती हैं वे सागर का वास्तविक चित्र ही प्रस्तुत करती हैं। ज्ञानयोग में विवेकानन्द कहते हैं 'समुद्र की तरगों को लो। तरंग अवश्य समुद्र के साथ अभिन्न है फिर भी हम उसको तरंग कहकर समुद्र से पृथक् रूप में जानते हैं। इस विभिन्नता का कारण क्या है ? नाम और रूप । नाम अर्थात् उस वस्तु के सम्बन्ध में हमारे मन में जो एक धारणा रहती है वह, और रूप अर्थात् आकार। पर क्या हम तरंग को समुद्र से बिल्कुल पृथक् रूप में सोच सकते हैं ? नहीं। कभी नहीं। वह तो सदैव इस समुद्र की धारणा पर ही निर्भर रहती है। यदि यह तरंग चली जाय तो रूप ही अन्तर्हित हो जायेगा फिर भी ऐसी बात नहीं कि यह रूप बिल्कुल भ्रमात्मक था। जब तक यह तरंग थी तब तक यह रूप भी था और तुमको बाध्य होकर यह रूप देखना पड़ता था ।

अतएव यह सम्पूर्ण जगत् मानों उस ब्रह्म का ही एक विशेष रूप है। ब्रह्म ही वह समुद्र है और तुम और मैं सूर्य तारे सभी उस समुद्र मे विभिन्न तरंग मात्र हैं।[20]

सागर और उसकी तरंगों की उपमा के माध्यम से विवेकानन्द जगत् की वास्तविकता और जगत् मिथ्यात्व का निरूपण करते हैं। ब्रह्म ज्ञान की अवस्था में नानात्व (जगत-बोध) उसी प्रकार से समाप्त हो जाता है जिस प्रकार सागर की शान्तावस्था में लहरें लुप्त रहती हैं। जब तक लहरें उठान पर हैं, तब तक लहरें हैं। वे सागर की वास्तविक व्यक्त रूप हैं। उसी प्रकार जब तक सृष्टि है जगत् की अनुभूति है, तब तक वह यथार्थ है, जब तक तुम अपने आपको संसार से भिन्न समझते हो तब तक तुम्हारा कोई व्यक्तित्व नहीं है। तुम

तभी अपना व्यक्तित्व लाभ करोगे जब ब्रह्मांड में मिलकर एक हो जाओगे। सम्पूर्ण में मिलकर ही तुम अमरता प्राप्त करोगे। जब तुम ब्रह्मांड हो जाओगे तभी तुम निर्भय और अविनाशी भी होगे। जिसे तुम ईश्वर कहते हो, वह यह ब्रह्मांड ही है, वह सम्पूर्ण है। वही तुम भी हो। इस एक सम्पूर्ण ब्रह्मांड को साधारण स्थिति के हमारे से मस्तिष्क वाले सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि नाना रूपों में देखते हैं। जिन्होंने हमसे और अच्छे कर्म किये हैं, मरने पर वे इसे स्वर्ग, इन्द्र आदि के रूप में देखते हैं, जो इनसे भी ऊंचे हैं वे इसे ब्रह्म लोक करके देखते हैं। पर जो सम्पूर्णता प्राप्त कर चुके हैं, वे न मृत्यु-लोक देखते हैं, न स्वर्ग लोक, न ब्रह्म लोक। तब तो इस ब्रह्मांड का ही लोप हो जाता है और केवल ब्रह्म ही ब्रह्म रह जाता है।[21]

वास्तव मे सृष्टि एक सतत् प्रवाहमान प्रक्रिया है जिसका न कोई आदि है और न अंत। सृष्टि ईश्वर की अभिव्यक्ति है। ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि अमुक दिन या अमुक काल में सृष्टिकर्ता ने सृष्टि की है तथा उसके बाद उस समय से वह पूर्णतया अकर्मण्य ही सोया हुआ है। ऐसा विचार ईश्वर के स्वरूप को नहीं समझने जैसा है। ईश्वर की सर्जनात्मक शक्ति सदा कार्यरत रहती है, वह सदा निर्माण करता रहता है।[22]

माया सिद्धान्त

विवेकानन्द के अनुसार वेदान्त मे जो माया शब्द का प्रयोग किया गया है वह न तो विज्ञानवाद है और न यथार्थवाद और न किसी प्रकार का सिद्धान्त है। वह तो तथ्यों का सहज वर्णन मात्र है। - 'हम क्या है और अपने चारों ओर हम क्या देखते है'।[23]

आत्म व्याघातक ही इसका - स्वभाव है ससार की प्रत्येक वस्तु परस्पर विरूद्ध स्वभाव की है। जहाँ सुख है वहीं दु ख है। जहाँ जीवन है वहीं मृत्यु है। शुभ और अशुभ ये दो एकदम भिन्न सत्तायें नही है। इस ससार मे ऐसी कोई वस्तु नही है जिसे एकदम शुभ या एकदम अशुभ कहा जा सके। सम्पूर्ण जगत् ही शुभ और अशुभ का यौगिक है। माया ससार की वस्तुस्थिति का वर्णन मात्र है - विरूद्ध भाव ही हमारे अस्तित्व की भित्ति है। सर्वत्र इन्हीं विरूद्ध भावों से होकर हम जी रहे है। शुभ और अशुभ का क्रम बदल नहीं सकता। हम भले ही ऐसे स्थान की कल्पना करे जहाँ केवल शुभ रहेगा अशुभ नहीं, जहाँ हम केवल हँसेगें, रोयेंगे नहीं। केवल सुख का ससार और केवल दु ख का ससार नहीं हो सकता। मृत्युहीन जीवन और दु खहीन सुख परस्पर विरोधी है। इनमे कोई सत्य नही है क्योंकि दोनों एक ही वस्तु की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ है।[24] माया नाम से जगत मे स्थित इन्हीं विरोधों अथवा व्याघातों का बोध होता है। हम अपने जीवन को ही देखें, यह भी स्पष्टत· सत्-असत्, है, नहीं है, होने नहीं होने के मध्य झूलता रहता है। कभी-कभी हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हम सब कुछ जान ले सकते हैं और उसी क्षण कुछ ऐसा अवरोध हो जाता है कि - हमारी सारी ज्ञान-प्रक्रिया कुठित हो जाती है। एक प्रकार से हमारे सारे कार्य- सभी क्रियायें एक चक्र में घूमती रहती हैं और उस चक्र से हम निकल भी नहीं पाते। यही तो जीवन की वास्तविकता है और यही माया है। हम किसी वस्तु को जड़तत्व कहते हैं, किसी को

मन कहते हैं तो किसी को आत्मा कहते है। हम अपनी ओर से जो नाम देलें, वह वस्तु जो है वह है, हम निश्चित रूप में नहीं कह सकते कि वे हैं या नही है। जगत मे व्यक्त यही विरोध तो माया है।[25]

जगत् का तथ्यात्मक विवरण यही है कि जगत मे विरोध भरे पडे है। माया जगत में स्थित इन विरोधों के तथ्य का नाम है।

पुन विवेकानन्द जगत् की इसी तथ्यात्मकता का वर्णन करते हुए कहते है 'नगर पर नगर बनते है और नष्ट हो जाते हैं, साम्राज्य पर साम्राज्य उठते है और पतन के गर्त मे समा जाते हैं। ग्रह आदि चूर-चूर होकर विभिन्न ग्रहों की वायु के झोकों स इधर-उधर बिखर जा रहे है। इसी प्रकार अनादि काल से चलता आ रहा है। इन सबका आखिर लक्ष्य क्या है ? वह जीवन का लक्ष्य है, सौन्दर्य का लक्ष्य है, ऐश्वर्य का लक्ष्य है, शक्ति का लक्ष्य है और तो और धर्म का भी लक्ष्य है। साधु और पापी दोनों मरते है, राजा और भिक्षुक दोनों मरते हैं। सभी मृत्यु को प्राप्त होते हैं। फिर भी जीवन के प्रति यह विषम आसक्ति विद्यमान है। हम क्यों इस जीवन से आसक्ति करते है? हम क्यों इसका परित्याग नही करते? हम यह नहीं जानते और यही माया है।

इन्द्रियाँ मनुष्य की आत्मा को बाहर खींच लाती हैं। मनुष्य ऐसे स्थानों मे सुख और आनन्द की खोज कर रहा है जहाँ उन्हें वह कभी नहीं पा सकता। युगों से हम यह शिक्षा पाते आ रहे है कि यह निरर्थक और व्यर्थ है, यहाँ हमें सुख नहीं मिल सकता। परन्तु हम सीख नहीं सकते। अपने अनुभव के अतिरिक्त और किसी उपाय से हम सीख नहीं

सकते। हम प्रयत्न करते हैं और हमे एक धक्का लगता है, फिर भी हम क्या सीखते हैं? नहीं, फिर भी नहीं सीखते। पतिंगे जिस प्रकार दीपक की लौ पर टूट पड़ते है उसी प्रकार हम इन्द्रियों में सुख पाने की आशा से अपने को बारम्बार झोंकते रहते है। पुन. पुन· लौट कर हम फिर से नये उत्साह के साथ लग जाते है बस इसी प्रकार चलता रहता है और अन्त मे लूले-लँगड़े होकर धोखा खाकर हम मर जाते है और यही माया है।[26]

शांकर मतानुसार माया मिथ्या और असत् है परन्तु विवेकानन्द के अनुसार माया बिल्कुल असत् नहीं है। बल्कि इसमें भी सत् का अश पाया जाता है। परन्तु 'माया' की वास्तविकता ब्रह्म की वास्तविकता जैसी नहीं है। माया तथा जगत् की वास्तविकता एक विशेष परिप्रेक्ष्य में एक विशेष दृष्टि से ही होती है। विवेकानन्द अपनी इस बात को सागर और जल की लहरो की उपमा के माध्यम से स्पष्ट करते है। लहरे वस्तुत सागर का जल ही है। फिर भी उनका अपना नाम और रूप है। जब लहरे शान्त हों तो मात्र सागर ही रहता है किन्तु जब तक - लहरों का जीवन है, जब तक वे उठती–गिरती रहती हैं उनकी अपनी वास्तविकता है। वे सागर से पृथक् भी नहीं है किन्तु मात्र सागर भी नहीं हैं। उनके शान्त हो जाने के बाद मात्र सागर ही रहता है किन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि जिस समय सागर में लहरें उठी थीं, उस समय लहरों की अपनी कोई - वास्तविकता नहीं थी। उसी प्रकार माया भी सागर मे लहरों के समान है। यदि माया से परे भी जाया जा सके तो वहां भी यही बात स्पष्ट होती है कि अभी तक 'माया' रूपी 'लहर' ब्रह्म रूपी सागर मे ही थी अब वह लहर शान्त हो गयी है। अत· माया से ऊपर उठने की सम्भावना रहते हुए भी माया पूर्णतया अवास्तविक सिद्ध नहीं होती।

अपनी इस बात को स्वामीजी 'भक्ति और वेदान्त' में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि माया, देश-काल और निमित्त के तीन विचारों का समुच्चय है, देश काल और निमित्त को भी आगे घटाकर केवल नाम रूप रह जाता है मान लीजिए कि सागर में एक लहर आयी है। लहर सागर से केवल नाम और रूप में ही भिन्न है और यह नाम रूप लहर से भिन्न नहीं किये जा सकते। अब लहर चाहे पानी मे मिल जावे पर पानी उतना ही रहेगा यद्यपि अब लहर का नाम-रूप नहीं रहा। इसी प्रकार यह माया ही हममे, तुममे, पशुओं और पक्षियों में, मनुष्यों और देवताओं में अन्तर डालती है। इस माया के ही कारण आत्मा अनत नाम रूप वाले पदार्थों में व्यक्त दिखाई देती है। यही नाम और रूप का विचार तुम छोड़ दो तो तुम सदा जो थे वही रह जाओगे। यही माया है।[27]

माया की इसी विशिष्टिता के कारण उसे अनिर्वचनीय कहा जाता है। न उसे सत् कहा जा सकता है न उसे असत् कहा जा सकता है और न उसे सत् असत् दोनो कहा जा सकता है। उसी प्रकार उसे न अस्तित्व वान कहा जा सकता है न अस्तित्वरहित कहा जा सकता है।

आत्मा

आत्मा शुद्ध स्वभाव एव पूर्ण है। पूर्णानन्द और ऐश्वर्य ही उसका स्वभाव है। सत्, चित् और आनन्द आत्मा का स्वरूप है। जिस प्रकार उपनिषदो मे आत्मा को मन और वाणी के परे का विषय बतलाया गया है उसी प्रकार विवेकानन्द के अनुसार यह आत्मा है जो सभी विचारों के परे है, जिसका न जन्म होता है और न जिसकी मृत्यु होती है, जिसे तलवार काट नहीं सकती, आग जला नहीं सकती, जिसे वायु सुखा नहीं सकती, जल पिघला नहीं सकता, जो अनादि और अनन्त है, जिसे हिलाया नहीं जा सकता, जिसे स्पर्श नहीं कर

सकते, जो सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान सत्ता है, वह न तो शरीर है न तो मन बल्कि सबके परे है।[28]

मानव शरीर मे आत्मा का ही एक मात्र अस्तित्व है। और यह आत्मा चेतन है। चूंकि यह चेतन है इसलिए यह यौगिक नहीं हो सकती। और चूंकि यह यौगिक नहीं है, इसलिए इस पर कार्य-कारण के नियम लागू नहीं हो सकते। अत यह अमर है। जो अमर है उसका कोई आदि नही हो सकता क्योंकि जिस वस्तु का आदि होता है उसका अत भी सम्भव है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि उसका कोई रूपाकार नहीं है, कोई रूप भौतिक द्रव्यों के बिना सम्भव नहीं।[29]

आत्मा और ब्रह्म एक ही सत्ता के दो नाम हैं, उनमे किसी भी प्रकार का कोई अन्तर या भेद नहीं पाया जाता है। उनमें जो भिन्नता दिखाई देती है यह प्रतीति मात्र है वास्तविक नहीं, सर्वव्यापी वस्तु एक ही है। और वह एक ही नाना रूपों में प्रतीत होती है। इसको चाहे आत्मा कहा जाय या अन्य कोई द्रव्य। जगत् में एकमात्र इसी का अस्तित्व है।

आत्मा सम्बन्धी विवेचन को सुस्पष्ट करते हुए विवेकानन्द कहते है "अद्वैतवेदान्तियों की भाषा में यह आत्मा ही ब्रह्म है जो नाम रूप की उपाधि के कारण अनेक प्रतीत हो रहा है। समुद्र की तरंगों की ओर देखों एक भी तरंग समुद्र से पृथक् नहीं है, फिर भी तरग पृथक् क्यों प्रतीत होती है ? नाम और रूप के कारण - तरंग की आकृति और उसे हमने जो 'तरंग' नाम दिया है। बस इन दोनों ने उसे समुद्र से पृथक् कर दिया है। नाम-रूप के नष्ट हो जाने पर वह समुद्र की समुद्र ही रह जाती है। तरंग और समुद्र के बीच भला कौन भेद

कर सकता है। अतएव यह समुदय जगत् एक स्वरूप है जो भी पार्थक्य दिखता है। वह सब नाम रूप के ही कारण है। जिस प्रकार सूर्य लाखों जलकणों पर प्रतिबिम्बित होकर प्रत्येक जलकण में अपनी एक सम्पूर्ण प्रति कृति सृष्ट कर देता है, उसी प्रकार वही एक आत्मा, वही एक सत्ता विभिन्न वस्तुओं में प्रतिबिम्बित होकर नाना रूपों में दिखाई पड़ती है, किन्तु वास्तव में वह एक ही है चाहे कह लो 'सभी मैं हूँ' या कह लो-सभी तुम हो। मैं ही यह परिवर्तनशील जगत् हूँ और मैं ही अपरिणामी, निर्गुण, नित्यपूर्ण नित्यानंदमय हूँ। अतएव नित्यशुद्ध, नित्यपूर्ण, अपरिणामी, अपरिवर्तनीय एक आत्मा है उसका कभी परिणाम नहीं होता और ये सब विभिन्न परिणाम उस एक आत्मा में प्रतीत होते हैं।[30] इस प्रकार विवेकानन्द के अनुसार आत्मा और ब्रह्म मे तादात्म्य है, अभेद है। परन्तु भौतिकता (माया) के पाश में आबद्ध संसारी जीव को इस तादात्म्य का आभास नही हो पाता। जैसे - जैसे माया का बंधन ढीला होता जाता है ब्रह्मात्मैक्य की अनुभूति प्रबलतर होती जाती है। परन्तु ऐसी अनुभूति के लिए हमें अपनी चेतन शक्ति को विस्तृत करना आवश्यक है वह भी उस अवस्था तक कि उसमें सम्पूर्ण ब्रह्मांड समा सके। हमारी मानसिक शक्तियों, मन-शरीर-इन्द्रियों से बंधी हमारी चेतना की शक्ति, हमारी शारीरिक अस्तित्व की विधायें अपने में इतने अयथेष्ट और सीमित हैं कि इनके द्वारा आत्मा और परमात्मा की एकरूपता को समझ लेना प्राय असंभव जैसा ही है। यही कारण है कि हमें अपनी ईश्वरीय शक्तियो का कभी-कभी आभास मात्र ही मिल पाता है।

यहाँ पर एक प्रश्न यह पैदा होता है कि यदि ब्रह्म और आत्मा एक ही सत्ता के दो नाम हैं तो आत्म की अनेकता की जो हमें अनुभूति होती है उसकी व्याख्या कैसे की जा सकती है ? आत्मा वस्तुत. एक है। अज्ञानता के कारण हमें अनेक आत्माओं

की प्रतीति होती है। वास्तविक आत्मा एक ही है उसके जन्म-मरण का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। जिस प्रकार एक ही चाँद का प्रतिबिम्ब जल की विभिन्न सतहों पर पड़ने के कारण अनेक चन्द्रमा की प्रतीति कराता है उसी प्रकार एक ही आत्मा अविद्या रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित होने के कारण अनेक प्रतीत होती है। अनन्त कभी दो नहीं हो सकता। यदि आत्मा अनंत है तो केवल एक ही आत्मा हो सकती है और यह जो अनेक आत्माओं की धारणा है - तुम्हारी एक आत्मा, मेरी दूसरी आत्मा, यह सत्य नहीं है। अतएव मनुष्य का प्रकृत स्वरूप एक ही है। वह अनंत और सर्वव्यापी है और यह प्रातिभासिक जीव मनुष्य के इस वास्तविक स्वरूप का एक सीमाबद्ध भाव मात्र है। मनुष्य का प्रकृत स्वरूप - आत्मा, कार्य-कारण से अतीत होने के कारण, देश-काल से अतीत होने के कारण अवश्य मुक्त स्वभाव है। वह कभी बद्ध नहीं थी, न ही बद्ध हो सकती थी। यह प्रतिभासिक जीव, यह प्रतिबिम्ब देश-काल, निमित्त के द्वारा सीमाबद्ध होने के कारण बद्ध है अथवा हमारे कुछ दार्शनिकों की भाषा में 'प्रतीत होता है मानो वह बद्ध हो गयी है, पर वास्तव में वह बद्ध नहीं है।' हमारी आत्मा के भीतर जो यथार्थ सत्य है वह यही कि आत्मा सर्वव्यापी है, अनन्त है, चैतन्य स्वभाव है, हम स्वभाव से ही वैसे हैं - हमें प्रयत्न करके वैसा नहीं बनना पडता है। प्रत्येक आत्मा अनंत है। अतः जन्म-मृत्यु का प्रश्न ही नहीं पैदा होता है।[31]

जब तक जीव सांसारिक माया-पाश में जकड़ा हुआ है तब तक जगत्, शरीर, आत्मा की अनेकता आदि की वास्तविकता को स्वीकारना ही पड़ता है। जब तक आत्म ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक जगत एकदम सत्य प्रतीत होता है। आत्म-ज्ञान की प्राप्ति होने पर ही जगत का बाध होता है। स्वामी जी का विचार है कि जब तक तुम अपने आपको संसार से भिन्न समझते हो तब तक तुम्हारा कोई व्यक्तित्व नहीं।

तुम तभी अपना व्यक्तित्व लाभ करोगे जब ब्रह्मांड में मिलकर एक हो जाओगे। सम्पूर्ण में मिलकर ही तुम अमरता प्राप्त करोगे, जब तुम ब्रह्मांड हो जाओगे तभी तुम निर्भय और अविनाशी भी होगे, जिसे तुम ईश्वर कहते हो वह ब्रह्मांड ही है, वह सम्पूर्ण है वही तुम भी हो। इस एक सम्पूर्ण ब्रह्मांड को साधारण स्थिति के हमारे से मस्तिष्क वाले सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि नाना रूपों में देखते हैं, जो इनसे भी ऊँचे हैं वे इसे ब्रह्म लोक करके देखते है, पर जो सम्पूर्णता प्राप्त कर चुके हैं, वे न मृत्यु-लोक देखते हैं न स्वर्ग लोक, न ब्रह्म लोक। तब तो इस ब्रह्मांड का ही लोप हो जाता है और केवल ब्रह्म ही ब्रह्म रह जाता है।[32] व्यक्ति जब अपना यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो उसके लिए मानों संसार का लोप हो जाता है। संसार का फिर से प्रत्यक्ष तो होता है, किन्तु अब वह दुःखमय नहीं रह जाता। जो संसार पहले दुःखमय कारागार था अब वह सच्चिदानन्द हो जाता है।[33]

अनादि अविद्या के वशीभूत होकर जीव अपने वास्तविक स्वरूप को विस्मृत कर जाता है परिणाम स्वरूप वह ब्रह्म से अपना पार्थक्य समझने लगता है। वह आत्म स्वरूप को विस्मृत कर शरीर और शारीरिक धर्मों को उसी प्रकार से अपना समझने लगता है जिस प्रकार पिता अपने प्रिय - पुत्र के सुखी या दु:खी होने पर स्वयं सुख या दु.ख का अनुभव करने लगता है। मोक्ष प्राप्त कर लेने पर आत्मा में न तो किसी तरह का परिवर्तन होता है और न आत्मा को किसी तरह की स्वर्ग आदि की प्राप्ति ही होती है। वस्तुतः मोक्ष आत्म ज्ञान है। आत्मा पर छाये हुए अविद्या रूपी आवरण के हट जाने को ही मोक्ष कहा जाता है। जैसे सदियों की धूल से ढका हुआ लोहे का टुकड़ा चुम्बक के समीप वर्षों पड़े रहने पर भी उसकी ओर आकर्षित नहीं होता है, पर धूल को हटाकर लोहे को साफ करते ही वह चुम्बक की ओर खिंच जाता है उसी प्रकार जन्म-जन्मान्तर की अपवित्रता दुष्टता

और पापों की धूल से ढका हुआ यह जीव अनेक जन्मों के पश्चात इन विधियों और अनुष्ठानों के द्वारा, दूसरों की भलाई के द्वारा तथा अन्य प्राणियों पर प्रेम के द्वारा जब पर्याप्त शुद्धता को प्राप्त हो जाता है तब उसकी स्वाभाविक आध्यात्मिक आकर्षण-शक्ति प्रकट होती है और वह जाग उठता है तथा परमात्मा की ओर जाने की प्रबल चेष्टा करता है।[34]

आत्मा की अमरता की स्थिति में अपने स्वरूप का वास्तविक ज्ञान तो आत्मा को हो ही जायेगा साथ ही साथ उसके कायिक अस्तित्व से सभी विकार शान्त हो जायेंगे। यह अवस्था सत्-चित् और आनन्द की अवस्था है। यह अनुभूति शुद्ध अनंत की अनुभूति है।

वर्तमान शरीर के रहते हुए जब आत्मा को अमरत्व की अनुभूति होती है तब उस अवस्था को 'जीवन्मुक्त' की अवस्था कहा जाता है। शरीर-पात हो जाने के बाद जिस मोक्ष की प्राप्ति होती है उसे 'विदेह मुक्ति' कहा जाता है। जीव-मुक्त व्यक्ति शरीर के रहते हुए भी शारीरिक धर्मों से (शरीर जन्य विकारों से) उसी तरह से प्रभावित नहीं होता है जैसे कमल का पत्ता जल में रहते हुए भी जल-बिन्दुओं से निर्लिप्त रहता है। जब वह कुछ अपने लिए प्राप्त करने हेतु या अपनी किसी वासना (कामना) की पूर्ति के लिए कर्म नहीं करता। इसी रूप में वह तब तक शरीर में स्थित रहता है जब तक शरीर को जीवित रखने वाली कर्म-प्रवृत्तियाँ समाप्त नहीं हो जातीं। जब तक पूर्व कर्मों का संस्कार है, तब तक शरीर धारण करना ही पड़ता है।

जीवन्मुक्ति का विस्तृत विश्लेषण करते हुए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं 'मान लो, एक लकड़ी से जुड़े हुए दो पहिये साथ-साथ चल रहे है। अब यदि मैं एक पहिये को

पकड़कर बीच की लकड़ी काट दूँ, तो जिस पहिये को मैंने पकड़ रखा है वह तो रूक जायेगा पर दूसरा पहिया जिसमें पहले का वेग अभी नष्ट नहीं हुआ है कुछ दूर चलेगा और गिर पड़ेगा। पूर्ण शुद्धस्वरूप आत्मा मानो एक पहिया है और शरीर-मनरूप भ्रान्ति दूसरा पहिया। ये दोनों कर्म रूपी पहिये से जुड़े हुए है। ज्ञान मानो कुल्हाडी है जो जोड़ने वाली इस लकड़ी को काट देता है। जब आत्मा रूपी पहिया रूक जाता है तब आत्मा यह सोचना छोड़ देती है कि वह आ रही है। वह जा रही है अथवा उसका जन्म होता है, मृत्यु होती है। तब वह इस प्रकार के सभी अज्ञानात्मक भावों का त्याग कर देती है और तब उसका यह भाव कि वह प्रकृति के साथ सयुक्त है, उसके अभाव और वासनायें हैं, बिल्कुल चला जाता है। तब वह देखती है कि वह पूर्ण है, वासना रहित है। पर शरीर मन-रूप पहिए मे पूर्व कर्मों का वेग बचा रहता है। अत जब तक पूर्व कर्मों का यह वेग पूरी तरह समाप्त नहीं हो जाता तब तक शरीर और मन बने रहते हैं। यह वेग समाप्त हो जाने पर इनका भी नाश हो जाता है और तब आत्मा मुक्त हो जाती है। तब फिर स्वर्ग लोक जाना या स्वर्ग से पृथ्वी पर लौटना, यहाँ तक कि ब्रह्म लोक जाना भी समाप्त हो जाता है। क्योंकि आत्मा भला कहाँ से आयेगी और कहाँ जायेगी ? जिन व्यक्तियों ने इस जीवन में ही इस अवस्था को प्राप्त कर लिया है, जिन्हें कम से कम एक मिनट के लिए भी संसार का यह साधारण दृश्य बदलकर सत्य का ज्ञान मिल गया है, उन्हें जीवन्मुक्त कहा जाता है।[35]

यहाँ पर एक प्रश्न यह पैदा होता है कि क्या विवेकानन्द एक मुक्ति को स्वीकार करते हैं या सर्वमुक्ति को ? क्या जब तक सभी मनुष्यों को मुक्ति नहीं मिल जाती है तब तक वैयक्तिक मुक्ति सम्भव नहीं ? एक मुक्ति की सम्भावना को स्वीकार करते हुए विवेकानन्द सर्वमुक्ति को आदर्श के रूप मे स्वीकार करते है। मुक्ति के दोनों स्वरूपों में किसी

तरह से व्याघात की स्थिति नहीं है। ऐसा नही है कि जब तक सर्वमुक्ति नहीं हो जाती तब तक 'आत्ममुक्ति' सम्भव नहीं है। विवेकानन्द का सर्वमुक्ति का आदर्श बौद्ध दर्शन के 'बोधिसत्व' के आदर्श से मिलता-जुलता है। निर्वाण प्राप्त कर लेने के बाद सत्व अकर्मण्य नहीं हो जाता है बल्कि मानव-मात्र के कल्याण के लिए वह प्रयास करता है।

आत्मानुभूति (मोक्ष) का मार्ग

प्रायः समस्त धर्मों का अन्तिम उद्देश्य परमसत्ता या परम तत्व (चाहे उसे कोई भी नाम दिया जाय) की प्राप्ति करना है। यद्यपि लक्ष्य तो एक ही है परन्तु अपने-अपने गुण और धर्म के अनुसार उसकी प्राप्ति के साधन अलग-अलग हो सकते है। व्यक्ति के अलग-अलग स्वभाव और गुणों को दृष्टिगत रखते हुए विवेकानन्द मोक्ष-प्राप्ति के चार साधनों का वर्णन करते हैं - ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग। ये सभी मार्ग परस्पर नितान्त विरूद्ध धर्मक नहीं है। यह कहना उचित नहीं है कि ज्ञानमार्ग का शोधक कर्म या भक्ति मार्ग से बिल्कुल कटा रहता है। चारों मार्गो को एक दूसरे से पृथक् मानना ठीक नहीं है। विवेकानन्द व्यक्ति को स्वतन्त्र रूप से अपनी मानसिकता एवं योग्यतानुरूप किसी मार्ग का अनुसरण कर ईश्वर के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की बात कहते है।

ज्ञानयोग

ज्ञानयोग के अनुसार बन्धन का मूल कारण अज्ञान है। यदि हम व्यावहारिक जीवन पर दृष्टिपात करें तो हम देखते हैं कि हमारे ढेर-सारे दु खो का मूल कारण अज्ञान है। अज्ञान का अर्थ सत् के स्वरूप का अज्ञान है, सत्-असत् के भेद को समझ पाने की असमर्थता - अक्षमता है। सत्-असत् के भेद का ज्ञान ही विभिन्न नामों से निरूपित होता रहा है। यही आत्म ज्ञान है। यही पूर्ण एकत्व का ज्ञान है। यही ब्रह्म ज्ञान है।

जिस तरह अद्वैत वेदान्त में ज्ञान (मोक्ष) प्राप्ति के लिए मुमुक्ष हेतु साधन चतुष्टय(नित्यानित्य वस्तुविवेक, इहामुत्रार्थ भोग विराग शमदमादिसाधनसंपत्, मुमुक्षत्व) की सिद्धि अनिवार्य है उसी तरह विवेकानन्द भी ज्ञानयोगी में कुछ योग्यता अनिवार्यत स्वीकार करते है। उनके अनुसार ज्ञानयोग के दो आयाम है -

1. भौतिक तथा सांसारिक वस्तुओं से अपने को विरक्त करना
2 आत्मा का ध्यान करना

ज्ञानयोग के इस प्रथम सोपान का अर्थ है कि स्वार्थ मूलक तथा शरीर-आधारित सभी इच्छाओं का त्याग एव मन, शरीर तथा इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण। इसी कारण इसे वैराग्य भी कहा जाता है। मन जब इस प्रकार के वैराग्य की स्थिति मे आ जाय तब ध्यान-साधना की जा सकती है। इसमें सभी शक्तियो को एकत्रित कर ज्ञान की दिशा मे कार्यरत करना पड़ता है इस आत्मा के सम्बन्ध में पहले श्रवण करना चाहिए। फिर मनन और उसके उपरान्त उसका निदिध्यासन। जब हाथ काम करते रहें, मन को कहना चाहिए 'सोडहम् सोडहम्। सोचो तो यही सोचो। स्वप्न देखो तो इसी का, यहाँ तक कि यह तुम्हारी हड्डियों की हड्डी और मांस का मांस बन जाय। यहाँ तक कि क्षुद्रता के, दुर्बलता के, दु खों के, और बुराइयों

के सब भयानक स्वप्न बिल्कुल गायब हो जाँय। और तब एक क्षण के लिए भी सत्य तुमसे छिपा न रह सकेगा। 36

ज्ञानयोग की यह परिणति है, इस अवस्था में विकर्षण की सारी प्रवृत्तियां नष्ट हो जाती हैं, सभी भेद समाप्त हो जाते हैं, यहाँ तक कि असीम समाधि की अवस्था मे 'आत्म' तथा 'ब्रह्म' का भी भेद मिट जायेगा। मुमुक्ष को इस ज्ञान का साक्षात् बोध हो जाता है कि - मेरी मृत्यु नहीं है, शका भी नहीं, मेरी कोई जाति नही है, न कोई मत ही। मेरे पिता, माता या भ्राता, मित्र या शत्रु भी नहीं है क्योंकि मैं सच्चिदानंद शिव स्वरूप हूँ। मै पाप या पुण्य से सुख या दु.ख से बद्ध नही हूँ। तीर्थ, ग्रन्थ और नियमादि - मुझे बन्धन मे नहीं डाल सकते। मै क्षुधा-पिपासा से रहित हूँ। यह देह मेरी नहीं है। न मै देह के अन्तर्गत विकार और अन्ध विश्वासों के अधीन ही हूँ। मैं तो सच्चिदानंद-स्वरूप हूँ। मैं शिव हूँ, मैं शिव हूँ।37

कर्मयोग

ईश्वर को कण-कण मे व्याप्त मानते हुए निष्काम भाव से कर्म करना ही कर्मयोग है। कर्मयोगी का प्रथम लक्ष्य कर्म के माध्यम से स्वतन्त्रता प्राप्ति है। कर्मयोगी का दूसरा लक्ष्य है 'समानता'। यद्यपि पूर्ण रूपेण प्राकृतिक समानता सम्भव नहीं है तथापि कर्मयोगी अपने कर्मों के माध्यम से समाज मे अधिकतम समानता लाने का प्रयास कर सकता है। कर्मयोगी निष्काम कर्म करता है। हम देखते हैं कि प्रायः आसक्ति ही हमारे बन्धन का कारण बनती है। हमारे प्रत्येक कार्य के पीछे उससे कुछ प्राप्यता की प्रत्याशा ही हमारे सुख, दु ख का हेतु बनती है। विवेकानन्द का विचार है कि कर्म करने का अधिकार मानव. को है परन्तु उसके फल की कामना नहीं करना चाहिए।[38]

आसक्ति ही आज की अवस्था में हमारे सब सुखों की जननी है। हम अपने मित्रों और सम्बन्धियों मे आसक्त है। हम वाह्य वस्तुओं में आसक्त हैं। यह सब क्यों? इसलिए कि - उससे हमें सुख मिले। पर सोचो इस आसक्ति के अतिरिक्त अन्य और किसी कारण से क्या हम पर दु ख आता है ? अतएव आनन्द प्राप्त करने के लिए हमे अनासक्त होना चाहिए। यदि हममें इच्छा मात्र से अनासक्त होने की ताकत होती तो हमें कभी दु ख न होता। केवल वही मनुष्य प्रकृति से पूरा-पूरा लाभ उठा सकता है जो किसी वस्तु में अपने मन को स्वेच्छापूर्वक उससे अलग कर लेने की भी सामर्थ्य रखता है।[39]

इस प्रकार कर्ममार्गी का कर्म 'स्वार्थ' से संचालित नहीं होता। वह किसी इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए कर्म नहीं करता बल्कि उसके कर्मों की मूल प्रेरणा अंतिम लक्ष्य मोक्ष है। लोक-संग्रह हेतु निष्काम कर्म करते-करते व्यक्ति 'स्व' और 'पर' के भेद से ऊपर उठ जाता है। स्व और पर के भेद से ऊपर उठ जाना ही तो अमरता की प्राप्ति है।

राजयोग

विवेकानन्द के अनुसार मोक्ष प्राप्त करने का एक अन्य साधन राजयोग भी है। इस योग में शरीर और मन को नियन्त्रित करने के लिए कुछ स्पष्ट विधियों अनुशंसित है, विभिन्न आसन तथा प्रत्याहार के ढंग अनुशंसित है, जिनके कठोर पालन से परम लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है।

राजयोग का प्रारम्भ पतजलि के योगसूत्र से होता है। विवेकानन्द भी योगसूत्र में वर्णित राजयोग सिद्धान्त से सहमत हैं। पतंजलि की मान्यता है कि मनुष्य की चित्तवृत्तियों ही उसके समस्त दुःखों का कारण हैं। इन्हीं चित्त वृत्तियों के निरोध से आत्मा को कैवल्य की प्राप्ति होती है। इस निरोध को प्राप्त करने के लिए आठ सोपान (अष्टाग मार्ग) हैं। जिन्हें योग के आठ अंग कहते है - ये है - (1) यम (2) नियम (3) आसन (4) प्राणायाम (5) प्रत्याहार (6) धारणा (7) ध्यान (8) समाधि। प्राणियों की हिंसा न करना ही अहिंसा है। मनसा, वाचा, कर्मणा एकरूप रहना ही सत्य है। हमे असत्य-वादन से बचना चाहिए। चोरी न करना ही अस्तेय है। इन्द्रियों के कठोर नियन्त्रण को ब्रह्मचर्य कहा जाता है। उपरोक्त पंचयमों का पालन मनसा, वाचा कर्मणा करना चाहिए।

नियम

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्राणिधान । ये पाँच नियम हैं। शौच से तात्पर्य वाह्य तथा आभ्यंतर शुद्धि से है। आसन - बैठने का वह प्रकार है जो स्थिर और सुखद हो। ध्यान के लिए सुखद आसन में देर तक बैठना आवश्यक होता है। हठयोग-प्रदीपिका में चौरासी आसनों का वर्णन मिलता है। श्वास और प्रश्वास दोनों की गति को संयत करना प्राणायाम कहलाता है।

प्रत्याहार का अर्थ - सभी इन्द्रियों को उनके विषयया आहार से खींचकर चित्त में लीन करना है। इससे इन्द्रियों का निग्रह या संयम होता है। चित्त को किसी विशेष वस्तु में धारण करके रखने का नाम धारणा है। धारणा के विषय पर निरन्तर या अबाध रूप से चित्त लगाना ध्यान है। वही ध्यान जब समस्त वाह्य उपाधियों को छोड़कर अर्थमात्र को ही प्रकाशित करता है तब उसे समाधि कहते हैं। समाधि की अवस्था पूर्ण एकाग्रता की अवस्था है।

समाधि की इस अवस्था में हम सम्पूर्ण चित्त वृत्तियों का क्षय करके आत्म साक्षात्कार (मोक्ष) करते है।

भक्तियोग

प्रेम या भक्ति के माध्यम से ईश्वर या ब्रह्म को पाने का मार्ग भक्तियोग कहलाता है।[40] इस मार्ग में पूर्णता प्राप्त करने के लिए ईश्वर के प्रति प्रेम ही एक सारभूत वस्तु है। भक्तियोग को मुख्यतः दो भागों में बाँटा जा सकता है -

1. गौण या साधारण भक्ति
2. परा या उदात्त भक्ति

भक्ति का प्रथम सोपान- साधारण भक्ति मनुष्य को उदात्त भक्ति के लिए तैयार करता है। साधारण स्तर पर भक्त भजन, पूजन आदि द्वारा अपने में परात्मभाव पैदा करता है। उपासना आदि से मन पवित्र होता है परन्तु उपासना या मूर्तिपूजा ही वास्तविक प्रेम नहीं है यह तो भक्ति या प्रेम रूपी पादप को बढ़ाने के लिए प्रकाश स्वरूप है। विवेकानन्द का मत है कि रूढ़ियाँ, मूर्तियाँ, घंटे, आरती, पुस्तकें, गिरजे, मन्दिर व सभी पवित्र संज्ञायें सुन्दर हैं क्योंकि आत्मिकता के बढ़ते हुए पौधे की वे सहायता करती हैं, पर इससे अधिक नहीं।

सौ में निन्यान्नवे बार यही देखा जाता है कि आत्मिकता का पौधा बढ़ता ही नहीं। एक गिरजे में पैदा होना अच्छा है पर उसी में मर जाना बहुत खराब है। किन्हीं निमित्त धार्मिक रूढ़ियों के भीतर उत्पन्न होना अच्छा है क्योंकि वे आत्मिकता के पौधे को बढ़ने में सहायता प्रदान करती हैं पर यदि मनुष्य उन्हीं की सीमाओं के भीतर मर जाता है तो इससे यही सिद्ध होता है कि - उसने कोई आत्मिक उन्नति नहीं की।

इसलिए यदि कोई कहता है कि संज्ञायें, रूढ़ियां तथा उपासना की भिन्न-भिन्न रीतियाँ सदा रहनी चाहिए तो वह झूठ बोलता है पर यदि वह कहता है कि - वे आत्मा की, जबकि वह प्रथम और अधम अवस्था में होती है, उन्नति में सहायता देती है, तो सच कहता है।[41] उपासना के यह बाहरी स्वरूप हैं। मनुष्य को इनका सामना करना पड़ता है, पर यदि वह सच्चा है और सत्य की उसे वास्तविक चाह है, तो वह इनसे परे हो जाता है। तब इनका कोई मूल्य नहीं रहता है। उपासना की रीतिया को बच्चों के अ, आ, इ, ई सीखने की पाटी भर हैं। मन्दिर और गिरजे, पुस्तकें और मूर्तियां बच्चों के खेलने की वस्तुए हैं। यदि मनुष्य को धर्म की चाह है तो उसे पहले इन सीढ़ियों पर चढ़ना होगा।[42]

साधारण भक्ति के इस स्तर पर उपासना, पूजा आदि से मन पवित्र होता है। और ईश्वर के प्रति समर्पण में मदद मिलती है। परन्तु परा भक्ति या उदात्त भक्ति के स्तर पर उपासना, अर्चना, वन्दना आदि सभी बेकार हो जाते हैं। साधारण भक्ति आत्मा को शुद्ध करता है। पराभक्ति ईश्वर के साथ सान्निध्य स्थापित करता है। ऐसा भक्त संसार के कण-कण में ईश्वर की अनुभूति करता है। गौण भक्ति के स्तर पर भक्त और भगवान में द्वैत विद्यमान होता है। परन्तु पराभक्ति के स्तर पर मानव और ईश्वर के बीच द्वैत नहीं रहता है, तादात्म्य हो जाता है। ईश्वर के सच्चे प्रेमी ईश्वरीय प्रेम में रंगकर उन्मत्त होना चाहते

हैं, वे 'भगवत्प्रेमोन्मत्तपुरूष' बनना चाहते हैं। प्रत्येक धर्म के साधू-महात्माओं ने जो प्रेम-मदिरा अपने हृदय का रक्त डालकर तैयार की है, जो प्रेम-मदिरा प्रेम के लिए ही प्रेम करने वाले समस्त निष्काम ईश्वर-प्रेमी भक्तों की आशाओं का एकमात्र केन्द्र है, उसी प्रेम-मदिरा का प्याला ये प्रेमी भक्त पीना चाहते हैं। प्रम का पुरस्कार प्रेम ही है और यह कैसा उत्तम पुरस्कार है। यही एक वस्तु है जो समस्त दुःखों को दूर कर देती है। यही एक प्याला है जिसे पीने से इस संसाररूपी व्याधि का नाश हो जाता है। मनुष्य ईश्वरोन्मत्त हो जाता है। 'और मैं मनुष्य हूँ' यह तक भूल जाता है।[43]

भक्ति की चरम स्थिति का और विश्लेषण करते हुए विवेकानन्द कहते हैं 'जब मनुष्य के हृदय में प्रेम उत्पन्न होता है तब वह परमेश्वर की ओर बढ़ने लगता है और परमेश्वर भी मानों उससे मिलने के लिए आगे बढ़ता आता है। मनुष्य जीवन के सभी नाते निबाहता है जैसे-पिता भ्राता, मित्र और प्रेमी। क्रम से वह इन सबके कार्य करता है। अंत में वह उपास्य वस्तु में मिलकर एक हो जाता है। मैं तुम का भेद मिट जाता है। अपनी पूजा करने से मैं तुम्हारी पूजा करता हूं और तुम्हारी पूजा करने से अपनी। मनुष्य ने जिस कार्य का आरम्भ किया था, उसका यहाँ अन्त हो गया। जहाँ पर श्री हुई थी वहीं पर इति भी हुई। प्रारम्भ में प्रेम अपने लिए ही था, इसलिए स्वार्थी था। अन्त में सत्य ज्योति के दर्शन होने पर स्वात्मा, परमात्मा में मिल गयी। वही ईश्वर जो पहले कहीं पर बैठा हुआ एक व्यक्ति प्रतीत होता था अब सहसा मानों अनंत प्रेम में परिवर्तित हो गया। मनुष्य की भी काया पलट हो गयी। वह परमात्मा के समीप पहुँच रहा था और अपनी सांसारिक इच्छाओं और वासनाओं को छोड़ रहा था। इच्छाओं के साथ स्वार्थ भी नष्ट हो गया और चरम सीमा पर पहुँचकर उपासना, उपासक और उपास्य तीनों एक हो गये।[44]

विवेकानन्द का विचार है कि यद्यपि चारों मार्गों (चार योगों) का पृथक् - पृथक् वर्णन किया गया है तथापि चारों साधनों का अन्तिम लक्ष्य एक ही अमरता की प्राप्ति है। यहाँ पर एक प्रश्न यह पैदा होता है कि- यदि अन्तिम लक्ष्य एक ही है तो साधनों में विभिन्नता क्यों ? साथ ही क्या साधनों में आपस में विरोध पाया जाता है। प्रत्येक मनुष्य में ज्ञानात्मक, भावनात्मक, क्रियात्मक प्रवृत्तियाँ एक समान नहीं रहती हैं। मनुष्यों की स्वभावगत प्रवृत्तियों की भिन्नता को देखते हुए चार मार्गों का विधान किया गया है। अपने-अपने गुण और धर्म के आधार पर सुविधानुसार मार्ग का चयन किया जा सकता है। उल्लेखनीय है कि इन विभिन्न मार्गों में आत्यन्तिक विरोध नहीं पाया जाता है। साधना के एक बिन्दु पर पहुँचकर साधनों का वैषम्य दूर हो जाता है। ये मार्ग सर्वथा एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं।

आचार्य शंकर एवं स्वामी विवेकानन्द

आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता है। ईश्वर, ब्रह्म का आभासिक या मायोपाधिक स्वरूप है। ब्रह्म विश्वातीत एवं निर्गुण सत्ता है। जबकि ईश्वर विश्व व्यापी एवं सगुण सत्ता है। विवेकानन्द अपने नववेदान्त दर्शन में ब्रह्म और ईश्वर के इस सूक्ष्म भेद को अप्रासंगिक मानते हैं। ईश्वर और ब्रह्म एक ही सत्ता के दो नाम हैं। एक ही वस्तु को देखने के दो दृष्टिकोण मात्र हैं।

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म का कोई निर्वचन शक्य नहीं है क्योंकि वह मन वाणी और कर्म से अगम और अगोचर है। ब्रह्म का सर्वोत्तम निर्वचन नेति-नेति है। विवेकानन्द भी आचार्य शंकर के इस मत से पूर्णतया सहमत हैं। परम सत्ता मन और वाणी से परे है। आचार्य शंकर की तरह विवेकानन्द भी ब्रह्म को साक्षात् अनुभूति का विषय मानते हैं।

आचार्य शंकर के दर्शन में ब्रह्म का निषेधात्मक और भावात्मक दोनों वर्णन मिलता है। ब्रह्म का भावात्मक वर्णन करते हुए वे इसे सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के रूप में निरूपित करते हैं। विवेकानन्द उक्त विचार से सहमत होते हुए भी उसमें थोड़ा सा परिवर्तन कर देते हैं। शंकर के सत् और चित् के विचार से विवेकानन्द का सत् और चित् विचार मेल खाता है, किन्तु आनन्द का विचार बौद्ध दर्शन और इसाई धर्म के प्रभाव के कारण एक नया रूप ले लेता है। आनंद को विवेकानन्द ने प्रेम के रूप में समझा है और बार-बार इस कथन पर जोर देते हैं कि- प्रेम में ही आनंद है। परम सत्ता के इसी गुण के आधार पर विवेकानन्द व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर की कल्पना करते हैं। शंकराचार्य की तरह विवेकानन्द भी ईश्वर विषयक् प्रमाणों को केवल ईश्वर के प्रति श्रद्धा या विश्वास जगाने के लिए उपयोगी

मात्र समझते हैं। वस्तुत ईश्वर विषयक् प्रमाणों से इश्वर की सत्ता सिद्ध नही की जा सकती। इश्वर साक्षात् अनुभूति का विषय है।

आचार्य शकर के अनुसार जगत मिथ्या एवं असत् है। परन्तु विवेकानन्द के अनुसार जगत सत् है। उनका कहना है जगत् 'ईश्वर' की ही सृष्टि है अत ईश्वरीय ही है और इस दृष्टि से वह भी सत् है।

शंकराचार्य के अनुसार माया, ईश्वर की शक्ति है जिसके द्वारा वह वैचित्र्यपूर्ण जगत की अद्‌भुत लीला करता है। माया अज्ञान की शक्ति है जिसमे आवरण और विक्षेप दो शक्तियॉं पायी जाती है। जिसके द्वारा वह ब्रह्म के ऊपर पर्दा डाल देती है और उसके स्थान पर जगत् को आभासित कराती है। परन्तु विवेकानन्द ने माया को भ्रम नहीं बतलाया है। वे माया को ईश्वर की एक सच्ची शक्ति के रूप मे स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार जगत के तथ्यात्मक वर्णन का नाम माया है। यह बिल्कुल असत् नहीं है। श्री अरविन्द तथा विवेकानन्द दोनों ने माया को अज्ञान की शक्ति नहीं माना है बल्कि ईश्वर की दैविक शक्ति बतलाया है।

विवेकानन्द शंकराचार्य के इस मत से सहमत है कि आत्मा और ब्रह्म मे तादात्म्य है। परन्तु जहॉं आचार्य शंकर जगत और मानव के भौतिक पक्ष का बिल्कुल निषेधात्मक वर्णन करते है वहीं विवेकानन्द ने जगत और मानव की गरिमा को सुरक्षित रखा है। इन्होंने मनुष्य की प्रतिभासिक सत्ता को पूर्णत भ्रम नहीं माना है। जब तक मानव धरती पर है तब तक उसका अस्तित्व है।

जब मानव अपनी वास्तविक सत्ता को पहचान लेता है तो उसका उत्थान होता है न कि उसके ससीम पक्ष का विनाश हो जाता है। इस स्थल पर स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द के अधिक करीब दिखलाई पड़ते हैं।

वेदान्त दर्शन में निर्वाण को मानव जीवन के अन्तिम लक्ष्य के रूप मे स्वीकार किया गया है। मानव की भवितव्यता है 'मुक्ति'। विवेकानन्द भी आचार्य शंकर के मत से सहमत हैं। शंकराचार्य जीवनन्मुक्ति को अस्थायी महत्व देते हुए विदेह मुक्ति पर अधिक बल देते हैं। विवेकानन्द के दर्शन मे जीवन्मुक्ति पर अधिक बल दिया गया है। विवेकानन्द को 'एक मुक्ति' की चिता नहीं है बल्कि महात्मा बुद्ध की तरह प्राणिमात्र को दु ख-समुद्र से उबारना चाहते हैं। अत उनके दर्शन का आदर्श एक मुक्ति न होकर सर्वमुक्ति है।

उपरोक्त तथ्यों के आलोक में निष्कर्षत कहा जा सकता है कि यद्यपि विवेकानन्द के दार्शनिक प्रासाद का निर्माण उपनिषद् और वेदान्त की ही भाव-भूमि पर हुआ है परन्तु स्वामीजी ने अपनी विलक्षण दार्शनिक मेधा द्वारा उसे नूतन कलेवर प्रदान किया है। आध्यात्मिक उन्नति हेतु भौतिक जीवन का सर्वथा विनाश उचित नहीं है। अपने भौतिक स्वरूप का उन्नयन करते हुए सच्चा अध्यात्म लाभ ही सच्ची मुक्ति है। स्वामीजी का यह प्रेरणाप्रद विचार जन सामान्य में नूतन आशा का संचार करता है।

स्वामी विवेकानन्द और प्रो0 कृष्ण चन्द्र भट्टाचार्य के दार्शनिक विचारों की तुलना

विवेकानन्द के अनुसार परम सत् मन और वाणी से परे का विषय है। मानवीय सीमित बुद्धि द्वारा वह अचिन्त्य है। प्रो0 भट्टाचार्य परमसत् के सम्बन्ध मे विवेकानन्द के समर्थक प्रतीत होते हैं। भट्टाचार्य का विचार है कि परमसत् अनिर्वचनीय है। विचारों के माध्यम से निरपेक्ष सत् का वास्तविक लक्षण-निरूपण सम्भव नहीं है। वस्तुत इस पर कोई 'लेबल' चिपकाने का प्रश्न ही नहीं उठता ।

ब्रह्म को अनिर्वचनीय मानते हुए भी विवेकानन्द उसे सत्यं शिव सुन्दरम् के रूप में निरूपित करते हैं और उनके दर्शन में ब्रह्मानुभूति की गहनता के साथ ही सुन्दरता का भाव 'प्रेमोन्माद' के रूप में बदल जाता है। भट्टाचार्य भी ब्रह्म का भावात्मक वर्णन करते हुए उसे सत्यता, स्वतन्त्रता और मूल्य के रूप में निरूपित करते हैं। परन्तु भट्टाचार्य के दर्शन में भगवत् प्रेम में पागल भक्त की भावनात्मक अनुभूतियों का कोई वर्णन नहीं मिलता है। ऐसा लगता है विवेकानन्द के दर्शन में जहाँ ज्ञानयोग और भक्तियोग में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है वहीं भट्टाचार्य ज्ञानमार्ग पर ही (आत्मानुभूति) अधिक बल देते हैं।

प्रो0 भट्टाचार्य विवेकानन्द के इस मत से सहमत है कि परम सत् का ज्ञान 'अपरोक्षानुभूति' द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। सामान्य व्यावहारिक अनुभव द्वारा हम केवल इन्द्रिय-गोचर वस्तुओं का ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु इस आध्यात्मिक अनुभूति का जैसा परत दर परत वर्णन भट्टाचार्य के दर्शन में मिलता है वैसा स्वामीजी के दर्शन में नहीं मिलता। इस सम्बन्ध में जैसा कि गोपीनाथ भट्टाचार्य का भी विचार है कि- प्रो0 भट्टाचार्य का दर्शन आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति है। तत्वमीमांसीय प्रश्नों

(विशेषकर चेतना, चेतना की विविध अवस्थायें, आत्मा आदि) का जैसा सूक्ष्म और गहन विश्लेषण प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के दर्शन में मिलता है वैसा विवेकानन्द के दर्शन में नहीं। 'अपरोक्षानुभूति' के विश्लेषण में प्रो0 भट्टाचार्य स्वामी विवेकानन्द से अधिक मौलिक प्रतीत होते है।

स्वामी विवेकानन्द का विचार है कि - मोक्षावस्था पूर्ण अद्वैत की स्थिति है। मोक्ष की अवस्था में आत्मा का ब्रह्म से तादात्म्य हो जाता है। सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से रहित मोक्ष पूर्ण ऐक्य की स्थिति है। प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य विवेकानन्द के उक्त मत से पूर्ण सहमत होते हुए भी 'अहं ब्रह्मास्मि' की अनुभूति को ही पूर्ण मोक्ष की स्थिति स्वीकार नहीं करते है। उनका विचार है कि वास्तविक मुक्ति की स्थिति 'मैं' की भावना से भी विलग होने में है। पूर्ण स्वतन्त्रता का स्तर है 'आत्मबोध' को नकार कर हम पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं'।

प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य और स्वामी विवेकानन्द के विचारों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक विश्लेषण करते हुए कहा जा सकता है कि प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य अपनी गम्भीर विश्लेषणात्मक अन्तर्दृष्टि द्वारा अज्ञात तत्वमीमासीय रहस्यों को परत-दर-परत उद्घाटित करने में सफल हुए हैं। परन्तु एकमात्र तत्वमीमांसा पर अत्यधिक बल देने के कारण उनका दर्शन जहां एक तरफ समकालीन पाश्चात्य दर्शन (विशेषकर तार्किक भाववाद, भाषा विश्लेषणवाद, अस्तित्ववाद) के परिप्रेक्ष्य में एकांगिकता के आरोप से मुक्त नहीं हो सका वहीं दूसरी तरफ अपनी दुरूहता के कारण जन-सामान्य के अवबोध से भी परे हो गया।

इस दृष्टि से जब हम स्वामी विवेकानन्द के दर्शन पर विचार करते हैं तो

हम देखते हैं कि यद्यपि विवेकानन्द की दर्शन-सरिता का उद्गम उपनिषद् और वेदान्त से ही होता है तथापि वह बौद्ध, इस्लाम, ईसाईयत आदि विविध स्वदेशी और विदेशी धर्मों के सार-सलिल को अपने में सन्निविष्ट करते हुए दर्शन, धर्म और विज्ञान में समन्वय स्थापित करते हुए, बौद्ध दर्शन के 'चरथभिक्खवे बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' के आदर्श को मूर्तमान करते हुए प्राणिमात्र के योग-क्षेम (सर्वमुक्ति) हेतु अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत धरातल प्रदान करती है।

सन्दर्भ सूची

1. *Personal God or Isvara is a living and dynamic reality according to Vivekanand.*
A.K. Majumdar: Understanding Vivekanand P. 43 Sanskrit Pushtak Bhandar, Calcutta 1972.

2. *The infinite is indivisible, there can not be parts of the infinite. The absolute can not be divided. The complete works of Swami Vivekanand Vol. III P. 7, Advaita Ashrama, 5 Delhi Entally Road, Calcutta - 700* -014

3. ज्ञानयोग - स्वामी विवेकानन्द (द्वादश संस्करण) पृष्ठ 100, प्रकाशक - स्वामी व्योमरूपानन्द, अध्यक्ष रामकृष्ण मठ धन्तोली नागपुर - 400012

4. *God is neither outside nature nor inside nature, but God and nature and soul and universe are all convertible terms. You never see two things. It is your metaphorical words that delude you . The complete works of Swami Vivekanand. Vol. III P. 421.*

5. विवेकानन्द साहित्य संचयन, पृष्ठ 226, सस्ता द्वितीय संस्करण, रामकृष्ण मठ, नागपुर ।

6. ज्ञानयोग - स्वामी विवेकानन्द (द्वादश संस्करण) पृष्ठ 102-103, रामकृष्ण मठ नागपुर) ।

7. भक्ति और वेदान्त, लेखक - स्वामी विवेकानन्द अनुवादक - राम विलाश शर्मा, पृष्ठ 68, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 110002, 1995

8. *Through his control the sky spands, through his control the air breathes, through his control the sun shines and through his control all live. He is the Reality in nature, He is the Soul of your soul. The complete works of Swami Vivekanand. Vol - II. P. 236. Advaita Ashram, 5 Delhi Entally Road, Calcutta.*

9. *The absolute is that ocean, while you and sun and stars and everything else are various waves of that ocean and what makes the waves different?... Only the form and that form is time space and causation all entirely dependent on the wave.*
Ibid. P. 135.

10. *The whole of nature at best could teach them only a personal being whole is the ruler of the universe, it could tech nothing further. In short, out of the external world, we can only get the idea of an architect, that which is called Design theory.*
Ibid. Vol. I. P. 353.

11. *That which existes by itself alone can not have a cause that which is free can not have a cause, else it would not be free but bound.*

Swami Vivekanand - Jyan Yoga. P. 121.

Rama Krishna Math Nagpur.

12. ज्ञानयोग - स्वामी विवेकानन्द, पृष्ठ 129, द्वादश संस्करण, रामकृष्ण मठ, नागपुर ।
13. वही, पृष्ठ 27
14. वहीं, पृष्ठ 253
15. वही, पृष्ठ 207
16. *It is the God with in your own self that is propelling you to seek for him to realise Him. After long searches here and there, in temples and in churches in earths and in heavens, at last you come back completing the circle from where you started, to your own soul and find that He for whom you have been seeking all over the world for whom you have been weeping and praying in churches and temples, on whom you were looking as the mystery of all mysteries shrouded in the clouds, is nearest of the near, is your own self, the reality of your life, body and soul.*

    The complete works of Swami Vivekanand Vol. II. P. 81-82.

    Advaita Ashrama 5 Delhi Entally Road, Calcutta.
17. *You can not describe him by any other language all attempts of language calling him father*

or brother or our dearest friend, are attempts to objective God, which can not be done. He is the eternal subject of every thing.
Ibid, P. 134.

18. ज्ञानयोग - स्वामी विवेकानन्द (द्वादश सस्करण) पृष्ठ 45 रामकृष्ण मठ, नागपुर ।

19. वही, पृष्ठ 97

20. वही, पृष्ठ 105

21. स्वामी विवेकानन्द - भक्ति और वेदान्त, अनुवादक राम विलाश शर्मा, पृष्ठ 68, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली ।

22. *It is not that the world was created the other day, not that a God came and created the world and since that time has been sleeping, for that can not be, the creative energy is still going on. God is eternally creating. He is never at rest. Complete works of Swami Vivekanand Vol. III. P. 122. Advaita Ashram, Calcutta.*

23. ज्ञानयोग - विवेकानन्द, पृष्ठ 42, रामकृष्ण मठ, नागपुर ।

24. विवेकानन्द साहित्य संचयन, पृष्ठ 118, रामकृष्ण मठ, धन्टोली, नागपुर ।

25. *What you call matter or spirit, or mind or anything else you may like to call them, the fact remains the same, we can not say that they are, we can not say that they are not*

we can not say they are one, we can not say they are many. This eternal play of light and darkness - indiscriminate, indistinguishable inseparable - is always there - a fact, yet at the same time not a fact, awake and at the same time asleep. This is a statement of facts and this is what is called Maya.

Complete works of Swami Vivekanand Vol. II. P. 112. Advaita Ashram, Calcutta.

26. ज्ञानयोग - स्वामी विवेकानन्द (द्वादश संस्करण) पृष्ठ 82-83, रामकृष्ण मठ, नागपुर ।

27. भक्ति और वेदान्त - लेखक स्वामी विवेकानन्द अनुवादक - राम विलाश शर्मा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली पृष्ठ 69 - 70

28. *It is the self, beyond all thought one without birth or death, whom the sword can not be pierce or fire burn, whom air can not dry or water melt, the beginning less and the endless the unmovable, the intangible, the omniscient, the omnipotent being that is neither the body nor the mind, but beyond them all.*

Complete works of Swami Vivekanand. Vol. I P. 141. Advaita Ashram, Calcutta.

29. ज्ञानयोग - स्वामी विवेकानन्द, पृष्ठ 260 द्वादश संस्करण, राम कृष्ण मठ, नागपुर।

30. विवेकानन्द साहित्य संचयन, पृष्ठ 134, रामकृष्ण मठ, नागपुर ।

31. ज्ञानयोग - स्वामी विवेकानन्द - (द्वादश संस्करण) रामकृष्ण मठ, नागपुर पृष्ठ 27 ।

32. भक्ति और वेदान्त - लेखक स्वामी विवेकानन्द अनुवादक - राम विलाश शर्मा पृष्ठ 68, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली ।

33. वेदान्त - स्वामी विवेकानन्द, पृष्ठ 12, रामकृष्ण मठ, नागपुर ।

34. आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग - स्वामी विवेकानन्द (बारहवाँ संस्करण) पृष्ठ 105 रामकृष्ण मठ, नागपुर ।

35. ज्ञानयोग - स्वामी विवेकानन्द, पृष्ठ (290-291) रामकृष्ण मठ, नागपुर ।

36. वही, पृष्ठ 89 ।

37. न मृत्युर्न शंका न मे जातिभेदः पिता नैव मे नैव माता न जन्म ।
न बन्धुर्न मित्रं गुरूर्नैव शिष्याश्चिदानंदरूपः शिवोऽहं शिवोऽहं।।
न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखं न मन्त्रं न तीर्थं न वेदा न यज्ञाः
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता चिदानंदरूपः शिवोऽहं शिवोऽहं ।।
वही, पृष्ठ 193

38. *Attachment comes only where we expecta return. Swami Vivekanand - Selections from Swami Vivekanand, Adwaita Ashram, Calcutta, 1946, P.27.*

39. आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग - स्वामी विवेकानन्द पृष्ठ 120-121, रामकृष्ण मठ, नागपुर ।

40. *Bhaktiyoga is the path of systematised devotion for the attainment of union with the absolute. The complete works of Swami Vivekanand Vol. VI, P. 90, Advaita Ashram, Calcutta, Sixth Edition 1956.*

41. स्वामी विवेकानन्द – भक्ति और वेदान्त, अनुवादक - राम विलाश शर्मा पृष्ठ 39 वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली ।

42. वही, पृष्ठ 42

43. स्वामी विवेकानन्द - आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग, रामकृष्ण मठ नागपुर, पृष्ठ 115 ।

44. स्वामी विवेकानन्द - भक्ति और वेदान्त अनुवादक - रामविलाश शर्मा, पृष्ठ 50, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली ।

चतुर्थ अध्याय

स्वामी रामतीर्थ का वेदान्त दर्शन

स्वामी रामतीर्थ (1873 - 1906)

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध। राष्ट्र के भौगोलिक क्षितिज पर चतुर्दिक् छाये हुए दासता के बादलों को नष्ट करने वाले स्वातन्त्र्यसूर्य की प्रसव-वेदना- से व्यथित भारतमाता ने स्वामी रामतीर्थ के रूप में एक ऐसे आलोकपुंज को जन्म दिया जिसने 'एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः । स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यों सर्वमानवाः ।।' के पूर्व भारतीय आध्यात्मिक परचम को पुनः लहराते हुए, लौकिक चाक्चिक्य में आत्मस्वरूप को विस्मृत की हुई भौतिक दाह दग्ध विश्वसन्तति को अपनी पीयूषप्रवाहिनी ज्ञान गंगा से न केवल आप्लावित ही किया बल्कि अपनी अनुपम आध्यात्मिक आभा से उनके हृदय गुफा में व्याप्त अज्ञानान्धकार का सर्वथा मूलोच्छेदन भी किया। जिसकी तैलधारावत् ब्रह्मकार वृत्ति ने 'मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्' के आदर्श को मूर्तमान् करते हुए, 'अहं ब्रह्मास्मि और आत्मदीपो भव' का डिम-डिम घोष करते हुए 'चरथभिक्खवे बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' के महात्मा बुद्ध के आदर्श को पुनः प्रतिष्ठित किया।

आत्मा अमर्त्यधर्मा है, पार्थिव शरीर तो निरंजन आत्मा का वस्त्राभूषण है, जिसका जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर सर्प के केंचुल की तरह आत्मा परित्याग कर देती है। स्वामी रामतीर्थ के जीवन के ये अंतिम शब्द सुमन आज भी अखिल विश्व में अमरता की दिव्य सुरभि का प्रसारण कर रहे हैं -

> 'ओ मौत बेशक उड़ा दे इस जिस्म का, मेरे और शरीर ही मुझे कम नहीं। सिर्फ चाँद की किरणें, चाँदी की तारें पहनकर चैन से काट सकता हूँ। पहाड़ी नदी-नालों के भेष में गीत गाता फिरूँगा। मैं ही वादे खुश खराम (मनोहर वायु) और नसीमे मस्तानागाम (प्रात. समीर की मस्ती) हूँ। मेरी यह सूरते सैलानी (मनमौजी मूर्ति) हर वक्त रवानी (हलचल) में रहती है। इस रूप में

पहाड़ों में उतरा, मुरझाते पौधों को ताजा किया, गुलों को हँसाया, बुलबुल को रूलाया, दरवाजों को खटखटाया, सोतों को जगाया, किसी का आँसू पोंछा, किसी के घूँघट को उड़ाया। इसको छेड़, उसको छेड़, तुझको छेड़। वह गाया! वह गाया!! वह गाया!!! न कुछ साथ रखा, न किसी के हाथ आया।'[1]

स्वामी रामतीर्थ के दार्शनिक विचार

स्वामी रामतीर्थ की दार्शनिक मान्यताओं का एक ही स्थल पर, एक ही साथ विवेचन अत्यन्त दुरूह है क्योंकि उनके जीवन की मधुकरी वृत्ति के समान उनके दार्शनिक विचार-सुमन भी यत्र बिखरे पड़े हैं। उन्होंने न तो किसी विशिष्ट शास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की और न आचार्य शंकर की तरह किसी दार्शनिक निकाय की स्थापना ही की। तथापि उनके प्रत्येक व्याख्यान में उनकी दार्शनिक मान्यताओं का किंचित पुट मिल ही जाता है। उन्हीं व्याख्यानों के आधार पर, उन्हीं उपदेशों के आधार पर उनकी दार्शनिक मान्यताओं के निरूपण का हम प्रयास करेंगे।

ब्रह्म अथवा आत्मा

स्वामी रामतीर्थ 'ब्रह्म' को परमसत्य, अनादि अनन्त और कूटस्थ नित्य सत्ता मानते हैं। अपनी दार्शनिक साधना के प्रारम्भिक वर्षों में रामतीर्थ ने परमब्रह्म को कृष्ण के रूप में देखा। इस अवस्था में प्रकृति के कण-कण में उन्हें अपने आराध्य कृष्ण की सूरत दिखलाई पड़ती थी। स्वामी राम के बारे में कहा जाता है कि रावी के किनारे आकाश में भूरे बादल छाये देखकर चिल्लाया करते थे 'देखो, देखो तो अरे वही मेरा कृष्ण है, ऐ बादल! मेरे ईश्वर! मेरे कृष्ण का रंग भी तेरा सा है, तूने कृष्ण को छिपा रखा है। ओ बादल!

बता कृष्ण कहाँ है ? ओ भगवान बता मुझे तुम दर्शन न दोगे? बादलों को फटता हुआ देखकर राम रो पड़ते। 'ऐ बादल, तुम मेरे सम्बन्धी हो। जाओ पर कृष्ण से कहना कि राम को अवश्य मिलें देखें उसकी आंखों मे कितना पानी भरा है और कहना ... अरी आखों! यदि तुम कृष्ण के दर्शन नहीं कर सकती तो मुद जाओ। ऐ हाथों! यदि भगवान के चरणों का स्पर्श न किया तो किस काम के! ऐ भगवान यदि जीवन की बलि चाहते हो तो ये प्राण भी तुम्हारे अर्पण हैं। ऐसे कहते ये रोये जाते, आंसुओं से कपड़े भीग जाते, तन की सुध न रहती। जब कभी साँप या नाग इनके सामने फन फैलाये आ जाता तो उसकी ओर लपक कर कहते 'आओ प्रभु! आओ। इसी रूप में दर्शन दो।'[2]

स्वामी रामतीर्थ की दार्शनिक साधना के गहन तर होने के साथ ही अतत उनका विग्रहवान, वैयक्तिक कृष्ण, निर्गुण ब्रह्म के रूप में परिणत हो गया। साक्षात्कार की परम सीमा पर कृष्णत्व, ब्रह्मत्व में विलीन हो गया। जिस तरह से उपनिषदों में और आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में आत्मा और ब्रह्म को एक ही सत्ता के दो नामों के रूप में चित्रित किया गया है उसी औपनिषदिक शैली में रामतीर्थ आत्मा और ब्रह्म को एक ही मानते हुए आत्मा का निरूपण निम्नवत् ढंग से करते हैं - सत्य तो यह है कि पुत्र के मुख को उद्भासित करने वाली ज्योति अपने भीतर के सरोवर से - आत्मा से निकलती थी। आनन्द का वास्तविक उद्गम स्थान अपनी आत्मा है 'अब हम आनन्द के घर आनन्द के मूल स्थान के कुछ निकट पहुँच गये हैं। पुत्र इसलिए प्यारा नहीं है कि वह पुत्र है, पुत्र आत्मा के लिए प्यारा है। स्त्री, स्त्री के लिए प्यारी नहीं है, पति, पति के लिए प्यारा नहीं है, बल्कि स्त्री आत्मा के लिए प्यारी है, पति आत्मा के लिए प्यारा है। यथार्थ बात यही है। लोग कहते हैं कि वे किसी वस्तु को उसी के लिए प्यार करते हैं। किन्तु ऐसा नहीं हो सकता। नहीं हो सकता।

सम्पत्ति, सम्पत्ति के लिए प्यारी नहीं है। सम्पत्ति प्यारी है आत्मा के लिए। जब स्त्री से जो एक समय प्यारी थी, काम नहीं चलता, तब उसे पति तलाक दे देता है। इस प्रकार पति से जो एक समय प्यारा था, जब काम नहीं चलता, तब स्त्री उसे त्याग देती है। जब दौलत से काम नहीं चलता तब वह छोड़ दी जाती है।[3]

स्पष्ट है कि परमतत्व की प्रत्यक्षानुभूति करके स्वामी रामतीर्थ भीउसका वर्णन औपनिषद् ऋषियों की शैली में ही करते हैं। यह शैली ऋषि याज्ञवल्क्य द्वारा अपनी पत्नी मैत्रेयी को आत्म-तत्व के निरूपण करते समय वृहदारण्यक् उपनिषद् में अपनायी गयी है। जब तत्व एक है, आत्म दर्शन का मार्ग (प्रत्यक्षानुभूति) भी एक ही है तो उसके निरूपण मे भिन्नता कैसे ?

> 'स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पति प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पति प्रियो भवति ... न वा अरे लोकानां कामाय लोका. प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति।[4]

आचार्य शंकर आत्मा को सत्यं, शिवं, सुन्दर के रूप में निरूपित करते है। स्वयं रामतीर्थ भी आत्मा को परमसुख अथवा परमानंद का मूलस्रोत मानते हैं।

ज्ञानमार्गी, सन्त शिरोमणि कबीरदास घट-घट में (प्रत्येक शरीर में) आत्मा का निवास स्वीकार करते हैं। जीवात्मारूपी कमलिनी अविधाग्रस्त होकर आत्मस्वरूप को विस्मृत कर बैठी है जिसके कारण वह स्वयं, अपने अन्तर्तम में विद्यमान आनंद के अजस्र स्रोत आत्मा की अनुभूति नहीं कर पा रही है जिसके कारण वह अत्यन्त सन्तप्त है।

> 'काहे रे नलिनी! तू कुम्हलानी ?
>
> तेरे ही नाल सरोवर पानी

. . . .
जल में नलिनी तोर निवास।।'

स्वाराज्य में विचरण करने वाले स्वामी रामतीर्थ आत्मानन्दरूपी मदिरा का पान करके उन्मत्त हो चुके थे। लौकिक जीवन उन्हें रास नहीं आता था। वे स्वयं कहते हैं 'न हम कभी सुरा के प्रेमी थे और न हमें मदिरा का उन्माद ही है। हमने तो स्वप्न मे अपने प्यारे के अधरों का चुम्बन किया था, उसी स्वप्न की मस्ती की गर्मी है।[5]

इसी तरह की आध्यात्मिक रसानुभूति का आनंद लेते हुए जयशंकर प्रसाद कामायनी में कहते हैं -

परिरम्भ कुम्भ की मदिरा निःश्वास मलय के झोंके ।
मुखचन्द्र चाँदनी जैसे मैं उठता था मुँह धोके ।।
शीतल समीर आता है कर पावन परस तुम्हारा ।
मैं सिहर उठा करता हूँ बरसा कर आँसू धारा ।।

स्वामी रामतीर्थ ने आत्मा के सम्बन्ध मे अपनी प्रत्याक्षानुभूति को इस भाँति अभिव्यक्ति दी है - स्वर्ग, दिव्यलोक, आनन्दधाम सबकुछ आपके भीतर ही है, फिर भी गली-कूचों के पदार्थों में आप आनन्द ढूँढ़ते-फिरते हैं, उस वस्तु की खोज बाहर-बाहर, इन्द्रियों के विषयों में करते रहते हैं। यह कैसा आश्चर्य है। आत्मा अजर, अमर और अजन्मा है। स्वामी राम कहते हैं 'लो कहाँ है वह तलवार जो मुझे काटे ? कहाँ है वह अग्नि जो मुझे जला दे ? कहाँ है वह पानी जो मुझे डुबा ले ? वायु में इतनी शक्ति कहाँ जो मुझे सुखा दे? मृत्यु जब मेरी अभिलाषा करके आयेगी तो उसकी मृत्यु हो जायेगी।[7]

आत्मा महाशक्ति, अमर प्रेम, सीमा-रहित, सर्वात्मा सर्वाधार, ऊपर-नीचे, सभी ओर वही है -

मैं महाशक्ति अब अमर प्रेम
मुझमें असीम में क्या अन्तर ?
मिल सर्वात्मा से हुआ एक
मुझमें विलीन अब स्वर्गिक स्वर ।
हो ऊँच, नीच, समकक्ष सभी से शान्ति भरी ममता अधीर ।
ऊपर नीचे मैं सभी ओर ।

स्वामी रामतीर्थ शंकराचार्य के समान ही आत्मा को नित्य, निर्विकार और एकरस मानते हैं।

'मनुष्य में असली आत्मा है जो अमर है। वहीं वास्तविक आत्मा है, जो नित्य, निर्विकार आज, कल और सदा एकरस है। मनुष्य में ऐसी कोई वस्तु है, जो मृत्यु को नहीं जानती, किसी प्रकार के परिवर्तन को नहीं जानती। मृत्यु में व्यावहारिक अविश्वास का कारण मनुष्य में इस वास्तविक आत्मा की उपस्थिति है जो अपने अस्तित्व की मृत्यु में लोगों के व्यावहारिक अविश्वास द्वारा सिद्ध करता है।'

उपनिषदों एवं शांकर वेदान्त में विविध प्रसंगों के अन्तर्गत आत्मा और ब्रह्म की अभेदता का प्रतिपादन किया गया है। वस्तुतः आत्मा ही ब्रह्म है परन्तु अविद्या के वशीभूत होकर वह आत्मस्वरूप को विस्तृत कर जाती है। जिस तरह कोई स्त्री अपने गले में पड़े हुए हार को भूलकर उसे वाह्य जगत में खोजती है उसी तरह से अविद्यावश जीव प्रपञ्चात्मक जगत में ब्रह्म की तलाश करता है। वस्तुतः आत्मा और ब्रह्म में किसी तरह का कोई भेद नहीं है। स्वामी रामतीर्थ का भी विचार आत्मा और ब्रह्म की एकता का ही प्रतिपादन करता

है। अज्ञानता के कारण ही भेद-दृष्टि का उदय होता है। ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर आत्मा और ब्रह्म की अभेदता की साक्षात् अनुभूति होने लगती है। ऐसी ही अपरोक्षानुभूति का वर्णन करते हुए स्वामी रामतीर्थ कहते हैं . -

'मन तो शुदम्, तो मन शुदी, मन तन शुदम तो जाँ शुदी
ता कस न गोयद बाद अर्जी, मन दीगरम तो दीगरो।'

भावार्थ,

मैं तू हुआ, तू मैं हुआ, मैं देह हुआ, तू प्राण हुआ,
अब कोई यह न कह सके, मैं और हूँ, तू और है।[8]

जिस तरह आचार्य शंकर ब्रह्म या आत्मा को मन और वाणी से परे का विषय मानते हुए भी सत्यं, शिवं-सुंदरम् के रूप में उसका निरूपण करते हैं। ठीक उसी तरह से स्वामी रामतीर्थ भी ब्रह्म को अस्ति, भाति और प्रेम के रूप में निरूपित करते है। स्वामी रामतीर्थ आत्मा को कभी-कभी ब्रह्म की संज्ञा देते हैं। कभी उसे कृष्ण और कभी उसका प्रतीक 'ॐ' को माना है। कभी संतकवि कबीरदास की तरह -

'दुलहिन गावहुँ मंगलचार,
हम घर आये हो राजाराम भरतार।।'

उसे राम के रूप में भी निरूपित करते हैं 'ॐ' शब्द तो उनके रोम-रोम में ही बस गया था।

'पर्वत के शिखर पर 'ओम-ओम' की अनाहत ध्वनि हो रही है। अरे सोने वालों, क्या तुम तक यह ध्वनि नहीं पहुँच रही है? क्या तुम्हारी नींद अब तक नहीं टूटी? बादलों जाओ अपने गर्जन में संसार के लोगों को 'ओम्-ओम् का नाद घोषित कर

दो। बिजली, भाओ और सुवर्ण अक्षरों में 'ओम्-ओम् लिख दो।।[9]

उल्लेख्य है स्वामी रामतीर्थ के राम अयोध्यावासी दशरथ पुत्र राम नहीं हैं बल्कि वे अघटनघटनापटीयसी, निष्कलुष, निरंजन परम पिता परमेश्वर हैं। वह एक ऐसी सत्ता है जो अखिल विश्व का सृजन, पालन और संहार करती है। स्वामी रामतीर्थ के उक्त विचार वृहदारण्यक् उपनिषद् मे वर्णित ब्रह्म विचार से मिलता-जुलता है। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ-यजमानं देवा दर्वी पितरोऽन्वायत्ता ।।[10]

माया

आचार्य शकर के अनुसार माया ईश्वर की सर्जनात्मक शक्ति है। यह शक्ति अपनी आवरण शक्ति के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप पर पर्दा डाल देती है और विक्षेप शक्ति के द्वारा उसे प्रपञ्चात्मक जगत् के रूप मे प्रक्षेपित करती है। माया (अविद्या) के वशीभूत होकर व्यक्ति आत्म स्वरूप को विस्मृत कर जाता है। जब तक व्यक्ति अविद्याग्रस्त रहता है- तब तक उसे प्रपञ्चात्मक जगत ही एकमात्र सत्य प्रतीत होता है। जिस दिन अविद्या रूपी रात्रि से व्यक्ति जाग जाता है उसी क्षण प्रपञ्चात्मक - जगत् का बाध हो जाता है। ब्रह्मात्मैक्य का बोध हो जाने पर दुनिया का लोप हो जाता है।

स्वामी रामतीर्थ आचार्य शंकर के उपर्युक्त मत से एकदम सहमत हैं। वे घोषणा करते हुए कहते हैं कि प्रयोगात्मक अनुभव से, प्रत्यक्ष साक्षात्कार द्वारा सिद्ध करके हम तुम्हे दिखा सकते है कि यह ससार, जो तुम देखते हो, वास्तव में परमेश्वर - ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा निर्विवाद रूप से हम तुम्हे दिखा सकते हैं कि सत्य

की साधना मे जब तुम यथेष्ट ऊँचे चढ जाते हो तो यह दुनिया तुम्हारे लिए लोप हो जाती है।

तात्पर्य यह है कि ब्रह्मानुभूति के पूर्व जगत और जागतिक सम्बन्ध पूर्णतया सत्य होते हैं परन्तु ब्रह्मज्ञान होते ही जगत प्रपञ्च का बाध हो जाता है।

माया अनादि है। माया के अनादि कहने का तात्पर्य यह है कि - माया ने जीवो को कब से ग्रस्त कर रखा है, इसके विषय म हम कुछ भी नही कह सकते। जिस प्रकार सुषुप्तावस्था मे हम यह नहीं कह सकते कि हम कब से सो रहे है, उसी तरह से जीव कब से माया से आक्रान्त है, इसके विषय मे कुछ भी नही कहा जा सकता। स्वामी राम की दृष्टिमे 'माया का प्रारम्भ कब और कैसे हुआ?' यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका कोई उत्तर नहीं। देश, काल, वस्तु अथवा कार्य-कारण का इधर या उधर कही कोई अन्त नही होता। स्वप्न मे भी उस श्रेणी विशेष के देश का जिसे तुम स्वप्न मे बाध करते हो, कोई अन्त नही होता, चाहे अपने से पहले, चाहे अपने से पश्चात् । स्वप्न म भी उस श्रेणी विशेष के देश की, जिसे तुम स्वप्न मे, बोध करते हो, कोई सीमा नहीं होती। स्वप्न म भी उस विशेष श्रेणी की कार्य-कारण-परम्परा का कोई अन्त नही होता, जिसे तुम स्वप्न मे देखते हो।'[11]

स्वप्नदर्शी द्रष्टा जब जागता है तब सारी समस्या स्वत हल हो जाती है। जागने पर स्वप्नद्रष्टा कहता है - अरे, यह तो स्वप्न था, उसमे कहीं भी कोई सच्चाई नहीं थी। इसी भाँति सत्य के साक्षात्कार मे जागने पर, मुक्ति की वह अवस्था प्राप्त होने पर, वेदान्त जिसके द्वार सबके लिए खोलता है तुम देख सकोगे कि वह दुनिया तमाशा थी, केवल क्रीडा-वस्तु थी, भ्रममात्र थी और कुछ न थी।

स्वामी रामतीर्थ आचार्य शकर की तरह माया को अनिर्वचनीय मानते है। माया सत् नहीं है क्योंकि इसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। यह असत् भी नही है क्योंकि इसी के द्वारा ईश्वर वैचित्र्यपूर्ण जगत की अद्भुत लीला करते है। चूँकि न यह सत् है न असत् है अतः सदसदनिर्वचनीया है।

स्वामी राम माया सम्बन्धी विचार को सुस्पष्ट करते हुए कहते है - 'राम अब माया की समस्या को तुम्हे हिन्दुओ की उस पद्धति से समझायेगा, जिस प्रकार उन्होंने उसे अपने प्राचीन धर्मग्रन्थों से दर्शाया और समझाया है। व उसे व्यवहारत प्रयोगात्मक ढग से समझाते है। वे माया को 'अनिर्वचनीय' कहते है। उसका परिमित अर्थ 'भ्रान्ति" मात्र है। परन्तु व्याख्या रूप से माया उसे कहते है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता, जो न सत्य कही जा सकती है और न असत्य कही जा सकती है, तथा जो सत्य और असत्य का मिश्रण भी नहीं है। यह सम्पूर्ण ससार माया या भ्रान्ति है। यह भ्रान्ति दो प्रकार की होती है। एक को हम वाह्य और दूसरी को 'आन्तरिक' भ्रान्ति कह सकते है। शीशे मे प्रतिबिम्बित चित्र वाह्य भ्रान्ति का उदाहरण है और रस्सी मे सर्प की भावना आन्तरिक भ्रान्ति का उदाहरण है। स्वामी रामतीर्थ का विचार है कि समस्त भ्रान्तियो का अधिष्ठान परमश्वर - ब्रह्म अथवा आत्मा है। उसका साक्षात्कार कर लेने पर समस्त भ्रान्तियॉ - सारी माया स्वत अन्तर्हित हो जाती है, उसका नामोनिशान तक नहीं रहता। ज्ञान के प्रचण्ड भास्कर के प्रकाशित होन पर संसार का प्रबल अविद्या - अधकार तत्क्षण उसी प्रकार विलीन हो जाता है, जिस प्रकार रस्सी के वास्तविक बोध से सर्प-भावना। उस ज्ञान मे सारे विभेद, सारी अनेकताये आत्म रूप हो जाती हैं।

इन सब नाम-रूपों मे और इन समस्त प्रतिभाओ मे, इन भेदों और प्रभेदों मे स्वय परमेश्वर समाया हुआ है। किन्तु इसके साथ ही यह भी ध्यान रखिये कि ये सब विभिन्न नाम और रूप और प्रतिभाये मिथ्या है, जैसे रस्सी मे साँप मिथ्या होता है। इस भ्रान्ति से आगे बढ़ो और तुम उस अवस्था को प्राप्त होगे जो इन सबसे परे है, जो सम्पूर्ण कल्पना से परे है और सम्पूर्ण शब्दों से परे है। वह वाह्य और आन्तरिक दोनों भ्रान्तियों मे परे है।[12]

निष्कर्ष रूपेण कहा जा सकता है कि स्वामी जी के अनुसार आन्तरिक भ्रान्ति के कारण ही माया की प्रतीति होती है। ब्रह्मज्ञान अथवा आत्मज्ञान से इस भ्रान्ति की निवृत्ति होती है। उस समय माया का समस्त विस्तार समाप्त हो जाता है और सब कुछ आत्म स्वरूप ही दृष्टिगोचर होने लगता है।

मनुष्य

भारतीय आर्ष परम्परा सभ्यता के उप काल से ही मानव के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए व्यग्र रही है। 'कोऽह भो।' और 'कस्मिन्नु खलु भगवो विज्ञात सर्वमिद विज्ञातं भवति' की समस्या औपनिषद् ऋषियों की मौलिक समस्या थी। स्वामी रामतीर्थ भी इसी प्राचीन आर्ष परम्परा के नवीन अतिथि थे। क्या मनुष्य इन्द्रिय सुखो की अधी तलाश में भटकता हुआ कोई वन्यप्राणी है? या उसके अन्तर्तम मे विश्व-कलयाणवहा मे कोई आध्यात्मिक ज्योति है जो उसे अन्य जीवधारियों से पृथक् कर देती है?

इसी आत्मस्वरूप की तलाश मे स्वामी रामतीर्थ ने नचिकेता की तरह घर-परिवार कर परित्याग कर दिया। वह वन-वन भटका। गगन चुम्बी पर्वत की चोटियो पर चढा। सरिता की कल-कल निनाद मे निहारा। अत मे उसे मानवीय रूप का अभिज्ञान हो गया। हे मनुष्य! तू स्वय परमपिता परमेश्वर है। तुझे आवश्यकता है केवल 'स्वमहिम्निप्रतिष्ठित' की। वह भावोन्माद मे उन्मतत की तरह चिल्ला पडा - 'मै सूर्य हूँ। मै सूर्य हूँ। मेरी ही प्रभा से विराट् जगत के समस्त अणु-परमाणु दीप्तमान है। मै ही शुद्ध सनातन ब्रह्म हूँ। मै ही सत्, चित और आनद हूँ। मै अजन्मा और अमर हूँ। मुक्ति-प्रदाता ज्ञान मै ही हूँ। मृत्यु-पाश-ध्वसक मै ही हूँ। मै ही अनादि, अद्वय ब्रह्म हूँ। मुझ सच्चिदानद में द्वैतभाव का नामोनिशान नहीं है। मै अविकारी हूँ। मै माया से सर्वथा परे हूँ। मै सत्य स्वरूप हूं। मैं आनन्द का केन्द्र हूँ। सभी के अत करण मे मेरा निवास है।'

मानवीय स्वरूप पर विचार करते हुए स्वामी रामतीर्थ मनुष्य की निम्नलिखित कोटियाँ निर्धारित करते है -

1. **खनिज मनुष्य** - इस कोटि के मनुष्य परिवार, समाज और राष्ट्र को छोडकर केवल वैयक्तिक वासनाओं (कामनाओं) की तृप्ति हेतु निरन्तर विचरण करते रहते है। अधम कोटि के ऐसे स्वार्थी व्यक्तियों के सभी प्रयत्नो का उद्देश्य केवल अधोगति करने वाले सुखो की तलाश है।

2. **उद्भिज मनुष्य** - इस कोटि के मनुष्य कूपमण्डूक की तरह अपनी पारिवारिक परिधि को ही अपना ससार समझते हुए अहर्निश अपने स्त्री बच्चो के स्वार्थ साधन मे रत रहते है। खनिज कोटि के मनुष्यों की अपेक्षा इसका जीवन उत्तम होता है। क्योंकि इनके 'अपनेपन' की परिधि इनके वैयक्तिक जीवन की सीमा को तोडकर अपने परिवार तक व्याप्त होती है।

3. **पशु-मनुष्य** - तृतीय कोटि के मनुष्यों का जीवन वर्ग, सम्प्रदाय और राज्य से सम्बन्धित होता है। ये प्राय साम्प्रदायिक प्रवृत्ति के होते है और अपने वर्ग या सम्प्रदाय के हित के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देते है। जिन लोगों के प्रति इनका झुकाव है, उनके प्रति ऐसे मनुष्य बहुत उपयोगी सिद्ध होते है।

4 **वास्तविक मनुष्य** - इस कोटि के मनुष्य विश्ववारा सस्कृति के सपोषक होते है 'वसुधैव कुटुम्बक' की भावना से ओत-प्रोत ऐसे व्यक्ति लोक सग्रह मे ही अपना जीवन व्यतीत कर देते है। जात-पात, वर्ण, नाम और सज्ञा का ध्यान छोडकर वे विश्वकल्याणकारी प्रकृति के होते हैं।

स्वामी रामतीर्थ अत मे देव-मनुष्य या ईश्वर मनुष्य की कल्पना करते है।

देवमनुष्य समस्त प्रकार की सीमितताओं से परे होता है। ये मुक्त पुरूष है, अर्थात् सारे कष्ट, भय, शारीरिक कामनाओं ओर स्वार्थपरता से मुक्त है। ये स्वाधीन मनुष्य है जो स्वाराज्य में विचरण करते है। विश्व इस मनुष्य की आत्मा है। विशाल जगत् छोटे से छोटा प्राणी, खनिज-वनस्पति इत्यादि - इन सबकी आत्मा इस प्रकार के मनुष्यों की आत्मा हो जाती है।

स्पष्ट है कि स्वामी रामतीर्थ के जीवन का एक मात्र उद्देश्य मनुष्य को "देवमनुष्य' अथवा 'ईश्वर मनुष्य' बनाना था। आखिर जब सभी मनुष्य एक परमेश्वर की सतान है अथवा वेदान्त के शब्दों मे - 'स्वय ब्रह्म है' तो उनमें आपस मे भेद-भाव कैसा ? वास्तव मे स्वामी रामतीर्थ ने भी उसी सत्य का साक्षात्कार किया था, जिसका साक्षात्कार हमारे औपनिषदिक् दार्शनिकों ने किया था, जिस सत्य को स्वयं आचार्य शकर ने स्थापित किया था। स्वामी रामतीर्थ के दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता 'वेदान्त के व्यावहारिक प्रयोग' की थी। आखिर वे कोन से तत्त्व थे जिसके कारण 'अह ब्रह्मास्मि' और 'तत्वमसि' का साक्षात्कार करने वाले भारतवासी परतन्त्रता की बेड़ियो मे जकड दिये गये थे। इसका एक ही कारण था 'भारतीय अपनी ब्रह्म स्वरूपता को विस्मृत कर गये थे। इसीलिए तो स्वामी राम न अपने जीवन का यही उद्देश्य बना लिया था 'मनुष्य के भीतर प्रसुप्त अन्तरात्मा को जाग्रत करना, उसे उद्बोधित करना एव आत्म स्वरूप मे स्थित करना। स्वामी जी अपने दर्शन के माध्यम से करोडों भारतीयो के हृदय मे व्याप्त दौर्बल्य का विनाश कर उसमें ब्रह्म का अपूर्व तेज, शौर्य भर देना चाहते थे। प्रसुप्त भारतीयों को उनके स्वरूप का ज्ञान कराना चाहते थे। उनके शब्द-शब्द मे देशभक्ति का ज्वार सा उमड़ता दिखलाई पड़ता है।

'भारतवर्ष मेरा शरीर है। कोमोरिन मेरे पैर और हिमालय मेरा सिर है। मेरी जटाओं से गगा बहती है और मेरे सिर से ब्रह्मपुत्र और सिन्ध निकली है। विन्ध्याचल मेरे कमर की लँगोटी है। कोरोमण्डल मेरी बायीं और मालावार मेरी दाहिनी टांगें है। मै समूचा भारतवर्ष हूँ। उसका पूर्व और पश्चिम मेरी बाहे है, जिन्हे मैने मानव-समाज का आलिगन करने के निमित्त फैला रखा है। मेरा प्रेम स्वाभाविक है मेरी अन्तरात्मा, विश्वात्मा है। जब मै चलता हूँ तो मै सोचता हू कि भारत चल रहा है। जब बोलता हूँ, तब सोचता हूँ कि भारत बोल रहा है। जब श्वास लेता हूँ तब भारत ही श्वास लेता प्रतीत होता है। मै भारतवर्ष हूँ, मै शकर हूँ, मै शिव हूँ। यही देशभक्ति का सर्वोत्तम साक्षात्कार है। यही है व्यावहारिक वेदान्त।'[13]

परतन्त्रता-पाश मे बद्ध भारतमाता के लिए ऐसे समय मे कितना प्रासगिक है स्वामी राम का यह अटूट देशभक्ति भरा दर्शन।

स्वामी रामतीर्थ मनुष्य मे ब्रह्म भावना को आरोपित कर उसके समस्त पाप-ताप, दु.खदैन्य, दीनता-कृपणता, जन्म-मरण, हर्ष-विषाद, राग-विराग समस्त द्वन्द्वों को समाप्त कर देते हैं। ब्रह्म अथवा आत्मा का साक्षात्कार हो जाने पर मनुष्य समस्त इच्छाओं का स्वामी हो जाता है। वह द्वन्द्वातीत, त्रिगुणातीत, मायापति, माया से रहित, निर्भय, निरजन निराकार, सर्वशक्तिमान् सर्वनियंता परमात्मा हो जाता है। उनका कथन है -

एक बार अनुभव करो कि - तुम स्वयं अपने भाग्यविधाता हो, फिर देखो तुम कितने सुखी हो जाते हो। जब तुम ऊ जपते हो और जब तुम यह ज्ञान करते हो कि अपने भाग्य के तुम आप ही स्वामी हो, तब रोने-झींकने, दु खी होने की कोई जरूरत नहीं

रह जाती। अपने आपको परिस्थिति का गुलाम मत समझो। इस सत्य को पहचानो, इस सत्य का अनुभव करो कि - तुम अपने भाग्य के आप विधाता हो। तुम चाहे जिस दशा में हो, वातावरण कुछ भी हो। देह चाहे कारागार मे डाल दी जाय अथवा तेज धारा मे बहा दी जाय। या किसी के पैरों तले कुचली जाय, याद रखो - मै ईश्वर हूँ।[14]

'मनुष्य जन्म पाकर भी हैरान और शोकातुर रहना लज्जा की बात है। शोक चिन्ता मे वे डूबे जिनके मा-बाप मर जाते है, तुम्हारा राम तो सदा जीता है, फिर क्या गम? जरा तमाशा तो देखो। छोड दो शरीर की चिता को, मत रखो किसी की आस, परे फेंक दो कामवासना को, एक आत्म-दृष्टि को दृढ रखो।'[15]

सृष्टिवाद

स्वामी रामतीर्थ के सृष्टि-विषयक् विचार आचार्य शकर के सिद्धान्त से मिलता-जुलता है। सृष्टि-सम्बन्धी आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद या कल्पनावाद के सिद्धान्त को स्वामी रामतीर्थ कभी भी स्वीकार नहीं करते है। इस मत के अनुसार हमारी आत्मा और उसके विज्ञानों के अतिरिक्त संसार में अन्य किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। जीवात्मा ही इन्द्रिय सवेदनरूप विज्ञानों द्वारा जगत की सृष्टि करता है। जगत् मानवीय बुद्धि या संकल्प की रचना है।

स्वामी रामतीर्थ सृष्टि सम्बन्धी उपरोक्त पाश्चात्य मत से सहमत नहीं है। उनका मन्तव्य है - मन अथवा बुद्धि सीमित है। अत सीमित वस्तु की कल्पना भी सीमित होगी वह असीम नहीं हो सकती। मन और बुद्धि तो आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। वे तो जड़ हैं। आत्मा के सानिध्य से उनमें चेतनता आती है। अतएव मन और बुद्धि की बड़ी से बड़ी कल्पना भी सीमाबद्ध ही रहेगी। स्वामीजी कल्पनावादियो की आलोचना करते हुए

कहते हैं 'तुम्हारा इतना कहना ठीक है कि - द्रष्टा की क्रिया के बिना इस संसार के नाम और रूप प्रकट नहीं हो सकते, पदार्थों के लक्षण, गुण और धर्म हमारी बुद्धि या मन अथवा द्रष्टा की क्रियाशीलता पर निर्भर है। यहाँ तक तुम ठीक हो। किन्तु तुम्हारा यह कहना ठीक नहीं कि - तुम्हारे इस छोटे से द्रष्टा, तुम्हारे इस छोटे से मन से बाहर कुछ और नहीं है।'

स्वामी रामतीर्थ का विचार है कि विश्व न तो किसी व्यक्ति विशेष के मनस् की काल्पनिक रचना है, न अचेतन प्रकृति का विकास है और न बुद्धिहीन परमाणुओं का परिणाम ही है। यह विश्व एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान परमात्मा के सचेतन संकल्प की अभिव्यक्ति है। स्वामीजी सृष्टि का निमित्त और उपादान कारण परब्रह्म को मानते हैं। उनका कथन है कि निर्गुण ब्रह्म, शुद्ध आत्मा के जान लेने पर सृष्टि का रहस्य अपने आप समझ में आ जाता है।

जिन गुणों से दुनिया बनायी गयी है, उनके बाबत् क्या सोचते हो? इन्द्रिय-गोचर जगत गुणों का पुञ्ज है और सभी गुण उस परमतत्व पर निर्भर रहते हैं। यह एक बहुत ही सूक्ष्म बात है। जो आप अभी नहीं समझ सकेंगे, किन्तु उसका सुनना अच्छा है। वे सारे गुण उस परमतत्व पर निर्भर करते हैं। उसी धुरी पर चक्कर लगाते है अतः इन गुणों के धर्म के अनुसार परमतत्वों में भी एक गुण हुआ अर्थात् उनमें भी वह इन गुणों के अवलम्ब, पोषक या आधार होने का गुण है। वह परमतत्त्व सब गुणों का आश्रय है। यदि यह सच है तो वह परमतत्त्व निर्गुण नहीं रहा क्योंकि उस परमतत्त्व में इन सब गुणों को आश्रय देने का कम से कम एक गुण तो है ही । तो फिर हम कैसे कह सकते हैं कि - वह परमतत्व निर्गुण है ? अनुभव से यह बात हम निजी ढंग से कह सकते हैं। जिस तरह आप अपने

निजी अनुभव के प्रमाण पर इस दुनिया को ठोस या वास्तविक मानते हैं ठीक उसी तरह हम अपने निजी उच्चतर अनुभव के आधार पर कहते हैं कि जब उस परमतत्त्व का साक्षात् हो जाता है तब ये सारे गुण, देश और काल गायब हो जाते है, क्योकि उस परमतत्व के दृष्टिबिन्दु से इन गुणों का अस्तित्व कभी नहीं हुआ था। वे तो गुणों के दृष्टि-बिन्दु से ही उस अधिष्ठान स्वरूप परमतत्व पर निर्भर करते है। यह एक बहुत बड़ी समस्या है, जिसे हल करना होगा। यह माया की गुत्थी है । वास्तव में वह परमतत्व निर्गुण है, सब गुणों से परे है। किन्तु ये गुण अपने स्थित बिन्दु से उस परमतत्त्व पर निर्भर करते हैं। यह एक प्रमुख समस्या है, जिसके सुलझने पर ससार की अन्य गुत्थियाँ अपने आप सुलझ जाती है।'[16]

स्वामी रामतीर्थ इसका समाधान प्रत्यक्षानुभूति मे मानते है। वास्तव मे ये समस्यायें वाद-विवाद, तर्क-वितर्क, शास्त्रार्थ से हल होने की नहीं है। इसका वास्तविक समाधान तो अनुभूति में है। इसी तरह से आचार्य शंकर का भी मन्तव्य है - 'माया और जगत् के सम्बन्ध में जो नाना प्रकार के प्रश्न उठाये जाते हैं उनके सम्बन्ध में मूल समस्या यह है कि इस प्रकार के प्रश्न तो व्यावहारिक धरातल पर उठाये जाते हैं परन्तु इनका समाधान पारमार्थिक धरातल पर है। 'स्पष्ट है कि आचार्य शंकर भी जगत् सम्बन्धी नाना प्रकार के प्रश्नों का समाधान अपरोक्षानुभूति मे ही मानते हैं।

सृष्टि के सम्बन्ध मे स्वामी रामतीर्थ का मन्तव्य सार रूप में निम्नवत् स्पष्ट किया जा सकता है। सृष्टि आत्मा से भिन्न पदार्थ नहीं है, वह उसी का अंग मात्र है, वास्तव में सृष्टि तो शब्दों का खिलवाड़ मात्र है -

'वेदान्त कहता है कि - यह सब शब्दों का खेल मात्र है। शब्दों पर झगड़ने

से क्या लाभ ? वास्तव मे एक ही आत्मा है जो हम है। उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। और चूंकि आत्मा से इतर कुछ नहीं है इसलिए तुम युक्तिपूर्वक नही कह सकते कि तुम एक अश हो। इससे यह अनिवार्य निष्कर्ष निकलता है कि -तुम पूर्ण आत्मा, सम्पूर्ण आत्मा हो। सत्य के खड नहीं होते। और इसी क्षण तुम वह सत्य हो।'[17]

वेदान्त का व्यावहारिक प्रयोग

वेदान्त दर्शन का समाज और राष्ट्र के कल्याणार्थ व्यापक व्यावहारिक प्रयोग स्वामी रामतीर्थ की अनुपम दार्शनिक विशेषता है। दासता की बेडियों में सिसकती भारत माता को देखकर उनका हृदय रो पडता था। वे प्राय स्वय से प्रश्न किया करते थे - आखिर 'गीता' और 'गौतम' की यह पुण्यभूमि जहाँ 'अह ब्रह्मास्मि' और 'स्वयमेव मृगेन्द्रता' का सिंहनाद निरन्तर गुजायमान रहता है, विदेशी आक्रान्ताओं द्वारा क्यो और कैसे पददलित कर दी गयी? समस्या पर विचार करते हुए प्रसुप्त भारतीयों को जगाते हुए स्वामी जी कहते है -

हे धर्मनिष्ठ भारत-वासियों! शास्त्रों को सही प्रयोग मे लाओ। जाति-पाति की जंजीर को तोडकर अपने आपको राष्ट्रीय भावना के अधीन कर दो। व्यर्थ ही उग्र हुए भेद-भावों को त्याग दो । क्या तुम यह नहीं देखते जिस भारत ने सारे ससार को अपने यहाँ शरण दी थी वह आज अपने पुत्रों को रोटी देने में असमर्थ हो रहा है। सारे ससार को पालने वाला आज एक-एक सूखी रोटी के लिए अशक्त हो रहा है। हे भारत के नवयुवक सुधारकों! पार्टियाँ बना-बनाकर फूट का नया बीज बोने से एकता लाना अत्यन्त कठिन हो जायेगा। भारत की भौतिक अवनति धर्म अथवा निष्ठा का दोष नहीं वरन् विकसित मानसिक शक्ति शिथिल हो गयी। यदि हम भारत में विपत्ति-ग्रस्त समय में उत्पन्न हुए है तो ईश्वर को धन्यवाद दो कि हमको सेवा का अवसर मिला है। भारतवर्ष खूब सो चुका, अब यह खूब जागेगा। हमें भारती के पुत्रों में गुण ग्रहण करने का स्वभाव, परिश्रम की श्रेष्ठता उत्पन्न करनी चाहिए। .. आज भारतमाता के निमित्त घी फूंकने वाले यज्ञ की जरूरत नहीं, बलिदान यज्ञ की आवश्यकता है। भारतमाता की महान आत्मा से अपनी आत्मा को अभेद करते हुए स्वार्थ का त्याग कर दो। बुद्धि को देशहित के चिंतन के लिए अर्पण करो। सारी सम्पत्ति

को केवल राष्ट्र की धरोहर समझो। आन्तरिक एकता तथा अभिन्नता के व्यावहारिक अनुभव से राष्ट्रीय एकता सुलभ हो सकती है। हिन्दू जनता मे व्यावहारिक वेदान्त के अभाव ने भीतर के भेदों को द्वेष से भरा एक गृह बना दिया है। असख्य दलों मे तनाव है।'

सर्व साधारण की दृष्टि में देशभक्ति अथवा राष्ट्रीयता की उक्त भावना संन्यास धर्म के सर्वथा प्रतिकूल है, क्योंकि यह भी एक प्रकार की कामना है। अत· जिस संन्यासी की दृष्टि मे समस्त जगत् मृग-मरीचिका के समान है, उसका इस प्रकार के जागतिक प्रपञ्चों मे फँसना शोभनीय नहीं प्रतीत होता है।

वास्तव मे उक्त दृष्टिकोण एक खण्ड दृष्टि है। लोक संग्रहार्थ समर्पित, जीवन्मुक्त सन्यासी समस्त भौतिक कर्मो को करता हुआ भी पद्मपत्र पर अवस्थित जल बिन्दु की तरह- उससे (वासना जन्य फला काक्षा से) निर्लिप्त रहता है। उसकी आत्मा विश्वात्मा के साथ अभेदता स्थापित कर लेती है। स्वामी जी का यह सन्देश नर से नारायण की प्राप्ति का सर्वोत्तम मार्ग है - 'कोई मनुष्य सर्वरूप परमात्मा से अपनी अभेदता तब तक कदापि अनुभव नही कर सकता जब तक कि 'समग्र राष्ट्र के साथ अभेदता' यह विचार उसके शरीर के रोम-रोम मे जोश न मारता हो।' 'राष्ट्र के हित के लिए प्रयत्न करना ही देवताओं की अराधना है।'

किसी देश मे उस समय तक एकता और प्रेम नहीं हो सकता जब तक उस देश के निवासी एक-दूसरों के दोषों पर जोर देते रहेगें।'

'दरिद्र नारायण सेवामहे' के आदर्श की जीवन्त मूर्ति भूखे भारतीयों की भूख

को बर्दाश्त न कर सकी। उसने देशवासियों को जगाते हुए कहा -

ऊँचे-ऊँचे निर्मित मन्दिर, उनमें स्थापित पत्थर के विष्णु, आपके - हृदय को, पाप को शान्त नहीं करेंगें। पूजो । देश के दरिद्र नारायणों को। पूजो! परिश्रम करने वाले विष्णुओं को।'

'यज्ञ कुण्ड की अग्नि के मुख मे बहुमूल्य घी व्यर्थ नष्ट करने के बदले कम से कम सूखी रोटी के टुकड़ो को उस जठराग्नि के अर्पण क्यों नहीं कर देते जो जीवित किन्तु भूखे मरते करोड़ों नर-नारियों के हाड़-मास को खाये जा रही है।'[18]

यदि आप नई रोशनी को, जो आप ही के देश की प्राचीन रोशनी है, ग्रहण करने को तैयार नहीं - तो जाओ! पितृलोक में पूर्व पुरूषों के साथ निवास करो यहाँ ठहरने का क्या काम?

जीवन्मुक्त, वीतराग संन्यासी, मातृभूमि के दासता के दुःखों को देखकर रौद्र रूप धारण कर लेता है। प्रवासी भारतीयों को ललकारते हुए उलाहना भरे स्वर में वह कहता है -

'यदि विदेशों मे अपना निर्वाह करने के सिवा तुम अपने देश के लिए कुछ नही कर सकते तो वहीं रहो। यदि तुम भारतमाता की दुखती हुई छाती पर रेगती जोंक ही बने रहोगे तो अरब सागर मे कूद पडो।[19]

इसी तरह से देश के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक समस्त पहलुओं पर अपने

ओजस्वी भाषणों द्वारा स्वामीजी ने देश के नवयुवकों का पथ-प्रदर्शन किया। उनके जीवन का एक मात्र उद्देश्य था - अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों का व्यावहारिक प्रयोग। वे जनता को यह बता देना चाहते थे कि वेदान्तिक ज्ञान का व्यावहारिक प्रयोग करके इसी लोक में, इसी जीवन में प्रेयस और श्रेयस् की प्राप्ति की जा सकती है। वेदान्त के व्यावहारिक प्रयोग से भौतिकन्दाहन्दग्ध इस विश्व को आनद की क्रीडा भूमि मे परिणत किया जा सकता है।

स्वामी रामतीर्थ का यह अटूट राष्ट्रप्रेम कालचक्र के परिवर्तित आयामों के साथ अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम के रूप मे परिणत हो गया। इस तथ्य का एण्ड्रूज महोदय ने कुशल समीक्षक की भाति विश्लेषण किया है -

'पूर्व की ओर से स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ - इन दोनों ने अपने उन सिद्धान्तों द्वारा, जिन्हे उन्होंने व्यावहारिक वेदान्त का नाम दिया था, पश्चिम से मिलने की चेष्टा की है। उन्होंने अद्वैतवेदान्त की आधुनिक ढंग से व्याख्या करके ईसाई धर्म की सेवा और परोपकार भाव - जनित सामाजिक और राष्ट्रीय प्रयोगों के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया है।[20]

मृत्यु

आत्मा अमर्त्यधर्मा है। आत्मा जीर्ण-शीर्ण पार्थिव शरीर का उसी तरह से परित्याग कर देती है जिस तरह से व्यक्ति अपने फटे-पुराने कपड़ों का परित्याग कर नूतन वस्त्रा धारण करता है। अथवा - मृत्यु एक शाश्वत सत्य है। जिसने जन्म लिया है उसकी मृत्यु निश्चित है और मृत्यु के उपरान्त जीवन अवश्यंभावी है। इस तरह जन्म और मृत्यु का यह चक्र निरतर चलता रहता है। मृत्यु उस सरिता के समान है जिसमें जीवन सग्राम में श्रम बिन्दुओं से लथ-पथ व्यक्ति स्नान करके अपने काया रूपी पुराने वस्त्र का परित्याग कर नवीन जन्म रूपी, नवीन वस्त्र धारण करता है।

स्वामी रामतीर्थ के मतानुसार मृत्यु एक सुदीर्घ निद्रा मात्र है। जिस तरह दिन के चौबीस घंटों में व्यक्ति 5-6 घटे शयन करता है। निद्रा की समाप्ति के बाद पुन. जाग जाता है उसी तरह मृत्यु का विश्राम भोग लेने के बाद मनुष्य को पुन जीवलोक मे आना पड़ता है। पुनर्जन्म या फिर देह धारण करना ठीक ऐसा ही है, जैसे झपकी लेने के बाद हम फिर जाग उठते हैं।

मृत्यु के पश्चात् मनुष्य को तुरंत जन्म नहीं धारण करना पड़ता। व्यक्ति को जीवन और मृत्यु की एक मध्यवर्ती स्थिति से भी गुजरना पड़ता है। 'वेदान्त के अनुसार, मर जाने के पश्चात् मनुष्य तुरंत उसी क्षण पुनर्जन्म नहीं लेता। जब बीज पेड़ से गिरता है, तब उससे तुरत नया पेड़ नहीं उग आता। उसके उगने में कुछ देर लगती है। जब मनुष्य एक घर छोड़ता है, तब वह तुरंत दूसरे घर में प्रवेश नहीं करता, उसमें उसे कुछ समय लगता है इसी तरह मरने के बाद मनुष्य तुरंत दूसरी देह नहीं धारण करता। उसे एक मध्यवर्ती स्थिति

से गुजरना पड़ता है, जिसे हम मृत्यु की दशा या दीर्घ निद्रा की दशा कहते हैं।

स्वामीजी के मतानुसार जिस तरह से हम स्वप्नावस्था मे दिन भर के क्रिया कलापों, विचारों और मन:स्थितियों का पुनर्दर्शन करते हैं उसी तरह से मनुष्य अपने जीवन मे किये गये शुभ अथवा अशुभ कार्यों के अनुसार जन्म और मृत्यु की मध्यवर्ती स्थिति मे, स्वप्न लोक मे अपने पुण्यों अथवा पापों की पुनरावृत्ति देखता है। स्वामी रामतीर्थ कहते हैं - 'मृत्यु और अगले जन्म के बीच का काल, दीर्घ निद्रा का समय किस प्रकार व्यतीत होगा? वेदान्त कहता है - वह तुम्हारें स्वर्गों और नरकों में बीतेगा ये बैकुण्ठ, ये स्वर्ग और नरक क्या क्या है ? ये मृत्यु और भविष्यकालीन जन्म के बीच पड़ने वाले स्वप्नलोक हैं।'[2]

मुक्त आत्माओं (मोक्ष प्राप्त व्यक्तियों) ब्रह्मज्ञानी आत्मज्ञों को जन्म-मरण के चक्र मे नहीं फँसना पड़ता है। मुक्त पुरूष जीवन, मरण, मध्वर्ती स्थिति, जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति सब का द्रष्टा या साक्षी हो जाता है । वस्तुत आत्मस्वरूप का अज्ञान ही सारे अनर्थों की जड है। अविद्या के वशीभूत होकर व्यक्ति अपनी ब्रह्म स्वरूपता को विस्मृत कर जाता है - परिणाम - संसार-सागर मे गोते लगाना जीव का स्वभाव बन जाता है। स्वामी रामतीर्थ मनुष्य की ब्रह्मस्वरूपता का वर्णन करते हुए कहते हैं -

मै न पाप, न पुण्य
न मन्दिर, न पूजा
न तीर्थयात्रा, न ग्रन्थ
मै हूँ परम सच्चिदानद स्वरूप
मैं ही वह हूँ मै ही वह हूँ।

मुझे न परिवर्तन से परहेज

और मौत का डर,

न कभी मै पैदा हुआ,

न कोई मेरे माता-पिता।

मैं वस्तुत सच्चिदानंद स्वरूप

वही मैं हूँ, वही मैं हूँ।

न मैं दु.ख का कारण हूँ

और न मैं दु.खी हूँ।

न मेरा कोई शत्रु

और न मैं किसी का शत्रु

मैं हूँ परम सच्चिदानंद स्वरूप

मैं वही हूँ, मैं वहीं हूँ।[22]

आत्मस्वरूप का अभिज्ञान हो जाने पर अविद्या के पाश से मुक्ति मिल जाती है। जन्म-मरण का चक्र सदैव के लिए समाप्त हो जाता है। मनुष्य सांसारिक वृत्तियों से उठकर ब्रह्मरूप हो जाता है।

'संसार मेरा शरीर है, सम्पूर्ण विश्व मेरा शरीर है, जो ऐसा अनुभव करता है, वह आवागमन के बन्धन से मुक्त है। वह कहाँ जा सकता है, कहाँ से आ सकता है। कोई ऐसा स्थान नहीं, जो उससे परिपूर्ण न हो, वह तो अनन्त है। वह जायेगा कहाँ? आयेगा कहाँ से सारा विश्व-ब्रह्मांड उसी में है। वह प्रभुओं का प्रभु है। आवागमन के बंधन से सर्वथा मुक्त।'

आचार्य शंकर की तरह स्वामी रामतीर्थ भी मोक्ष को अवर्णनीय मानते हैं। आचार्य शंकर की ही तरह उसका सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के रूप में वर्णन भी करते है। आत्म स्वरूप में स्थित हो जाने पर, प्रकृति के समस्त वाह्य रूप अपनी ही सत्ता प्रतीत होने लगते है। सारी वनस्पतियाँ, पशु-पक्षी ही क्या ? प्राणिमात्र ही आत्मवत् प्रतीत होने लगता है। 'तथाकथित सभ्यों से' नामक स्वामीजी की कविता के अन्तिम पद से यह तथ्य भलीभांति सिद्ध हो जाता है -

ओ पृथ्वी! सातों सागर ओ,
तुम मेरे पुत्र-पुत्रियां हो!
ओ सभी वनस्पति! पशु-पक्षी
टूटे सब सीमा-बन्धन लो।
गाओ अजस्र स्वर से गाओ
ओ त्राहि माम्। ओ त्राहि माम् ।।

ब्रह्मानंद रूपी मदिरा का पान करके ब्रह्मज्ञानी आत्माराम हो जाता है। वह निरन्तर स्वाराज्य मे विचरण करता रहता है। ऐसी ही स्थिति का वर्णन करते हुए स्वामी रामतीर्थ कहते हैं -

न हम कभी सुरा प्रेमी थे और न हमे मदिरा का उन्माद ही है। हमने तो स्वप्न मे अपने प्यारे के अधरों का चुबन किया था, उसी स्वप्न की मस्ती की गर्मी है।[23]

मोक्ष प्राप्त करने वाला व्यक्ति सर्वत्र आत्मा के ही दर्शन करता है। आत्मा ही महाशक्ति, अमर प्रेम, सीमा-रहित, सर्वात्मा, सर्वाधार ऊपर-नीचे सभी ओर वही है -

मै महाशक्ति अब अमर प्रेम,

मुझमे असीम मे क्या अतर ?

मिल सर्वात्मा से हुआ एक

मुझमे विलीन अब स्वर्गिक स्वर !

हो ऊच, नीच,समकक्ष सभी से शान्ति भरी ममता अधीर

ऊपर नीचे मैं सभी ओर !

स्वामी राम ने हरिद्वार से श्रीमती वेलमैन को कुछ पत्र लिखे थे। एक पत्र के निम्न उद्धरण से उनकी ब्रह्मस्वरूपता का रेखाकन किया जा सकता है - 'किसी की परवाह नहीं, सब कुछ चला जाय केवल परमात्मा, मात्र परमात्मा ही सब कुछ है। अनादि शान्ति जल-बूंदो के समान बरसती है। जल वर्षा मे अमृत की वृष्टि हो रही है। राम का हृदय शान्ति से लबालब भरा हुआ है। मुझमे आनन्द का प्रवाह चारों ओर बह रहा है।

आनन्दमय राम सदा आनदमग्न है,

तुम भी प्यारी माता, शान्ति और कल्याण का स्रोत बनो।

प्रेम, आनंद, ओम्, ओम्, ओम्।

प्रेम और आशीवाद, तुम्हारे शिष्यों को,

तुम्हारे मेजबान और मेजबानी को -

(श्रीमान् और श्रीमती ज्योति स्वरूप को)'।।

स्वामी रामतीर्थ की आध्यात्मिक साधना - प्रणाली

स्वामी रामतीर्थ के जीवन मे परम्परागत समस्त साधना-प्रणालियों का मणिकाचन संयोग पाया जाता है। स्वाराज्य मे विचरण करने वाला वीतराग सन्यासी कभी कर्मयोग की साधना मे रत दिखलाई पडता है तो कभी कृष्ण की भक्तिसाधना (भक्तियोग) में लीन होकर प्रोषित पति का विरहिणी की भांति प्रकृति के प्रत्येक उपादानों मे अपने आराध्य (कृष्ण) की सावली सूरत को निहार-निहार कर आनन्दमग्न होता है। कभी राजयोग द्वारा अपनी हृद्तन्त्री के प्रत्येक झंकार पर नियन्त्रण स्थापित करता है, चित्त की चचल वृत्तियों पर अंकुश लगाता है तो कभी ब्रह्म-साधना मे लीन आत्मक्रीडस्थ, आत्मज्ञानी बन जाता है। यहा हम उनकी साधना प्रणाली के विविध प्रकारों और पहलुओं पर सक्षेप मे प्रकाश डालने का प्रयास करेगें।

कर्मयोग

श्रीमद्‌भगवत्‌गीता की भांति स्वामी रामतीर्थ का भी मन्तव्य है कि जब तक जीव की जीवनयात्रा चलती रहती है तब तक वह कर्मों से विरत नहीं हो सकता है। स्वामीजी अपने अल्पकालिक जीवन मे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ आदि विविध आश्रमों में रहते हुए उनमे निर्धारित कर्तव्यो का विधिवत् सम्पादन करते रहे। संन्यास-जीवन के अंतिम वर्षो मे भी कर्मनिष्ठा के प्रति उनका अपूर्व आग्रह ज्यों का त्यों बना रहा। स्वयं आत्मतृप्त, आत्माराम होते हुए भी जगत्-कल्याणार्थ उन्होंने चारों वेदों का नियमपूर्वक अध्ययन किया। यद्यपि इस दुरूह कार्य के लिए उनके कुछ अनन्य प्रेमियों ने उन्हें मना भी किया, पर वेदों के अध्ययन की निष्ठा मे उन्होंने रचमात्र भी शिथिलता अथवा कमी नहीं आने दी। उनका यह कार्य भी उनके कर्मयोग का अपूर्व दृष्टात है। वास्तव मे स्वामी राम ऐसे ब्रह्मनिष्ठ, अद्वैत परायण और आनदी पुरूष को इस प्रकार के अध्ययन की कोई आवश्यकता नहीं थी। पर लोक सग्रह की भावना से उन्होंने यह कार्य किया।

श्रीमद्भगवद्गीता मे कर्मयोग की शिक्षा देते हुए भगवान कृष्ण कहते है 'समस्त कर्म प्रकृति और उसकी शक्तियों के द्वारा सम्पादित कराये जाते है अत प्रत्येक व्यक्ति को अहकार-भावना से रहित होकर कर्म करना चाहिए।

अहकार-विचलित होकर कर्म करने का उपदेश देते हुए स्वामी जी कहते हैं -

शरीर मानों आपसे आप यन्त्रवत् काम करता जा रहा है और मन कर्म मे इतना लिप्त है कि - यह भाव दूर हो गया मैं काम कर रहा हूं क्षुद्र अहकार बिल्कुल लुप्त है तो यही कार्य आपको योग के चरम् शिखर पर पहुंचाता है। वेदान्त यही चाहता है कि - आप अतिशय कार्य के द्वारा अहंकार (तुच्छ अहम्) से ऊपर उठें। लड़ते-लड़ते यदि यह विचार मन मे आ गया कि 'मैं लड़ रहा हू' बस फिर आगे आप कुछ नहीं कर सकते अपने आपको - कार्य की इस सीमा तक लगा दो कि यह बोध ही न हो सके कि आप क्या कर रहे है?'[25]

परन्तु सच्ची कर्म साधना मे अहंकार - शून्यता के साथ ही अनासक्त और निर्विकार साक्षी भाव की भी आवश्यकता है। फलाकाक्षा से रहित होकर भगवदर्थ समर्पित कर्म करने से व्यक्ति पद्मपत्र पर अवस्थित जल बिन्दुओं की भांति कर्मफल से आसक्त नहीं होता। फलाकाक्षा रहित होकर कर्म करने की आवश्यकता पर जोर देते हुए स्वामी रामतीर्थ कहते है - 'फलप्राप्ति की इच्छा को त्याग कर आप काम के लिए ही काम करे। कर्म को सफल बनाना हो तो 'परिणाम क्या होगा' विचार त्याग दे। साधन और फल को एक

रूप समझें।' 26

'यदि तुमने आसक्ति का राक्षस नष्ट कर दिया तो इच्छित वस्तुये तुम्हारी पूजा करने लगेंगीं। 27

वास्तव मे स्वामी रामतीर्थ निष्काम कर्मयोगी की जीवन्त प्रतिमूर्ति थे। उन्होने गीता में प्रतिपादित निष्काम कर्मयोग को वर्तमान युग की परिस्थितियों के अनुरूप अत्यन्त व्यावहारिक रूप प्रदान किया।

राजयोग

मन में असीम शक्ति है। उसकी शक्तियां इधर-उधर बिखरी हुई प्रकाश की किरणो के समान है। जब उन्हें केन्द्रीभूत किया जाता है तब वे सब कुछ आलोकित कर देती है। परन्तु यह ज्ञान तभी हो सकता है जब शारीरिक और मानसिक वृत्तियों का दमन करते हुए अर्थात् क्रमश शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार पर विजय प्राप्त करते हुए शुद्ध आत्माया पुरूष के यथार्थ स्वरूप को पहचानें। तब हमें यह ज्ञान प्राप्त हो जायेगा कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और सुख-दु.ख के भोक्ता अहंकार - इन सबसे आत्मा पृथक है। यह आत्मा मुक्त और शाश्वत है।

आठ साधनों से युक्त राजयोग वह साधना प्रणाली है जिसके द्वारा अंत:करण को सर्वथा शुद्ध, निर्मल, निर्विकार और प्रशान्त किया जा सकता है। राजयोग आठ अगो मे

विभक्त है जो निम्नवत् है -

यम - अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (आवश्यकता से अधिक धन का संग्रह न करना)

नियम - शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर - प्रणिधान ।

आसन - बैठने की समुचित प्रणाली जिसमें शरीर सुखपूर्वक कुछ काल तक रह सके।

प्राणायाम - प्राण का सयम ।

प्रत्याहार - अर्थात् मन की विषयोन्मुखी गति को फेरकर उसे अन्तर्मुखी करना।

धारणा - किसी स्थल पर मन का धारण करना ।

ध्यान - ध्येय विषय का निरन्तर मनन ।

समाधि - अर्थात् अति चेतन अवस्था ।

स्वामी रामतीर्थ जन्मजात राजयोगी थे। राजयोग की प्रत्येक साधना के वे जीवन्त मूर्ति थे। किशोरवय रामतीर्थ बचपन से ही सन्तोषी प्रवृत्ति का था।

एक बार रामतीर्थ ने देखा कि उनके पास महीने भर के लिए केवल 3 पैसे प्रतिदिन के हिसाब से बचे हैं मन में सोचा - 'ईश्वर परीक्षा कर रहा है, मैं इतने से ही सन्तोष करूंगा।' सबेरे के भोजन पर दो पैसे और सायंकाल में भोजन पर एक पैसा व्यय करते।

कुछ दिन बाद जिस दुकानदारसे यह रोटी लेते थे उसने कहा आप दाल का तो कुछ देते ही नहीं उस दिन से बालक तीर्थराम एक समय ही खाकर रहने लगे।[28]

स्वामी रामतीर्थ वाह्य भौतिक जगत से पूर्ण पराङमुख हो चुके थे। वासना का तो अब इनके जीवन मे लेशमात्र भी स्थान नहीं रह गया था। इनके जीवन की एक घटना से इनके पूर्ण प्रत्याहारी व्यक्तित्व पर किचिंत् प्रकाश पड़ता है -

'यह स्मरणीय है कि - राम के साथ पर्यटन पर जाने के लिए इनकी पत्नी ने विशेष आग्रह किया क्निन्तु राम के लिए यह असम्भव था, फिर भी राम ने कहा यदि वह दोनों बच्चों को छोड़ दे और मा-पुत्र का पवित्र नाता जोड़ ले तो वह साथ ले जायेगा। ममतामयी पूर्ण मातृत्व त्याग, दोनों बच्चों को छोड़कर स्वयं को माता कहलवा, पति को पुत्र कह, चली।'[29]

जहां तक ध्यान का प्रश्न है स्वामी रामतीर्थ पर ब्रह्म के ध्यान मे इतना रसमग्न हो जाते थे कि वाह्य भौतिक जगत का इन्हे ध्यान भी नहीं रहता था प्रकृति के प्रत्येक उपादानों मे इन्हे अपने प्रिय कृष्ण की ही सांवली सूरत नजर आती थी। इनके जीवन की एक घटना तो देखिये -

रावी के किनारे आकाश में भूरे बादल छाये देखकर चिल्लाया करते थे - 'देखो, देखो तो अरे वही मेरा कृष्ण है, ऐ बादल! मेरे ईश्वर! मेरे कृष्ण का रंग भी तेरे सा है तूने कृष्ण को छिपा रखा है। ओ बादल! बता कृष्ण कहां हैं? ओ भगवान क्या तुम मुझे दर्शन न दोगे? बादलो को फटता हुआ देख राम रो पड़ते। ऐ बादल तुम मेरे सम्बन्धी हो।

जाओ पर कृष्ण से कहना कि राम को अवश्य मिलें। देखें उसकी आँखों में कितना पानी भरा है और कहना -

यदि लूटना हो तुझे वर्षा का मजा
ओ आ मेरी आंखों में बैठ
यहाँ काले, भूरे और लाल तरह-तरह के बादल
सदा झड़ी लगाये रहते हैं।[30]

इसी तरह से उनके जीवन के कितने ही उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते है जिससे इनके भगवत् समर्पण व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। संक्षेप में स्वामी रामतीर्थ की जीवनयात्रा एक राजयोगी की जीवन यात्रा थी।

भक्तियोग

स्वामी रामतीर्थ की भक्ति साधना सकामभक्ति से प्रारम्भ होकर निष्काम भक्ति में प्रतिष्ठित हो अंत में भक्त और भावना में तादात्म्य स्थापित कर लेती है। भक्ति भावना के उषः काल में अबोध निश्छल शिशु की भाँति स्वामी रामतीर्थ ईश्वर से छोटी-छोटी भौतिक वस्तुओं के प्राप्त्यर्थ प्रार्थना करता था। आर्त भक्त अपने कष्ट-निवारण के लिए परमात्मा को सर्व शक्तिमान समझकर उससे प्रार्थना करता है। जब स्वामी राम को विद्यार्थी - जीवन में छात्रवृत्ति नहीं प्राप्त हुई, तो वे उद्विग्न हुए। किन्तु इस उद्विग्नता में भी उन्होंने परमात्मा में अपनी आस्था अक्षुण्ण रखी। बी0ए0 परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने पर अबोध भक्त का शिशु हृदय सिसक पड़ा और उसने ईश्वर से नाना प्रकार की प्रार्थनायें की।

भक्ति भावना - सागर में भक्त जैसे-जैसे गहराई में घुसता जाता है वह भगवान के रंग में रंगता जाता है। उसकी आत्मर्पित बुद्धि भक्त और भगवान में तादात्म्य स्थापित कर लेती है। ऐसे ही प्रेमोन्मत्त भक्त की दशा का वर्णन करते हुए किसी कवि ने कहा है-

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोय,

ज्यों-ज्यों डूबे श्याम रग त्यों-त्यों उज्जवल होय।

ऐसा ही स्वामी राम के जीवन का एक दृष्टात है - राम ने कहा - 'मैने यह शरीर तेरे ही हाथों बेच दिया है। राम को चाहे मिट्टी मे मिला, चाहे फूलो पर सुला, राम को इससे क्या मतलब? उस समय राम ने यह कविता पढ़ी -

'राजी हैं हम उसी मे,

जिसमें तेरी रजा है।

यहॉ यों भी वाह वाह है,

वो भी वाह वाह है।[31]

भक्त ने तो अपना सर्वस्व प्रभुपर समर्पित कर दिया। प्रोषित पतिका की भाति नित्यप्रति - प्रियतम (कृष्ण) की राह निहारने लगा। प्रकृति के प्रत्येक उपादान मे उसे कृष्ण की ही सूरत नजर आने लगी और वह चिल्ला पड़ा - 'अरी ऑखों! यदि तुम कृष्ण के दर्शन नही कर सकती तो मुँद जाओ। ऐ हाथों! यदि भगवान के चरणो का स्पर्श न किया तो किस काम के? ऐ भगवान यदि जीवन की बलि चाहते हो तो ये प्राण भी तुम्हारे अर्पण है। ऐसे कहते ये रोये जाते, ऑसुओं से कपड़े भीग जाते तन की सुधि न रहती। जब कभी सॉप या नाग इनके सामने फन फैलाये आ जाता तो उसकी ओर लपक कर कहते 'आओ प्रभु! आओ इसी रूप मे दर्शन दो।' इतना कहते कि फिर बेसुध हो जाते इनके जो मित्र इन्हे ऐसा करते देखा करते थे इनसे कहते 'राम! तुम्हारा भगवान तो तुम्हारे भीतर है तुम बाहर क्यों ढूँढ रहे हो?'

पागल होकर कहते - 'मुझमे' कमीज फाड डाली, छाती को नोंचने लगे खून निकल आया तो फिर बेसुध।[32]

स्वामी राम की इस विरहानुभूति मे गोपियों का, चैतन्य देव का, राम कृष्ण परमहस का भगवद् - विषयक् प्रेम मूर्तिमान हो गया। तपोवन मे ईष्टदेव के दर्शन के अन्न्तर स्वामी राम के दृष्टिकोण मे अद्भुत परिवर्तन हो गया। उनकी दृष्टि सर्वत्र इष्टदेव के दर्शन मे तन्मय हो गयी। जब राम ईश्वर की चर्चा करते तब इनका शरीर वैसे ही कॉंपता जैसे गायक की उँगलियों से सितार के तार झनझनाते है। यदि रूपक में राम का चित्र खींचा जाय तो घाव की यन्त्रणा ये फडफडाते हंस का चित्र बनाना होगा। प्रेमानन्द मे विभोर ये अपने नेत्र मूँद लेते और कहते -

प्रेम सागर की वर्षा करके
मै ससार को आनद से नहला दूँगा
जो विरोध करे उसका भी स्वागत
उसे गले लगा लूँगा
सभी सभाये, समाज मेरे है,
मैं सबका स्वागत करता हूँ।
मै प्रेम बाद् और प्रतिमा के सिवा कुछ भी नहीं।
मैं सबको समान प्रेम करता हूँ।[33]

कहना न होगा कि स्वामी राम ने अति अर्थार्थी और जिज्ञासु भक्त की श्रेणियों का अतिक्रमण करके शीघ्र ही ज्ञानी भक्त की कोटि प्राप्त कर ली। पराभक्ति की प्रत्यक्षानुभूति स्वामी राम की वाणी मे इस प्रकार अभिव्यक्त हुई -

'हे प्रभु! अब तो मुझसे दो-दो बातें नहीं निभ सकती। खाने-पीने, कपडे, कुटिया का भी ख्याल रखूँ और दुलारे का भी मुख देखूँ। चूल्हे मे कपड़े पहनना, खाना, जीना, मरना। क्या इनसे मेरा निर्वाह होता है? मेरी तो मधु करी हो तो तुम, कमली हो तो तुम, कुटी हो तो तुम, औषधि हो तो तुम शरीर हो तो तुम, आत्मा हो तो तुम। शरीरादि को रखना चाहते हो तो पडे रहने दो।[34]

इस प्रकार स्वामी राम भक्ति का आश्रय ग्रहण कर ब्रह्म ज्ञान की उच्च भूमिका मे प्रतिष्ठित हो गये। वह अहभावना, ममता - मोह से पराडमुख होकर त्याग, प्रेम, लोक कल्याण भाव से समन्वित होकर निर्मल, पवित्र शीतल गगा के समान प्रवाहित होने लगी।

ज्ञानयोग

'जो पिण्ड में है वही ब्रह्माड में है इस प्रकार की ब्रह्मात्मैक्य अनुभूति की ज्ञान की संज्ञा दी जाती है। अनादि अविद्या के वशीभूत होकर व्यक्ति आत्म स्वरूप को विस्मृत कर जाता है और उसे ब्रह्म के स्थान पर चाक्चिक्यपूर्ण जगत् ही एकमात्र सत्य प्रतीत होने लगता है। अविद्यारूपी बादल के हट जाने पर आत्मा रूपी सूर्य का प्रकाश सर्वत्र प्रसारित हो जाता है। ऐसी स्थिति में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी का सर्वथा विलय हो जाता है। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए जिन प्रक्रियाओं का सहारा लिया जाता है उसे ज्ञानयोग कहते है।

अद्वैत वेदान्त में आत्म-साक्षात्कार हेतु चार साधन बतलाये गये हैं जिसे 'साधन

चतुष्टय' की सज्ञा दी जाती है। साधन-चतुष्टय की सिद्धि के उपरान्त श्रवण, मनन, निदिध्यासन की प्रक्रियाओं से गुजरने के बाद साधक को अह ब्रह्मास्मि की अनुभूति होने लगती है। साधन-चतुष्टय निम्नलिखित है -

नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थभोग विराग,

शमदमादिसाधनसपत्, मुमुक्षत्व ।

'आदौ नित्यानित्यवस्तुविवेक· परिगण्यते

इहामुत्रफलभोगविरागस्तदनन्तरम्।

शमादिषट्कसम्पत्तिर्मुमुक्षत्वमिति स्फुटम्।।[35]

कहना न होगा कि स्वामी रामतीर्थ ने अपना सर्वस्व आत्म साक्षात्कार हेतु न्यौछावर कर दिया था। स्वामी रामतीर्थ में बचपन से ही एक मुमुक्ष के सारे गुण विद्यमान थे। मन की चचल वृत्तियों पर तो उसने किशोर वय से ही नियन्त्रण स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया था - 'राम का मन एक बार बिगड़ गया। लाहौर मे वह अपने कोठे पर चढा था। वहाँ उसने किसी स्त्री को नग्न देखा, जिससे उसका मन बिगडा, मगर मन की इस अवस्था को देखकर वह तत्काल छाती कूटने और रोने लगा। और उस दिन से वह इस बात का पक्का इरादा कर लिया कि या तो हम मरेगें या मन को मारेगें।'

स्वामी रामतीर्थ जन्मजात तितिक्षु थे । एक स्थान पर वे स्वयं इस प्रकार लिखते है -

'देवदार और चीड़ के वृक्षों के नीचे आराम से लेटा हूँ, एक शीतल पत्थर तकिये का काम कर रहा है। कोमल रेत ही मेरा बिस्तर है। एक टाँग को दूसरी

टाँग पर रखे मौज से ताजी वायु की चुस्कियाँ ले रहा हूँ।'[36]

स्वामी जी ने ससार के विषयो और भोगो को अनित्य, क्षणभगुर और बन्धन का हेतु भलीभाति हृदयगम कर लिया था, इससे उनमे उच्चकोटि की मुमुक्ष-वृत्ति जाग्रत हुई थी। आत्म-साक्षात्कार हेतु वे दिन-रात छटपटाते रहते थे। आत्मस्वरूप की प्राप्ति हेतु वे रात-रात रोते रहते थे। सबेरे उनका विस्तर आँसुओं से तर-बतर पाया जाता था।

अद्वैत वेदान्त मे आत्म साक्षात्कार के जो छ साधन बतलाये गये है लगता है स्वामी जी मे वे सारे गुण प्रकृतिज्ञ थे। उनके विद्यार्थी जीवन की एक घटना से उनके 'श्रवण, मनन, निदिध्यासन' पर प्रकाश पडता है - उनका कथा - श्रवण के प्रति अनुराग बचपन से ही बना रहा। एक बार राम ने अपने अध्यापक से कथा सुनने की आज्ञा माँगी, परन्तु उन्होंने साफ इन्कार कर दिया। इस पर राम अत्यन्त दु:खी हुए और उनके नेत्रों मे जल भर आया। उन्होंने आर्द्र होकर कहा', साहब, मुझे कथा मे जाने की आज्ञा दीजिए मैं एक घन्टे वाले अवकाश मे पाठशाला का सारा कार्य पूरा कर लिया करूँगा।' उनकी इस निष्ठा से अध्यापक महोदय द्रवीभूत होकर कथा-श्रवण हेतु जाने की आज्ञा दे दी।

निदिध्यासन के सम्बन्ध मे स्वय स्वामी जी कहते है - 'अकेले कर्मों से मुक्ति नहीं मिलती। ईसा मसीह मे विश्वास करके भी मुक्ति नहीं प्राप्त की जा सकती। पहले अपनी आत्मा को समझना होगा और उसी क्षण तुम मुक्त हो।'[37]

अब हम स्वामी रामतीर्थ की योग साधना पर एक दूसरे पहलू से भी विचार करने का प्रयास करेंगे। 'योगवासिष्ठ' आदि अद्वैत ग्रन्थों मे ब्रह्म ज्ञान की सात भूमिकाये

मानी गयी है। योग वासिष्ठ के निर्वाण प्रकरण के एक सौ ग्यारहवे सर्ग से लेकर एक सौ छब्बीसवे सर्ग मे अर्थात् सोलह सर्गों मे इन सातों भूमिकाओ का विशद वर्णन किया गया है। वे सात भूमिकाये इस प्रकार है -

1 शुभेच्छा, 2 सुविचारणा, 3 तन्मनसा, 4 सत्वमवाप्ति,
5 असग भावना, 6 पदार्था-भावनी, 7 तुरीष

ब्रह्मज्ञान प्राप्ति की ये सातों भूमिकाये सात सोपान है जिन पर क्रमश अवस्थित होकर व्यक्ति अत मे मोक्ष की प्राप्ति करता है।

कहना न होगा कि आत्मा—राम, आत्मकीडस्थ स्वामी रामतीर्थ उपरोक्त समस्त सोपानो को पार कर अत मे मुक्ति-लाभ किये।

यहाँ पर एक स्वाभाविक प्रश्न यह पैदा होता है कि स्वामी रामतीर्थ एक आत्मस्थ, वीतराग संन्यासी थे। उनके द्वारा साधित उपरोक्त किसी भी साधना पद्धति से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती थी। ऐसी स्थिति मे वे कौन से कारण थे, जिसके कारण स्वामी जी को उपरोक्त समस्त साधना-पद्धतियो को स्वजीवन मे अगीकार करना पडा? क्या उन्हें किसी एक साधन मे अटूट विश्वास नहीं था और इनका भ्रान्त मन परम्परागत सभी साधनों की परीक्षा कर लेना चाहता था? अथवा उन्होंने समस्त साधनाओ को अपने जीवन मे सिद्ध करके लौकिक पाप-ताप-सतप्त मानवता को उनमे से किसी भी रास्ते को अगीकार करने के लिए उदाहरण प्रस्तुत किया है?

स्वामी रामतीर्थ जैसे आत्मस्थ योगी के लिए भ्रान्त मानसिकता का आरोप लगाना

मूर्खता होगी। हमे ऐसा प्रतीत होता है कि उपरोक्त समस्त साधनों का अपने जीवन मे प्रयोग कर जहाॅ स्वामीजी ने साधनों के प्रतीत होने वाले आत्यन्तिक वैर-भाव को दूर करने का प्रयास किया वहीं अपनी अटूट साधना-शक्ति के माध्यम से ससारी जीव को किसी भी साधना प्रणाली को अपनाकर मोक्ष-प्राप्ति हेतु सम्प्रेरित भी किया है। जिस प्रकार विविध दिशाओं से प्रवाहमान नदियाॅ अपने पार्थिव नाम-रूप का परित्याग कर महोदधि में मिलकर एकमेक हो जाती हैं। सागर-सरिता का पृथक्त्व पर्यवसित हो जाता है, उसी तरह से स्वामी रामतीर्थ रूपी अजस्र अत सलिला विविध नामरूप (कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग, ज्ञानयोग) से निस्पदित होते हुए अपनी रस माधुरी से इस धराधाम को आप्लावित करती हुई अंत मे ब्रह्मात्मैक्य की सप्राप्ति कर अपने पार्थिव नामरूप का विलय कर लेती है। महातत्व से मिलते ही समस्त साधन एक दूसरे के पूरक प्रतीत होने लगते है। उनका पृथक्त्व-भाव विनष्ट हो जाता है। परन्तु जैसे सागर की अपार जलराशि से महामिलन के पूर्व नदियों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व तो होता ही है और जन मानस मे उन्हे पृथक्-पृथक् रूप से जाना भी जाता है। उसी तरह से स्वामी रामतीर्थ रूपी सरिता विविध धाराओं (राजयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग) के साथ लोक सग्रहार्थ यद्यपि शाश्वत् रूप से प्रवाहमान है लौकिक-दाह-दग्ध मुमुक्ष किसी भी भावधारा मे स्नान कर ब्रह्मानंद की रसानुभूति कर सकता है।

तथापि शोधार्थी की दृष्टि मे उनकी ज्ञानगंगा (ज्ञानयोग), . सकलकल्मषविनाशिनी - गगा की भांति अपेक्षाकृत अधिक अभिनन्दनीय और समादरणीय है। जैसा कि डा0 जयराम मिश्र का भी अभिमत है - 'स्वामी राम की आध्यात्मिक साधना-प्रणाली में हमें अनेक रूपता और सर्वाडगीणता के दर्शन होते हैं। एक ओर वे हमे निष्काम कर्मयोगी के रूप में दिखलाई पडते है, तो दूसरी ओर परम अनन्य भक्त के रूप मे। तीसरी ओर वे महान राजयोगी के रूप मे भासते है, तो चौथी ओर उच्च कोटि के ब्रह्म ज्ञानी के रूप मे। पर हमारी राय मे

उनकी समस्त साधनाओं का पर्यवसान ब्रह्मज्ञान मे हुआ था। कारण यह है कि स्वामी राम चाहे कर्म भक्ति, अथवा किसी भी विषय का प्रतिपादन करते रहे हो, उनका आत्मा-विषयक् भाव सबसे अधिक प्रबल रूप मे दृष्टिगोचर होता है।[38]

स्वामी रामतीर्थ और प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के दार्शनिक विचारों की तुलना

स्वामी रामतीर्थ और प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य एक ही पथ के पथिक है। दोनों दार्शनिकों की दार्शनिक साधना का लक्ष्य परमतत्व की प्राप्ति करना है। लक्ष्य की समानता होते हुए भी दोनों दार्शनिकों की दार्शनिक अनुभूतियों एवं विचारों में कतिपय साम्यता और वैषम्यता दृष्टिगत होती है जो अधः पंक्तित है -

प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य एक अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के दार्शनिक हैं। तत्त्वमीमासीय रहस्यात्मक अनुभूतियों का कम से कम शब्दों मे वर्णन करना उनकी प्रमुख दार्शनिक विशेषता है। साथ ही उनके अनुसार दर्शन और विज्ञान, ज्ञान के दो परस्पर विरोधी घ्रुवों का प्रतिनिधित्व करते है। दोनों का प्रतिपाद्य पृथक्-पृथक् है। जबकि स्वामी रामतीर्थ एक मुखर उपदेशक और दार्शनिक हैं। आपने तत्त्वमीमांसीय रहस्यात्मक अनुभूतियों का अप्रतिम काव्यात्मक चित्रण किया है। प्रिय-विरह-व्यथित आत्मा रूपी विरहिणी को प्रकृति के प्रत्येक उपादानो मे अपने प्रियतम (कृष्ण) की सूरत नजर आती है। कभी काले सर्प को देखकर वह उससे लिपटना चाहती है तो कभी आकाश में उमड़ते हुए काले-काले बादलों को देखकर उसे अपने सॉवले की सूरत (स्मृति बनकर) सताने लगती है। स्वामी रामतीर्थ की इन अनुभूतियों की तुलना कबीरदास, सुन्दर दास, पलटू साहब, गुलाल साहब, गरीबदास, मीराबाई, सूफी सन्त मलिक मुहम्मद जायसी आदि की रहस्यात्मक अनुभूतियों से की जा सकती है। जहाँ प्रो0 कृष्ण चन्द्र भट्टाचार्य ने दर्शन और विज्ञान को ज्ञान के दो परस्पर विरोधी घ्रुव के रूप में समझा है वहीं स्वामी रामतीर्थ के दर्शन मे ऐसा कोई स्पष्ट विभाजन अप्राप्त है ।

तत्वमीमासा पर अत्यधिक जोर देने के कारण जहा प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के दर्शन पर एकांगिकता का आरोप लगाया जाता है वहीं स्वामी रामतीर्थ का दर्शन अपेक्षाकृत बहुआयामी प्रकृति का है। वेदान्त दर्शन का व्यावहारिक प्रयोग उनके दर्शन की अनूठी विशेषता है। स्वाराज्य मे विचरण करने वाला वीतराग संन्यासी एक तरफ जहां भारत की परतन्त्रता और भुखमरी से व्यथित दिखलाई पड़ता है वहीं दूसरी तरफ वेदान्त दर्शन के व्यावहारिक प्रयोग द्वारा विश्व के योगक्षेम का भी पथ प्रशस्त करना चाहता है। उसका विचार है कि वेदान्त दर्शन का ही प्रयोग करके पाश्चात्य जगत् ने भौतिक जीवन में इतनी अधिक प्रगति कर ली है।

प्रो0 भट्टाचार्य का अभिमत है कि आत्मा विविध प्रकार के स्तरों को पार करते हुए जब वाह्य जगत् (वस्तु जगत्) से पूर्णतया सम्बन्ध विच्छेद कर लेती है तभी उसे पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है। किन साधनों को अपनाकर अथवा किस पथ पर चलकर आत्म स्वातन्त्र्य प्राप्त किया जा सकता है? इसकी कोई चर्चा भट्टाचार्य के दर्शन मे नहीं मिलती है। साधनों के अभाव मे मुमुक्ष के लिए आत्मस्वातन्त्र्य का विचार केवल एक सुखद आदर्शात्मक कल्पना ही प्रतीत होती है जबकि स्वामी रामतीर्थ ने आत्म स्वातन्त्र्य प्राप्ति हेतु अपने पूर्ववर्ती दर्शन-सम्प्रदायों (उपनिषद श्रीमद् भगवद्गीता, शाकर वेदान्त) द्वारा प्रतिपादित समस्त साधना पद्वतियों (कर्मयोग, राजयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग) को अंगीकार करते हुए यह चरितार्थ किया है कि इनमे से किसी भी पद्वति को अपनाकर कोई भी ससारी जीव आत्म-स्वातन्त्र्य की प्राप्ति कर सकता है।

आचार्य शंकर का विचार है कि जब तक जीव सांसारिक माया-मोह रूपी पाश मे आबद्ध है तब तक उसे ब्रह्म साक्षात्कार (आत्म ज्ञान) नहीं हो सकता है। आत्म

ज्ञान प्राप्त करते ही जागतिक प्रपञ्च का बाध हो जाता है और पूर्ण अद्वैत की अनुभूति होने लगती है। प्रो0 भट्टाचार्य, उक्त शाकर मत से सहमति रखते हुए कहते है कि - अर्थ चेतना मे द्वैत का बोध रहता है जबकि अन्तर्तम की चेतना मे द्वैत का बोध नहीं रहता है। प्रो0 भट्टाचार्य की इस दार्शनिक मान्यता को स्वामी रामतीर्थ ने न केवल वैचारिक स्वीकृति ही प्रदान किया है बल्कि उनका वैयक्तिक जीवन इस तथ्य का जीवन्त उदाहरण है। गृहस्थ आश्रम मे रहते हुए जहाँ स्वामी रामतीर्थ अपने परिवार के, अपने गुरू शिष्य के, भौतिक सुखों-दु खों से प्रभावित दिखलाई पड़ते है। आत्मज्ञान प्राप्त करते ही उसी गृहस्थ रामतीर्थ की आत्मा, विश्वात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती है। फिर उसका प्रत्येक कार्य 'सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया' का जीवन्त उदाहरण बन जाता है। वह स्वय कहता है - 'अपने परिवार की वृद्धि के लिए ही मैने घर की दीवार तोड़ी है, मैंने अब सारे संसार को परिवार बना लिया है' स्वामी रामतीर्थ के अनुसार आत्मा 'अपरोक्षानुभूति' का विषय है। प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य भी स्वामी जी के इस मत से सहमति प्रकट करते हुए कहते हैं 'आत्मा तर्क-ज्ञान का विषय नहीं है। उसे अपरोक्षानुभूति के द्वारा जाना जा सकता है।

आचार्य शंकर की भांति स्वामी रामतीर्थ ने भी मोक्षप्राप्ति हेतु अधिकारी शिष्य की कल्पना की है। साधन-चतुष्टय की सिद्धि के अनन्तर श्रवण, मनन, निदिध्यासन की साधना पूरी कर लेने के बाद ही मुमुक्ष को अहं ब्रह्मास्मि की चेतना हो सकती है इसके पूर्व नहीं। परन्तु प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के दर्शन में ऐसे अधिकारी शिष्य की कल्पना का कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं होता है। उन्होंने अपने दर्शन मे विशेषकर आत्मा, आत्मा के विविध स्तर, और उसकी अनुभूतियों के पक्षपर ही बल दिया है। आचार्य शंकर और स्वामी राम तीर्थ के दर्शन मे जहा 'संन्यास' का अनुपम वर्णन मिलता है वहीं प्रो0 भट्टाचार्य के दर्शन मे 'संन्यास' का सुस्पष्ट वर्णन कहीं नहीं मिलता है।

सन्दर्भ सूची

1 श्री सिंह रणधीर, जीवन स्वामी रामतीर्थ पृष्ठ 113-114 प्रकाशक - रणधीर प्रकाशन हरिद्वार 1994

2 वही, पृष्ठ 19-20

3 मिश्र जयराम - स्वामी रामतीर्थ - जीवन और दर्शन पृष्ठ 291, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1995

4 वृहदारण्यक् उपनिषद् - 4 5.6

5 सूक्तियाँ उपदेश और सन्देश - स्वामी रामतीर्थ सकलनकर्ता - रणधीर सिह पृष्ठ 48, आर0बी0एस0 प्रकाशन, हरिद्वार (उ0प्र0) ।

6 मिश्र डॉ0 जयराम - स्वामी रामतीर्थ - जीवन और दर्शन पृष्ठ 292 लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1995

7 सूक्तियाँ, उपदेश और सन्देश - स्वामी रामतीर्थ पृष्ठ 59

8 मिश्र, डॉ0 जयराम - स्वामी रामतीर्थ - जीवन और दर्शन पृष्ठ 66 लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1995

9 वही, पृष्ठ 104

10 वृहदारण्यक उपनिषद् 3 8 6

11 मिश्र, डॉ0 जयराम - स्वामी रामतीर्थ - जीवन और दर्शन पृष्ठ 296, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।

12 वही, पृष्ठ 298

13 वही, पृष्ठ 235

14 वही, पृष्ठ 304

15 सूक्तियाँ, उपदेश और सन्देश - स्वामी रामतीर्थ पृष्ठ 35

16 मिश्र, डॉ0 जयराम - स्वामी रामतीर्थ - जीवन और दर्शन पृष्ठ 294, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।

17 वही, पृष्ठ 295

18 सूक्तियाँ, उपदेश और सन्देश - स्वामी रामतीर्थ, पृष्ठ - 16

19 वही, पृष्ठ - 20

20 डॉ0 मिश्र जयराम - स्वामी रामतीर्थ जीवन और दर्शन से उद्धृत पृष्ठ 267

21 वही, पृष्ठ 305

22 सिह रणधीर-जीवन-स्वामी रामतीर्थ पृष्ठ 120 आर0बी0एस0 प्रकाशन, हरिद्वार (उ0प्र0) ।

23 सूक्तियाँ, उपदेश और सन्देश - स्वामी रामतीर्थ पृष्ठ 48, आर0बी0एस0 प्रकाशन, हरिद्वार, उ0प्र0 ।

24 डॉ0 मिश्र जयराम - जीवन और दर्शन, स्वामी रामतीर्थ पृष्ठ 272, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।

25 सूक्तियाँ, उपदेश और सन्देश (स्वामी रामतीर्थ) आर0बी0एस0 प्रकाशन, हरिद्वार, उ0प्र0, पृष्ठ 80

26 वही, पृष्ठ 8।

27 वही, पृष्ठ 39

28 जीवन स्वामी रामतीर्थ - आर0बी0एस0 प्रकाशन, हरिद्वार, उ0प्र0 ।

29 वही, पृष्ठ 3।

30 वही, पृष्ठ 19-20

31 वही, पृष्ठ 13

32 वही, पृष्ठ 2।

33 वही, पृष्ठ 35-36

34 डा0 मिश्र, जयराम - स्वामी रामतीर्थ, जीवन और दर्शन पृष्ठ 343, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।

35 विवेक चूडामणि पृष्ठ 5, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

36 जीवन - स्वामी रामतीर्थ पृष्ठ 49, आर0बी0एस0 प्रकाशन, हरिद्वार (उ0प्र0)

37 सूक्तियाँ, उपदेश और सन्देश - स्वामी रामतीर्थ, पृष्ठ 45, आर0बी0एस0 प्रकाशन, हरिद्वार (उ0प्र0) ।

38 डा0 मिश्र, जयराम-स्वामी रामतीर्थ, जीवन और दर्शन पृष्ठ 349, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।

पंचम अध्याय

श्री अरविन्द

(1872 - 1950)

श्री अरविन्द के दार्शनिक विचार

श्री अरविन्द का सम्पूर्ण दर्शन इस मूलभूत अवधारणा पर आधारित है कि जड़तत्व और और अध्यात्मतत्व दोनों सत्य हैं। इसलिए दर्शन का कार्य भौतिक तत्व या आत्मतत्व की उपेक्षा करने से नही होगा । इसी कारण श्री अरविन्द घोषित करते हैं कि इस "पृथ्वी पर दिव्य जीवन के आविर्भाव के लिए तथा मर्त्यलोक मे अमृतत्व की भावना के लिए तब तक कोई आधार नही हो सकता जबतक कि हम केवल इतना ही मानते रहे कि इस देह–प्रासाद मे वास करने वाला, इस नश्वर वस्त्र को धारण करने वाला, अविनाशी परमात्मा है।हमे यह भी मानना होगा कि जिस भौतिक तत्व से यह निर्मित है कि यह एक ऐसा श्रेष्ठ और उपयुक्त पदार्थ है जिसमे से वह निरन्तर अपने वसन बुनता रहता है, पनु पुन अपने महल बनाता रहता है।[1]

वस्तुत. एक ही सत् के जड़ और आत्म भिन्न–2 पक्ष हैं।श्री अरविन्द के दर्शन मे सत् का एक ऐसा व्यापक तथा पूर्णतया समन्वित विचार उभरता है जिसमे भौतिक और आध्यात्मिक, दोनो को समुचित स्थान प्राप्त है। सत् की प्राप्ति भौतिक जगत् या भोतिक तत्व के निषेध से सभव नही है बल्कि आवश्यकता है उसके आध्यात्मिक उन्नयन की।

जड़तत्व किस तरह आत्मस्वरूप का उन्नयन करते हुए परमचेतनकी अवस्था को प्राप्त कर लेता है यह जानने के लिए श्री अरविन्द के परम सत् – सच्चिदानंद की अवधारणा का सम्यक् विश्लेषण अनिवार्य है।

सच्चिदानंद –

शकराचार्य की भाँति श्री अरविन्द ब्रह्म या परमसत्ता का भावात्मक वर्णन करते हुए

उसे सच्चिदानद की सज्ञा देते है। सच्चिदानद के अन्तर्गत तीन पहलू हैं– सत्+चित्+आनंद। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि परम सत् तीन विभिन्न तत्वों का एक यौगिक है। वस्तुत ये तीनो पहलू सयुक्त है। जो सत् है वह चित् है और जोचित् है वह आनन्द भी। तथापि सच्चिदानद के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए इनका पृथक–पृथक विवेचन अपेक्षित है–

(1) <u>सत्</u>–

इस दृश्यमान जगत मे हमें सर्वत्र गति ही गति दृष्टिगोचर होती है। इन नाना प्रकार की गतियो का कोई न कोई आधार अवश्य होना चाहिए (कोई एक सत्ता अवश्य होनी चाहिए) जो गतिमान जगत का आधार बन सके। गति के इस कारण–कार्य श्रृंखला मे आगे बढ़ते हुए अन्तत:अनवस्था दोष में बचनेके लिए किसी मूल सत्ता को स्वीकार करना पडता है जो गतिमान जगत का मूल कारण है, और इसका कोई कारण नही है और यही सत्ता 'सत्' है।

शकराचार्य और स्पिनोजा का मन्तव्य है–परमसत् का कोई भी वर्णन वास्तविक वर्णन नही हो सकता है। बुद्धि का कोई भी निर्वचन यथेष्ट नही हो सकता क्योकि बुद्धि की कोटियाँ परमसत् को सीमित कर देती हैं। इसीलिए परमसत् अनिर्वचनीय है। श्री अरविन्द भी शंकराचार्य के इस मत से पूर्णतया सहमत हैं। तभी तो वे कहते है 'शुद्ध सत्' का (फलत. सच्चिदानंद का भी) पूर्ण विवरण दिया ही नहीं जा सकता। हमारे विवरण के ढंग वैचारिक कोटियाँ है जो "मानस" के रूप हैं और मानस निम्नतर गोलार्द्ध (मानस, मन, प्राण, जड़त्व) की अन्तिम अवस्था है जो उच्चतर गोलार्द्ध (शुद्ध सत्, चित् शक्ति आनन्द, अतिमानस) का पूर्ण विवरण देने मे असमर्थ है। इसी कारण यह विवरण वैचारिक विवरण है – जो पूर्णतया हो ही नहीं सकता।

<u>चित् शक्ति</u> –

ब्रह्म मात्र शुद्ध सत्ता नही है बल्कि वह चित्–शक्ति भी है। विश्व की सृष्टि इसी शक्ति के कारण हुई है। यह शक्ति शुद्ध सत् में अन्तर्व्याप्त है। शक्ति को शुद्ध सत् से पृथक नही किया जा सकता। सत्ता और शक्ति में कोई विरोध नही है। शक्ति सत्ता में समाहित है।[2] शिव और काली, ब्रह्म और शक्ति एक है, दो सत्तायें नहीं है। श्री अरविन्द ने इस चित् शक्ति को "माता" की सज्ञा दी है। इसके स्वरूप का वर्णन करते हुए श्री अरविन्द कहते है "माता दिव्य शक्ति है, जो ससार का क्रियात्मक सिद्धान्त है। परन्तु जब तक वह अपरार्द्ध जगत् (निम्नतर जगत्) मे कार्य करती है तब तक अपनी योगमाया के पर्दे मे रहती है। जगत् में जो कुछ होता है उस सब मे, सब कार्यों के पीछे भगवान अपनी शक्ति के द्वारा स्थित रहते हैं, किन्तु वे अपनी योगमाया से ढके रहते है और इस अपराप्रकृति में जीव के अहकार द्वारा कार्य करते हैं। मातृ–सत्ता के तीन रूप है– परात्पर, वैश्य और व्यष्टि। वे परात्पर आद्या परमशक्ति के रूप मे सभी लोकों के ऊपर खडी रहकर परमपुरूष के नित्य अव्यक्त रहस्य के साथ सृष्टि का नाता जोडती है। वैश्व, सम्पूर्ण ब्रहमाड मे ओत–प्रोत महाशक्ति के रूप मे वे इन सभी सत्ताओ को रचती है। इन सब अगणित प्रक्रियाओ और शक्तियो को धारण करती है और उनमे समाई रहती है, वे ही आधार बनती है और उनका सचालन करती है। व्यक्तिगत (व्यष्टिगत) रूप मे वे अपनी सत्ता के इन दोनों अधिक विशाल रूपो की शक्ति को मूर्त रूप देती है, उन्हे जीवन देती है और हमारे निकट लाती है। वे मानव–व्यक्तित्व और दिव्य प्रकृति के मध्य की कड़ी बनती है। . माता ही सब कुछ है क्योंकि सभी चीजे दिव्य चित् शक्ति के अंश और भाग है। माता जिस बात का निश्चय करती है और जिसके लिए परम पुरूष स्वीकृति देते है उसके अतिरिक्त यहाँ या अन्यत्र कुछ भी नही हो सकता। परम पुरूष की प्रेरणा से माता अपने सर्जनशील आनन्द में क्षीण रूप प्रदान करके जिन चीजो को देखती और

आकार देती है। उसके अतिरिक्त और कोई चीज रूप धारण नही कर सकती।[3]

यहाँ पर श्री अरविन्द का जड़वादियों से मतभेद स्पष्ट है। जड़वादियों ने चेतना को भौतिक तत्व की उपज माना है। श्री अरविन्द का विचार है कि भौतिक पदार्थ वास्तविक अर्थ में भौतिक नही है बल्कि चित् शक्ति की उपज है। चेतना मात्र जीव मे ही नही बल्कि भौतिक पदार्थ मे भी है। अन्तर यह है कि भौतिक पदार्थ मे छिपे रूप में वर्तमान रहती है, जीव में प्रकाशित रूप मे रहता है।

श्री अरविन्द इस स्थल पर पाश्चात्य दार्शनिक लाइब्नीज के समर्थक प्रतीत होते है। लाइब्नीज का विचार है, 'जड़' नामक कोई वस्तु नही है। जिसको जड़ समझते है वह गुप्त या सुषुप्त चैतन्य है। है वह चैतन्य ही, किन्तु प्रकट नहीं है, सोया हुआ है, खोया हुआ सा है।[4]

आनन्द–

श्री अरविन्द परमसत् को सत्–चित् के साथ–साथ आनन्द स्वरूप भी मानते हैं। उनका मन्तव्य है कि निरपेक्ष सत् का आनंद असीम है। इसकी अभिव्यक्ति के अनंत रूप हो सकते हैं। जो भी 'है' जो क्रियायें होती है उन सबों में आनन्द का रूप विद्यमान है।यहाँ पर एक प्रश्न यह पैदा होता है कि यदि ब्रहम पूर्ण और निरपेक्ष है तो उसे अपने को विभिन्न रूपों में, सृष्टि मे व्यक्त करने की आवश्यकता ही क्या है? ऐसी क्या विवशता आ जाती है कि उसमें निहित शक्तियो को व्यक्त होना ही पड़ता है। सृष्टि का उद्‌भव ब्रह्म के आनद या आह्लाद के कारण होता है। विश्व सत्ता शिव का आनंदातिरेक नृत्य है। . . . इसका एक मात्र उद्‌देश्य है, नृत्य का आनद।

ब्रहम की निरपेक्षता का अर्थ है – चित् सत्ता का असीम आनद। सच्चिदानंद का आनद किसी भी स्थिति मे अपनी परमआत्म सत्ता के स्थिर और गतिहीन आधिपत्य में नही होता। जिस प्रकार इसकी चित् शक्ति अपने आपको असख्य रूपों के जगत मे प्रक्षिप्त करती है उसी प्रकार इसका आत्मानद अपने आपको असीम विविधताओ से पूर्ण जगत मे प्रकट करता है। अपने आत्मानंद की इस असीम गति और विभेद का योग ही इसका सर्जनात्मक चित् शक्ति की क्रीड़ा का उद्देश्य है।[5]

सृष्टि का स्वरूप–विश्वप्रक्रिया–

परमसत् की आहलाद पूर्ण अभिव्यक्ति ही सृष्टि है। एक ओर तो यह परात्म का जगत् के रूपों में अवतरण है तथा दूसरी ओर यह जगत के रूपों का उच्चतर रूपो मे आरोहण है। इस प्रकार सृष्टि–अवतरण तथा उत्थान की प्रक्रिया है। इस उत्थान–प्रक्रिया को श्री अरविन्द विकास प्रक्रिया की सज्ञा देते है। इस प्रकार जहाँ शंकर जगत् को मिथ्या या भ्रम कहते है वहाँ अरविन्द जगत् को सत् मानते हुए कण–कण मे परमचेतना के अस्तित्व को स्वीकृति प्रदान करते हैं। प्रकृति या जगत् के क्षुद्र कण मे भी चेतना का प्रकाश पाया जाता है भले ही यह प्रकाश सुषुप्तावस्था मे क्यों न हो। वास्तव मे विकास और कुछ नही चेतना की शक्ति का अभिव्यक्त सत्ता मे ऊर्ध्वगमन है, जिससे अभिव्यक्त सत्ता जो अब तक अनभिव्यक्त है, उसमे (अनभिव्यक्त सत्ता में) एक महत्तर तीव्रता के साथ ऊपर उठ सके अर्थात् जड़तत्व से जीवन में, जीवन से मन में, मन से आत्मा में अभिव्यक्त हो सके।[6]

डॉ0 हरिदास चौधरी ने अपने ग्रन्थ "इंटिग्रल फिलासफी आफ अरविन्द" मे श्री अरविन्द के विकास सिद्धान्त की विशेषताओ को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि विकास सयोग की अध्यक्षता

मे चलने वाला पदार्थ और गीत का कोई अधिकाधिकजटिल होता हुआ सरुपण मात्र नहीं है। न वह असख्य वर्षों पूर्व गढी गयी ऐसी श्रृंखला की खड़–खड़ है ,जो किसी अति ब्रहमाडीय दिव्य मन की अध्यक्षता में हो रही है और नही वह शून्य में से अचानक नये गुणों और अपेक्षाकृत श्रेष्ठतर मूल्यो का क्रमश प्रकटन ही है। वस्तुत विकास की प्रक्रिया मूलत अनिर्धारणीय सत्ता का असीम रूप मे विविधीकृत आत्मनिर्धारण है। हम विकास की तुलना एक सृजनात्मक साहसिक यात्रा से कर सकते है। सम्भवत विकास अचेतनता के अपरिचित समुद्र मे विश्व आत्मा की सृजनात्मक साहसिक यात्रा है। जिसका लक्ष्य है सत्ता मे निहित अनंत सम्भावनाओं को भौतिक परिस्थितियो मे अनत रूप से अभियक्त करना।

श्री अरविन्द के विकास – सिद्धान्त की तीन मुख्य विशेषताये है।

1 विस्तारण

2 ऊर्ध्वीकरण

3 समग्रीकरण

जैसे ही विकास की प्रक्रिया आरम्भ होती है भूत से वह अपने को विभिन्न रूपों मे प्रस्फुटित करती है। सरल से मिश्रित रूप में प्रस्फुटित होती है। देह के सगठित, सूक्ष्म और जटिल हो जाने पर उससे जीवन प्रकट होता है। इसी प्रकार जब जीव· –शरीर अधिकाधिक जटिल हो जाता है तब मन प्रकट होता है।

उर्ध्वीकरण का अर्थ फैलाव या विस्तार नहीं है बल्कि चेतना का एक स्तर से दूसरे स्तर पर आरोहण है। यथा–जब जीव भूत से उत्पन्न होता है तो वैसी स्थिति में भूत, जीव के स्तर तक

विकसित होता है। चेतना जो भूत मे छिपे हुए रूप में रहता है विकसित होकर जीव में अभियव्क्त होता है। समग्रीकरण की विशेषता यह होती है कि विकास की उपरोक्त प्रक्रिया मे किसी तत्व का विनाश नहीं होता है। जब निम्नतर सत्ता का उच्चतर सत्ता मे रूपान्तरण होता है तो निम्नतर सत्ता का विनाश नही होता बल्कि वह उच्च स्तर मे उठकर अनुप्राणित और संस्कारित हो जाता है। यथा–जड़ पदार्थ से जीवन के प्रकट होने पर जड पदार्थ नष्ट नहीं हो जाता ओर न ही मन के प्रकट होने पर जीवन नष्ट होता है। वरन् उच्चतर तत्व के नष्ट होने पर निम्नतर तत्व का सशोधन, परिष्कार तथा उद्धार हो जायेगा।

यहाँ श्री अरविन्द की विकासवादी दृष्टि तथा अन्य प्राच्य और पाश्चात्य विकासवादी दृष्टियो मे भेद सुस्पष्टत नजर आता है। सामान्य विकासवादी दृष्टि इस तरह है कि वह केवल निम्नतर से उच्चतर स्तर की ओर आरोहण करना समझती है। इस दृष्टि की तुलना उस सेना से की जा सकती है, जो अपने सगठित आधार से बिना कोई संबंध रखे आगे बढती है। हम श्री अरविन्द की विकासवादी दृष्टि की तुलना उस सेना से कर सकते है जो पूरी शक्ति के साथ अपने आधार से पूरा तालमेल (सबध) बनाये हुए आगे बढ़ती है। ऐसा विकास जो सत्ता के केवल किसी एक भाग को अन्य दूसरे भागो से अलग करके विकसित (उन्नत) करता है। वह विकासवादी दृष्टि से उसी प्रकार कम महत्व का है जिस प्रकार सैन्य दल की दृष्टि से शत्रु क्षेत्र में आगे जाने वाली सेना की वह टुकडी होती है जो अपनी मुख्य सेना से अपना कोई सम्बन्ध बनाये रखने का कोई प्रयास नहीं करती।[7] श्री अरविन्द की सम्पूर्ण विकास प्रकिया को निम्नलिखित चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

विश्व–प्रक्रिया

सच्चिदानंद

ब्रह्म	1 ↓	सत्	8 ↑	ब्रह्म
	2 ↓	चित्	7 ↑	
	3 ↓	आनद	6 ↑	
		सच्चिदानंद		
	4 ↓	अतिमानस	5 ↑	
	5 ↓	मानस	4 ↑	
	6 ↓	आत्मा	3 ↑	
अवरोहण	7 ↓	जीवन	2 ↑	आरोहण
	8 ↓	भौतिक वस्तु (जड)	1 ↑	

वस्तुत. विकास का प्रारम्भ जड़ पदार्थ से होता है क्योकि पदार्थ के स्तर तक जाने पर परम चैतन्य को यह अनुभूति होती है कि आवरण या प्रच्छन्नता की प्रक्रिया अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी है। अत: स्वयं चेतन ही पदार्थ को विकसित होने के लिए प्रेरित करता है। जिसके परिणाम स्वरूप जीवन का उदय होता है।

जड़ पदार्थ मे चैतन्य का प्राकट्य सर्वप्रथम जीवन के माध्यम से होता है। तत्पश्चात चैतन्य स्वय को वनस्पति जगत मे अभिव्यक्त करता हुआ पशु जगत् में घूमता है। वहाँ पर वह अधिक स्वतन्त्र हो जाता है एवं संवेदनशील शरीरधारी प्राणी में अपनी मानसिकता को प्रकट करता है।

किन्तु परमचेतना इस अवस्था मे भी पूर्णतः सन्तुष्ट नही हो पाता। अत. वह और भी ऊपर आरोहण करता है एव स्वय को स्वचेतन विश्लेषण प्रधान एव विवेकशील मानव मन में व्यक्त कर देता है।

विकास का अगला चरण मानस का अतिमानस पर आरोहण है। परन्तु यह आरोहण रूपान्तरण की विविध प्रक्रिया द्वारा ही सम्पन्न होगा। तीनों प्रक्रियायें निम्नवत् हैं-

(i) आत्मिक परिवर्तन

(ii) आध्यात्मिक परिवर्तन

(iii) मानसोपरि परिवर्तन

आत्मिक परिवर्तन का तात्पर्य हमारे मानस या आत्मा को छिपाये रखने वाले पर्दे का हटना है। यह आत्मा, मनस्, जीवन और शरीर को प्रयोग करता है। परन्तु स्वयं इसकी सीमाओं से अप्रभावित रहता है । श्री अरविन्द हमारी सच्ची आत्मा के उद्घाटन पर अत्यधिक बल देते हैं। वह कहते हैं कि "ससार का महारोग यह है कि मनुष्य अपनी यथार्थ अन्तरात्मा को नहीं पा सका।[8] आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए श्री अरविन्द कहते है "यह वह ज्योति-शिखा है, जो कि भगवान से उत्पन्न होती है और अज्ञान के भीतर अपने ज्योतिर्मय स्वरूप में निवास करती है और जब तक वह अज्ञान को ज्ञान की ओर प्रवृत्त करने में समर्थ नहीं हो पाती तब तक उसके भीतर वर्धित होती रहती है। यह हमारे भीतर छिपा हुआ साक्षी और नियन्ता है, गुप्त पथ प्रदर्शक है। इसे सुकरात ने डेमन (यक्ष) कहा है, यही रहस्यविदों (योगियों) की अन्तर्ज्योति या अन्तर्ध्वनि है। यह हममे भगवान का वह अविनाशी स्फुलिंग है जो कि जन्म-जन्मान्तरो में नित्य विद्यमान और अविनाशी रहता है, बुढ़ापा, रोग और मृत्यु आदि विकार इसका स्पर्श नहीं कर सकते।[9]

आध्यात्मिक परिवर्तन का अर्थ है हमारे अन्दर एक उच्चतर प्रकाश का अवरोहण। आध्यात्मिक परिवर्तन द्वारा हमें असीम सत्ता का स्थाई बोध होने लगता है। इस अवस्था का वर्णन करते हुए श्री अरविन्द कहते हैं – "दिव्य सत्ता की घनिष्ठ समीपता उसके जगत् के ऊपर हमारे ऊपर और प्राकृतिक तत्वो के ऊपर शासन, हमारे भीतर और हर जगह सक्रिय उसकी शक्ति, असीम की शांति और उसका आनंद ये सब अब हमारे भीतर मूर्त और स्थायी हो जाते है, समस्त दृश्यो और रूपो मे सनातन का, परमसत्ता का दर्शन होता है। प्रत्येक ध्वनि में उसी का नाद सुनाई पडता है। प्रत्येक स्पर्श में उसी का अनुभव लगता है।[10]

श्री अरविन्द की यह रहस्यात्मक अनुभूति सतकवि कबीर की उस परात्पर अनुभूति के सदृश है जिसमें कबीर को प्रकृति के प्रत्येक उपादान में अपने लाल (आत्मा) की लाली ही सर्वत्र नजर आती है–

लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल ।

लाली देखन मैं गई, मै भी हो गयी लाल ।।

अति मानसिक परिवर्तन वह परिवर्तन है जो हमारे अतिमन तक आरोहण और तदनुकूल अतिमन के हमारे भीतर अवरोहण द्वारा सम्पन्न होता है। श्री अरविन्द का मन्तव्य है कि विकास के प्रत्येक चरण में परमसत्ता का अवरोहण आवश्यक है। बिना उसके अवरोहण के निम्नतर सत्ता का उच्चतर सत्ता में रूपान्तरण नही हो सकता। यथार्थ रूपान्तरण के लिए ऊपर से एक सीधा और अनावृत, हस्तक्षेप होना आवश्यक है। इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि निम्नतर चेतना पूर्णतया अपने आपको रूपान्तर के अधीन और समर्पित करे दे, अपने आग्रह को समाप्त

कर दे, उसमे एक ऐसी इच्छा उत्पन्न हो जाय कि कर्म करने का उसका पृथक विधान रूपान्तरण के द्वारा पूर्णतया नष्ट कर दिया जाय और हमारी सत्ता पर से उसके समस्त अधिकार लुप्त हो जाये।[11]

इसका अर्थ केवल यह है कि यदि हमारा आधार अति मानसिक प्रकाश को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत नहीं है तो यह अवतरण के बाद पुन. वापस हो सकता है। और इसी कारण इस उच्चतर प्रकाश के प्रति हमारे मन, प्राण और शरीर का एक पूर्ण समर्पण आवश्यक है।

अरविन्द के अनुसार अति मानसिक परिवर्तन हमारी मानसिक अवधारणा से इतना मौलिक रूप से भिन्न है कि मानसिक भाषा की सहायता से अतिमानसिक परिवर्तन का वर्णन करना बिल्कुल असभव है। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अतिमानसिक परिवर्तन विश्मयकारी ऐश्वर्य और महानता के नये जीवन का सूत्रपात करेगा। यह एक नये जन्म दिव्य जन्म का सूचक होगा।

उल्लेखनीय है कि मानस से अतिमानस की अवस्था की प्राप्ति एकाएक नही हो जाती बल्कि दोनो के मध्य एक क्रम है, कुछ सोपान है। मानस के द्वारा उच्चतर मानस, प्रदीप्त मानस, अन्तर्दृष्टि व्यापक मानस की अवस्था पर पहुँचने के बाद ही अतिमानस की प्राप्ति संभव है।

अतिमानस की अवधारणा :-

श्री अरविन्द द्वारा प्रतिपादित विश्व-विकास प्रक्रिया मे जड़तत्व, जीवन, आत्मा और मानस अपेक्षाकृत निम्नतर सत्तायें है। जबकि सच्चिदानद उच्चतर गोलार्द्ध की सत्ता है। यहाँ पर एक

प्रश्न यह पैदा होता है कि जो प्रक्रिया निम्नतर गोलार्द्ध की प्रक्रिया है वह एकाएक उच्चतर गोलार्द्ध मे कैसे प्रवेश कर सकती है? श्री अरविन्द का विचार है कि इन दोनों के मध्य एक ऐसी सत्ता का होना आवश्यक है कि जो इस दोनो के मध्य सम्बन्ध स्थापित कर सके। इस माध्यम के लिए यह आवश्यक है कि एक ओर तो वह अपने स्वरूप में सच्चिदानंद के समान ही हो, अन्यथा वह उच्चतर गोलार्द्ध से सम्पर्क रख ही नहीं सकता, दूसरी ओर यह भी आवश्यक है कि यह निम्नतर गोलार्द्ध के श्रेष्ठतम विकसित रूप—मानस के सर्वथा विपरीत या उसका विरोधी नही है। यही माध्यम अति मानस है।

श्री अरविन्द ने अति मानस को दो रूपो मे समझाने का प्रयास किया है—

(क) सत् की चेतना के रूप मे अतिमानस – वह आध्यात्मिक तत्व जिसे सच्चिदानंद की पूर्ण चेतना है।

(ख) मानस के चरम लक्ष्य के रूप मे अतिमानस चेतना का स्तर मानस चेतना से ऊँचा है। मनस् ज्ञान का साधन नहीं है। इसके द्वारा हम ज्ञान की ओर अग्रसर होते है। मनस् ऐसी शक्ति नहीं है जो सच्चा ज्ञान प्रदान करे और जीवन के अस्तित्व को सही निर्देश दे सके। मनस् एक सीमित शक्ति है । श्री अरविन्द के अनुसार मनस् का कार्य विभाजन का है तथा सत्य को अगों में बाँटकर देखने का है।[12] जबकि अतिमानस का महत्वपूर्ण कार्य है विरोधी पहलुओं को एक सूत्र से बाँधना।[13]

अतिमानस चेतन शक्ति के रूप मे वास्तविक जीव एव जगत की अभिव्यक्ति करता है। यह शून्य से उत्पन्न नही हुआ है और न तो शून्य की सर्जना करता है। यह एक चेतन सत्ता

है जो विविध रूपो में अभिव्यक्त होता है। इस सत्ता के स्वरूप को सुस्पष्ट करते हुए अरविन्द कहते है कि यह सच्चिदानंद से भिन्न नहीं है। क्योंकि यह सत् भाव है। सच्चिदानंद की चेतना है किन्तु इसमे अभिव्यक्ति की भी शक्ति है। अभिव्यक्ति का अर्थ है "मूलभाव का एक प्रकार का विभेदन"-उसके अपने मूलरूप का अनेक रूपों में व्यक्त होना। यह व्यक्त रूप उस सत् का ही रूप है – लेकिन वह अभिव्यक्त है अत· उसकी प्रतीति सत् से भिन्न है। यह प्रतीति सृष्टि की प्रतीति है।

मानस के चरम लक्ष्य करते हुए में अतिमानस के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए श्री अरविन्द कहते है कि मानस मे अतिमानस की तरफ उठने की तत्परता है। इससे प्राप्त ज्ञान आशिक एव सतहे स्तर का है। किन्तु उनमें भी एकत्व को प्राप्त करने की उतसुकता है। इकाइयॉं स्थापित करने की प्रवृत्ति है। इससे यह संकेत मिलता है कि मानस में भी अपूर्ण रूप में अतिमानस की शक्ति ही कार्यरत है। यदि अतिमानस किसी न किसी रूप मे किसी आवरण में मानस में अवतरित न हो तो मानस मे अतिमानस की ओर उठने की प्रवृत्ति ही नहीं जाग सकती ।

निष्कर्ष रूपेण कहा जा सकता है कि अतिमानसिक सत्तायें आध्यात्मिक पुरूष की चरम परिणति होगी। अतिमानसिक सत्तायें एक सर्वभौमिक आध्यात्मिकता से संचालित होगी। सभी सत्ताये अतिमानसिक सत्ताओ के लिए आत्मरूप होगी ओर चेतना की सारी शक्तियॉं और मार्ग अतिमानसिक सत्ताओ की सार्वभामिकता की शक्तियॉं और मार्ग होंगे। अतिमानसिक सत्तायें जगत में और जगत के लिए होगी लेकिन वे अपनी चेतना में जगत का अतिक्रमण करने वाली भी होगी। अतिमानसिक सत्ताये सार्वभौमिक होते हुए भी सृष्टि के नियमों से स्वतन्त्र होगी। ओर वैयक्तिक होते हुए भी पृथककृत वैयक्तिकता की सीमाओ से मुक्त होगी।

अतिमानसिक सत्ता मे वैश्वचेतना होगी, इन्द्रिय सवेदना होगी, भावना होगी जिसके फलस्वरूप सारा वस्तुनिष्ठ जीवन उसके लिए आत्मनिष्ठ अस्तित्व का जीवन बन जायेगा और जिसके द्वारा वह सभी रूपो मे भगवत् उपस्थिति को उपलब्ध करेगा, प्रत्यक्ष करेगा, प्रतीति करेगा, देखेगा और सुनेगा। वह समस्त पदार्थों और क्रियाओं को अपनी विशाल आत्मसत्ता के रूप मे अनुभव करेगा, उनका इन्द्रियसवेदन करेगा उन्हें देखेगा, सुनेगा और उनकी प्रतीति करेगा।[14]

<u>दिव्य जीवन–</u>

श्री अरविन्द के अनुसार मानव की परम भवितव्यता मात्र अतिमानस के स्तर को प्राप्त कर लेना नहीं है बल्कि दिव्य जीवन की प्राप्ति है। "दिव्य जीवन" वह जीवन होगा जहाँ के सभी मानव ज्ञानपुरूष होंगे। "दिव्य जीवन" का अर्थ है धरती पर पूर्णता का जीवन, ईश्वरत्व रूप का जीवन। यह जीवन सीमित चेतना का जीवन नहीं होगा– इस जीवन में चेतना, शरीर तथा मानस के घेरे से बँधी नही रहेगी बल्कि यह पूर्ण ज्ञानात्मक चेतना रहेगी।

दिव्य जीवन के स्वरूप का विवरण प्रस्तुत करते हुए श्री अरविन्द "लाइफ डिवाइन" में कहते हैं– हममें प्रकृति का लक्ष्य यही है कि हम पूर्णता में अस्तित्ववान रहें।[15] इस विचार के विश्लेषण से निम्नलिखित विशेषतायें उभर कर सामने आती हैं:–

(1) सामान्य रूप में व्यक्ति शरीर तथा शारीरिक धर्मों में इतना आसक्त हो जाता है कि उसे अपने दिव्य स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता है। वह कचन–कामिनी के भोग विलास मे अपना जीवन समाप्त कर देता है। परन्तु दिव्य जीवन का अर्थ है, अपनी सत्ता के विषय मे पूर्णरूप से

सचेतन होना। हमारा एकमात्र कर्तव्य है अपना स्व(स्वरूप) वह है जो हमारे भीतर है, इस उच्चतम स्व के जो कि हमारा सच्चा और दिव्य स्वरूप है, अपने आपको प्रकाशित करने और सक्रिय बन जाने अवबध (शर्त) है हमारे शरीर प्राण और मन के बने बाहरी स्व का अतिक्रमण करना।

(2) पूर्ण रूप में होने के प्रथम अर्थ के बाद द्वितीय अर्थ के रूप में कहा जा सकता है कि इस अवस्था मे आत्म का अपनी शक्तियो, कार्यों एव कार्य क्षमताओं पर पूर्ण नियन्त्रण रहेगा क्योकि उसे एकत्व की चेतना है। फलत. उसके अस्तित्व में किसी प्रकार के टूटन, किसी प्रकार के अलगाव की सम्भावना नहीं रहेगी। आत्मचेतन अस्तित्व का अर्थ है 'पूर्ण आत्मनियन्त्रण'।

(3) पूर्ण रूप मे होने का अर्थ है कि "सत्ता के पूर्ण आनंद मे होना।

(4) पूर्ण रूप में होने का अर्थ है "पूर्ण परात्मकता का जीवन । इसका तात्पर्य है ऐसा दिव्य पुरूष अपने और पराये के भेद से ऊपर उठ जाता है। उसका प्रत्येक कार्य लोक संग्रहार्थ ही होता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि "दिव्य जीवन" धरती पर पूर्णता के जीवन का अवतरण है। जहाँ सभी प्रकार की पृथकता समाप्त हो जाती है तथा पूर्ण सामञ्जस्य एवं संगठित एकत्व का जीवन रूप लेता है। जगत् परात्म जगत में परिणत हो जाता है। जीवन पूर्ण ज्ञानात्मक चेतना एव पूर्ण आनन्द का बन जाता है इसी जीवन मे आत्म की अन्तिम परिणति है।

यहाँ पर एक प्रश्न यह पैदा होता है कि दिव्य पुरूष का कोई व्यक्तित्व है या वह व्यक्तित्व

रहित होता है? दिव्य पुरूष व्यक्तित्वपूर्ण होता है लेकिन अन्तर यह है कि साधारण व्यक्ति का व्यक्तित्व अज्ञानपूर्ण होता है एवं दिव्य पुरूष का व्यक्तित्व चेतना पूर्ण होता है।

श्री अरविन्द के दिव्य पुरूष की अवधारणा की तुलना भारतीय दर्शन के जीवन्मुक्त पुरूष के विचार से की जा सकती है। जीवन्मुक्त व्यक्ति अपनी समस्त तृष्णाओ पर विजय प्राप्त करके लोकसग्रहार्थ कर्म करता हुआ भी कर्मफल की आसक्ति से उसी तरह से निर्लिप्त रहता है जैसे कमल का पत्ता जल मे रहते हुए भी जल बिन्दुओ से निर्लिप्त रहता है। जिस तरह भूने हुए बीज के वपन से अकुर नहीं पैदा होता है उसी तरह से बीतराग जीवन्मुक्त पुरूषो के कार्यों से आसक्तिरूप विषवृक्ष का अंकुरण नहीं होता है। परन्तु दिव्य पुरूष की अवधारणा जीवन्मुक्त के विचार से अधिक व्यापक अवधारणा है । जैसा कि हरिदास चौधरी का मत है कि सभी दिव्य पुरूष को जीवन्मुक्त की तरह सोचा जा सकता है लेकिन सभी जीवन्मुक्त को दिव्य पुरूष की तरह नही माना जा सकता । दिव्य पुरूष का विचार जीवन्मुक्त की अवधारणा में समाविष्ट करता है किन्तु वह उससे भी अधिक व्यापक है। श्री अरविन्द का दिव्य पुरूष अपनी मुक्ति के साथ सर्व मुक्ति की कामना करता है। श्री अरविन्द के दिव्य पुरूष की अवधारणा की तुलना बौद्ध दर्शन के बोधिसत्व के आदर्श और स्वामी विवेकानन्द के सर्वमुक्ति की अवधारणा से की जा सकती है। "दिव्य पुरूष" की अवधारणा बौद्ध दर्शन के बोधिसत्व के आदर्श से मिलती-जुलती है। बोधिसत्त्व केवल अपनी मुक्ति की अपेक्षा सब जीवो की मुक्ति को जीवन का लक्ष्य मानते हैं। वे यह प्रण करते है कि हम संसार से विमुख नहीं होंगे, वरन् दुःखी प्राणियो के दु ख-विनाश और निर्वाण लाभ के लिए सतत प्रयत्न करेंगे। ऐसे व्यक्ति का जीवन करूणा तथा प्रज्ञा से अनुप्राणित रहता

है। वे लोक कल्याण के लिए आवागमन के कष्ट से डरते नही हैं, प्रत्युत जन्म ग्रहण के चक्र मे पडे रहने पर भी उनका चित्त स्वच्छ रहता है। किसी प्रकार की पाप प्रवृत्ति या आसक्ति उनमे नहीं रहती है। जिस तरह पकज पक मे जन्म लेकर भी स्वच्छ तथा सुन्दर रहता है। उसी तरह ये बोधिसत्त्व जन्म मरण के जाल में फँसे रहकर भी बिल्कुल स्वच्छ तथा निर्मल रहते हैं।

<u>**अज्ञान की अवधारणा**</u> –

अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रहम अपनी सर्जनाशक्ति "माया" के द्वारा वैविध्यपूर्ण जगत् की अद्भुत रचना करते हैं। यह माया या अज्ञानता अपनी आवरण तथा विक्षेप शक्ति के द्वारा एक तरफ ब्रहम के यथार्थ स्वरूप पर पर्दा डाल देती है और दूसरी तरफ उसके स्थान पर जगत का आभास देती है। वस्तुत ज्ञान और अज्ञान दो परस्पर विरोधी चीजे हैं। इसी तरह श्री अरविन्द अज्ञान का विश्लेषण करते हुए है कि सृष्टि परमात्मा का अज्ञान मे निमज्जन है। तथापि श्री अरविन्द की अज्ञान विषयक् अवधारणा अद्वैत वेदान्त से किचिद् स्थलों पर साम्यता रखते हुए भी विरोधी प्रतीत होती है.–

श्री अरविन्द का विचार है कि ज्ञान तथा अज्ञान का स्वरूप परस्पर विरोधी नहीं है जो एक दृष्टि से ज्ञान है वही दूसरी दृष्टि से अज्ञान है। निम्नतर स्तर की दृष्टि से जो ज्ञान है उच्चतर स्तर की दृष्टि से वह अज्ञान है। "अज्ञान" ज्ञान शून्यता नही है। एक छोर पर "ज्ञान" है दूसरे छोर पर ज्ञान शून्यता है। इन दोनो के बीच स्थित फैलाव अज्ञान का स्तर है। अज्ञान का वह रूप जो ज्ञान शून्यता के निकट है अधिक अपूर्ण ज्ञान है तथा जैसे–जैसे वह ज्ञान की ओर अग्रसर होता है वैसे–वैसे इसमे अपेक्षाकृत अधिक पूर्णता आती जाती है। "वास्तव में अज्ञान और कुछ नही आशिक रूप से अपने आपको धारण करने की, अवरूद्ध करने की और नियन्त्रित करने की दिव्यचेतना की ही शक्ति है। यह किसी भी अर्थ मे दिव्य शक्ति की एक पृथक् शक्ति या पृथक् संकल्प नही है। जो उससे स्वतन्त्र हो। ज्ञान, अज्ञान का प्राकृतिक चरमोत्कर्ष है।[17]

वास्तव में, जो कुछ हो रहा है वह यह है कि अज्ञान अपने भीतर के अंधकारों को

अधिकाधिक सप्रकाश करता हुआ अपने आपको अपने भीतर पहले से ही छिपकर बैठे हुए ज्ञान मे रूपान्तरित करने की चाहना और तैयारी कर रहा है। इस रूपान्तर के द्वारा जब वैश्व सत्य अपने यथार्थ स्वरूप और आकार मे अभिव्यक्त होगा तो वह अपने-आपको परम सर्व व्यापी ब्रह्म के स्वरूप और आकार के रूप में प्रकाशित करेगा।[18]

जहाँ तक अज्ञान की उत्पत्ति का प्रश्न है अज्ञान का स्रोत ब्रह्म नहीं हो सकता। साथ ही अज्ञान विभिन्न आत्माओं मे भी अन्तर्निहित नहीं है। वस्तुत. जब मानस स्वयं को अतिमानस से अलग कर लेता है तभी अज्ञान की उत्पत्ति होती है। जब हम ईश्वरीय शक्ति के सक्रिय पक्ष की अभिव्यक्ति को जगत् रूप मे देख उसी तक सीमित हो जाते है तो यही अज्ञान है। ज्ञान का अर्थ होगा इसके अतिरिक्त यह ज्ञान भी कि ईश्वरीय शक्ति का अगाध पक्ष है जो सृष्टि मे सक्रिय नही है। उसके पीछे है। इसी कारण सृष्टि मे तथा सृष्टि में व्यक्त रूपो में लिपटे रहने को अज्ञान कहा गया है। अज्ञान की उत्पत्ति "आत्म" के इस प्रकार के सिमटने मे है। हर व्यक्ति में निहित ईश्वरीय शक्ति मे यह सम्भावना निहित है कि वह अपने को सीमित कर अपनी दृष्टि की ऐसी सीमा बना ले कि वह मात्र अपने में सक्रिय शक्ति को शक्ति समझ ले तथा सार्वभौम मूल शक्ति की उपेक्षा कर ले। यही अज्ञान है, जो व्यक्ति को जगत के सक्रिय रूपों तक सीमित कर देता है। यह अज्ञान इस कारण है कि यह सत् के मूल स्वरूप के प्रति अज्ञान है। ईश्वरीय "तपस्" विस्तृततो है ही सिमट भी जा सकती है, जब यह व्यक्ति में सिमट कर सीमित हो जाती है तो यही अज्ञान है।

वस्तुत ब्रहम की निष्क्रिय चेतना और सक्रिय चेतना दो भिन्न वस्तुयें नही है, "यह

एक ही चेतना है, एक ही अतस् ऊर्जा है, इसका एक सिरा आत्म–आरक्षण की अवस्था मे है और दूसरा सिरा आत्म–प्रदान और आत्म–विस्तारण की अवस्था में है। यह ऐसा है कि– जैसे जलागार का एक सिरा निश्चल अवस्था मे होता है और दूसरा उससे प्रवाहित होने वाली धाराओं की गति की अवस्था मे होता है। इस प्रकार निष्क्रिय ओर सक्रिय दो ब्रह्म नहीं हैं बल्कि एक ही ब्रह्म है। एक ही सत्ता को तब हम निष्क्रिय कहते हैं जब वह अपने तपस् को आरक्षित रखता है और उसी को सक्रिय कहते हैं जब वह तपस को अपने कार्य मे सृष्टि मे अभिव्यक्त करना है।[19]

श्री अरविन्द की अज्ञान की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए अरविन्द द्वारा प्रतिपादित अज्ञान के सप्त रूपो पर विस्तृत विचार आवश्यक है। मानव जीवन में अज्ञान निम्नलिखित रूपो मे व्याप्त है।

1. **प्राथमिक अथवा आद्य अज्ञान–**

हमारा सासारिक जीवन नाना प्रकार की वस्तुओं और नानाविध सम्बन्धों से घिरा हुआ है। नाना प्रकार की मान्यताओ और अपने परम्परागत संस्कारो / रीति–रिवाजों के कारण हम अपने चतुर्दिक व्याप्त भौतिक वस्तुए, शरीरधारी जीव, वस्तुओ के बीच स्थान तथा काल आदि के सम्बन्ध को वास्तविक मानते हुए अपना जीवन–निर्वाह करते रहते हैं। हमें इन सभी प्रकार की वस्तुओ के पीछे छिपे हुए मूल निरपेक्ष सत् का ज्ञान नहीं है जिसके कारण प्रतीयमान वस्तुओं को ही हम सत् समझने लगते है। इस प्रकार का अज्ञान प्राथमिक अज्ञान कहलाता है क्योंकि यह सभी प्रकार के अज्ञानो के मूल मे है, हर अन्य अज्ञान किसी न किसी प्रकार इसी मूल अज्ञान से उत्पन्न है।

(2) **ब्रह्मांड मूलक अज्ञान –**

यह ब्रह्माड या जगत सम्बन्धी अज्ञान है। सामान्यतया हम यह मानकर चलते हैं कि स्थान तथा काल मे स्थित जिस जगत मे हम जीते हैं वह जगत वास्तविक है, सत् है। इसी धारणा के फलस्वरूप जगत मे जो परिवर्तन होते है उन्हे भी सामान्यत वास्तविक ही समझते हैं। यह ब्रह्माड या जगत सम्बन्धी अज्ञान है।

(3) **अहं केन्द्रित अज्ञान–**

आत्मा के सम्बन्ध मे वास्तविक ज्ञान का अभाव अह केन्द्रित अज्ञान कहलाता है, हम अपने "अह "को" मै "के भाव को ही वास्तविक समझ लेते हैं और यह जानने/समझने की चेष्टा भी हम नही करते हैं कि हर प्रकार की सत्ता– हर प्रकार की गति के पीछे एक एकात्म है। हम अपने सीमित, वैयक्तिक अस्तित्व को वास्तविक समझने लगते हैं। यही अह केन्द्रित अज्ञान है।

(4) **सामयिक अज्ञान–**

हमे अपने नित्य तथा शाश्वत स्वरूप के सम्बन्ध में भी अज्ञान है। इसी कारण हम जन्म से लेकर मृत्यु तक के सम्पूर्ण जीवन चक्र को हर काल हर स्थिति में घटने वाली प्रत्येक शुभ/अशुभ घटनाओ को ही वास्तविक और आत्म स्वरूप समझ लेते है। हम यह समझने या देखने की चेष्टा भी नहीं करते कि हमारी वास्तविक सत्ता इन कालिक क्षणो तथा स्थान, काल की इन स्थितियो तक सीमित नहीं है।

(5) **मनोवैज्ञानिक अज्ञान–**

सामान्यतया हम अपने जीवन मे दैनिक कार्यन्व्यवहार और आचरण को ही वास्तविक

मान लेते है । अपने इन्द्रिय अनुभव/इन्द्रियप्रदत्तों की वास्तविकता को ही अन्तिम सत्य के रूप मे स्वीकार कर लेते हैं। हम अपने जीवन मे इन ऊपरी धरातलीय क्रिया व्यवहारो मे इतने तल्लीन रहते हैं कि हम इनसे ऊपर की उपचेतनावस्था तथा परात्ममूलक चेतनावस्था, आन्तरिकता आदि की सम्भावनाओ के विषय मे सोचने का भी उपक्रम नहीं करते। इस प्रकार का अज्ञान "मनोवैज्ञानिक अज्ञान" कहलाता है।

(6) राचनिक अज्ञान–

यह प्राय: सर्वमान्य प्रचलित-धारणा है कि हमारी वास्तविक संरचना शरीर, प्राण तथा मन से है। इसका अर्थ है कि हम सामान्यत: इस तथ्य से अनभिज्ञ रहते हैं कि हमारी सरचना की गहराइयाँ मात्र इन तीनों तक सीमित नहीं। इसी कारण हम यह भी नही समझ पाते कि शरीर, प्राण, मन आदि की भी शक्ति हमारी उन्हीं गहराइयों में स्थित शक्ति से है। इस तरह से राचनिक अज्ञान के वशीभूत होकर व्यक्ति अपने देह, मन, प्राण आदि को ही वास्तविक सत् समझने लगता है। उसे यह भी नहीं ज्ञात हो पाता है कि समस्त कर्म तो प्रकृति और उसकी शक्तियो के द्वारा सम्पादित कराये जाते हैं, वह तो अपनी शरीर की शक्ति को वास्तविक शक्ति समझने लगता है। परिणाम स्वरूप अपने को कर्ता, कामी और स्वामी समझने लगता है।

(7) व्यावहारिक अज्ञान–

उपरोक्त सभी अज्ञानों के फलस्वरूप हमारा व्यावहारिक जीवन पूर्णतया अव्यवस्थित हो जाता है। हमारा सामान्य व्यावहारिक जीवन कुछ अर्थों में अर्थहीन तथा लक्ष्यविहीन प्रतीत होता है। क्योकि जीवन के वास्तविक लक्ष्य की अनभिज्ञता हमारे जीवन की दिशा को ही भ्रमित कर

देती है। फलतः हमारा व्यावहारिक जीवन भ्रम, भूल, अनर्गल कार्यों में ही उलझा रहता है जिसका परिणाम होता है कि हमारा जीवन दु खमय कष्टप्रद तथा अर्थहीन बन जाता है।

निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि मनुष्य स्वभाव से (प्रकृत्या) अज्ञानी नही है। उसके अदर पूर्ण ज्ञान की शक्ति और शक्यता है। यह केवल व्यावहारिक कारणों से उसके जीवन की बाहरी गतिविधियो के उद्देश्य से ऐसा है कि वह वर्तमान अज्ञान के क्षणो में समाहित होकर जीता है क्योकि एक ऐसी दीवार है जो भविष्य के समस्त ज्ञान को और अतीत के समस्त ज्ञान को उसके आगे बन्दकर देती है। केवल उस छोटे से भाग को छोडकर जो उसकी स्मृति उसके लिए सम्भव बनाती है उसका (मनुष्य का) अस्तित्व इस समय उसकी सत्ता का पूर्ण सत्य नही है अपितु एक व्यावहारिक सत्य है जो उसके आध्यात्मिक जीवन के सीमित उद्देश्यों के लिए शुभ को ग्रहण करता है।[20]

पूर्ण योग–

अन्यान्य भारतीय दर्शन की तरह श्री अरविन्द के अनुसार भी मानव की भवितव्यता मोक्ष या आत्मिक स्वरूप की उपलब्धि करना है। मानव जीवन का परम प्राप्य आध्यात्मिक या दैवी जीवन की प्राप्ति है। जैसा कि श्री अरविन्द स्वयं कहते है "हमारा एक मात्र कर्तव्य है अपना स्व (स्वरूप) हो जाना, परन्तु हमारा सच्चा स्व (स्वरूप) वह है जो हमारे भीतर है , इस उच्चतम स्व के जो कि हमारा सच्चा और दिव्य स्वरूप है, अपने–आपको प्रकाशित करने और सक्रिय बन जाने का अवबध (शर्त) है। हमारे शरीर, प्राण और मन के बाहरी स्व का अतिक्रमण करना। मनुष्य के अन्दर दिव्यता पर्दे के पीछे निवास करती है।[21] अब यहाँ प्रश्न यह पैदा होता है कि वह कौन सा माध्यम है जिसके द्वारा दिव्य जीवन की प्राप्ति की जा सकती है। योग ही वह माध्यम है जिसके द्वारा दिव्य जीवन की प्राप्ति संभव है। इस योग की विशिष्टता स्वयं अरविन्द ने बतलाया है – "सभी कुछ जो तुम्हे अन्य योगों से प्राप्त हो सकेगा, वह सभी इस योग में मिलेगा– पर एक ऐसी अनुभूति के रूप में जिसकी एकांगिकता का विलय हो चुका है और जो एक परिपूर्ण अनुभूति मे रूपान्तरित हो चुकी है।

लक्ष्य एवं विशेषतायें–

योग का अर्थ है एक सूत्र में बाँधना। योग का अर्थ है– चरम सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित करना। श्री अरविन्द के अनुसार योग की निम्नलिखित लक्ष्य/विशेषतायें है–

विकास – प्रक्रिया–

वैयक्तिक तथा जागतिक दोनों स्तरो . पर एक विशेष अवस्था पर पहुँची है।

हमें मान्स से अतिमानस पर आरोहण करना है। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि अब विकास प्रक्रिया आध्यात्मिक क्षेत्र मे छलाग लगाने के लिए उद्यत है। योग का उद्देश्य इस सम्भावना या छलांग को सुलभ बनाना है। जड़ जगत आध्यात्मिक जगत से बिल्कुल पृथक नहीं है। चेतना का क्षुद्रतम अश ही जड़तत्व है। अत आध्यात्मिक प्रगति का तात्पर्य अनात्म का निषेध नही है।

बल्कि यह अनात्म तत्वो का परिष्करण या रूपान्तरण है जिससे वह अध्यात्मिक तत्वो के स्वरूप के रूप मे विकसित हो सके। समग्र योग या पूर्ण योग का उद्देश्य इस रूपान्तरण को सहज बनाना है। विकास–प्रक्रिया का चरम लक्ष्य उसकी परिणति एक ऐसे दिव्य जीवन की स्थापना मे है जिसमें हर व्यक्ति अज्ञान के क्षेत्र से बाहर आ ज्ञान–पुरुष मे परिणत हुआ रहेगा।

अन्य योग क्रियाओं (हठयोग) शारीरिक स्तर से ऊपर उठने की बात करते हैं। श्री अरविंद कभी भी शारीरिक यातना की (व्रत, उपवास) बात नहीं करते बल्कि योग का अर्थ है शारीरिक स्तर को भी अतिमानसिक प्रकाश से अवलोकित करना।

इसमे व्यक्ति सम्पूर्ण रूप से अपने को प्रभु के समक्ष अर्पित कर देता है– इस शिशुवत् विश्वास के साथकि माँ महाशक्ति उसके हितों को उससे अधिक जानती हैं और उसके हित मे जो भी होगा करेगी। इस समर्पण के नाते और इसमें निहित इस विश्वास के नाते, व्यक्ति मे उन सभी को सहन करने की जो उसके रूपान्तरण के लिए अनिवार्य है, शक्ति एवं साहस होना चाहिए तभी इस योग की सार्थकता है।

सभी योग इस बात पर बल देते हैं कि व्यक्ति की मुक्ति योग से संभव है परन्तु समग्र योग का उद्देश्य मात्र "एक मुक्ति" नहीं है बल्कि इसका उद्देश्य सर्व मुक्ति है। इस मुक्ति में व्यक्ति को अपने लिए कुछ नही करना है। उसे तो जीवन मे भगवती इच्छा को स्वीकारते हुए उसी के लिए सब कुछ करना है। भगवती इच्छा को व्यक्त करने का अर्थ है, इस जीवन में ही नही, प्रत्युत सम्पूर्ण विश्व मे और सभी स्तरों पर दिव्य जीवन के अवतरण के लिए प्रयत्नशील होना।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि योग का लक्ष्य– इसी जीवन में, शरीर–रूप मे ही ईश्वरत्व की पूर्ण चेतना है। योग अनिवार्यतः किसी अतिप्राकृतिक जीवन मे प्रवेश नहीं है। इसका लक्ष्य है, भौतिक, जैविक, मानसिक प्रक्रियाओं में परिवर्तन। यह विकास–प्रक्रिया मे घिरे आत्म के उत्थान का प्रयत्न है, साथ–साथ उच्चतर रूपों के अवतरण का प्रयत्न है। यह उच्चतर शक्तियो को मानस पर ही नहीं जड़तत्व में भी उतारने का प्रयत्न है।

योग का स्वरूप–

श्री अरविन्द के अनुसार योग का अर्थ 'ईश्वर मिलन' है । किन्तु यह पारलौकिक स्तर पर हो सकता है, सार्वभौम स्तर में सर्व मुक्ति के रूप मे हो सकता है या वैयक्तिक स्तर मे हो सकता है। योग का प्रतिपादन करने वाले विभिन्न विचारों में इन्ही में से किसी एक का प्रतिपादन किया गया है परन्तु इस योग में ये तीनों विधायें एक साथ जुटी हुई है। अतः इसे पूर्णयोग या समग्र योग कहा जाता है।[22]

साधारणत योगियो की मान्यता यह रही है कि योग के लक्ष्य की प्राप्ति– ईश्वरत्व से एकत्व की प्राप्ति, समाधि की अवस्था में अथवा पूर्ण आह्लादपूर्ण तन्मयता की अवस्था में ही हो

सकती है। इस अवस्था में जाग्रतावस्था की चेतना पूर्णतया धूमिल हो जाती है तथा सासारिकता एवं साधारण परिवेश से सम्पर्क एक प्रकार से टूट जाता है। इसके विपरीत श्री अरविन्द का कहना है कि पूर्ण एकत्व की प्राप्ति शरीर में रहते हुए जाग्रतावस्था तथा जगत् से सम्पर्क बिना तोडे हुए सम्भव है। श्री अरविन्द की योग साधना की तीन सीढ़ियाँ है, जिनकी क्रमश· प्राप्ति कर व्यक्ति अतिमानसिक स्तर को प्राप्त कर सकता है-

(I) आत्मिकता की प्रक्रिया

(II) आध्यात्मिकता की प्रक्रिया

(III) अति मानसिकता की प्रकिया

चेतना को वाह्यजगत् से खींचकर आभ्यन्तर जगत मे केन्द्रित करना-जिससे हमारे अस्तित्व के निम्नतर रूपो मे - भौतिक, जैविक एव मानसिक ढंगों मे - आमूल परिवर्तन हो सके, समग्र योग का प्रथम सोपान है। अन्तर में चित् शक्ति इस रूप मे प्रतिष्ठित हो सके कि - हमें विश्व के कण-कण में मूल चित् शक्ति 'माँ' का रूप दिखाई दे। आन्तरिकता के इस प्रकार से गहन होने की प्रक्रिया को आत्मीयता की प्रक्रिया कहा जाता है।

आध्यात्मिकता का अर्थ है- आत्म-अबाधित एवं विस्तारित करना। आत्मीकरण की प्रक्रिया से आत्म मे वे सारी तैयारियाँ हो जाती है जिससे उसमे उच्चतर चेतना की ग्रहण करने की तत्परता एवं शक्ति, आ जाय। इस प्रक्रिया से आत्म की क्रियायें, आत्म के विचार आदि उच्चतर रूपों के अनुरूप होने लगते हैं। और यह उसको शान्ति, शक्ति ज्ञान और आनन्द देते हैं।

योग के तृतीय सोपान तक पहुँचते-पहुँचते चेतना पूर्ण रूपेण दैवी चेतना में बदल

जाती है। इस स्थिति की तुलना उस तालाब से की जा सकती है जिसमें चंचल लहरो का उठना बंद हो गया है। अब सभी द्वैत-भाव, सभी विभिन्नतायें, विषमतायें लुप्त हो जाती हैं तथा पूर्ण अद्वैत एकत्व की चेतना स्पष्ट हो जाती है। अब मानसिकता के स्तर के सभी झंझावात उत्पन्न करने वाले अश-क्षोभ, अशान्ति, विषमता उत्पन्न करने वाले तत्व पूर्णतया शान्त हो जाते है। अतिमानसिकता की इस स्थिति मे पहुँचने पर "आत्म" को चार अवस्थाओ की प्राप्ति होती है– 'अचचलता, स्थिरता, शान्ति और नीरवता'। उल्लेख्य है कि इन चारो मे गुणात्मक भेद नहीं है। ये उस क्रम का निर्देश करते है जिस क्रम मे आत्ममानस के द्वारा उत्पन्न विषमताओं से धीरे-धीरे मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते है कि श्री अरविन्द की योग की अवधारणा मे सर्वागी विकास पर बल दिया गया है। यदि हम मात्र ज्ञान पर बल दें (ज्ञानयोग) या केवल शारीरिक शक्तियो तथा क्षमताओं को विकसित करने पर बल दें (हठ्योग, राजयोग) अथवा गहन भावनात्मक भक्ति पर बल दें (भक्तियोग) तो यह सब आंशिक ही होगा, सर्वांगी नही। चूँकि श्री अरविन्द एक योग की बात करते है, जिसमे भौतिक, जैविक, मानसिक आदि सभी अंशों का पूर्ण परिष्कार एव रूपान्तरण हो जाता है। अत. इसे समग्र या पूर्णयोग कहना सर्वथा समीचीन है।

श्री अरविन्द के सम्पूर्ण दर्शन के विहंगमावलोकन के पश्चात कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने दर्शन के माध्यम से भौतिकवाद एवं अध्यात्मवाद के मध्य निरन्तर वर्धमान खाई को पाटने का प्रयास किया है। दोनो परस्पर विरोधी धाराओं में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। जडतत्व और चेतन तत्व दोनों नितान्त विरोधी नही हैं, बल्कि जिसे हम जड़ कहते हैं वह चेतना का सूक्ष्मतम अंश है। दूसरे शब्दो में कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण सृष्टि चेतना का प्रवाह मात्र है। कहीं पर चेतना जागृतावस्था मे तो –

कही सुषुतवावस्था में है। अपनी इसी समन्वयात्मक दृष्टि के माध्यम से श्री अरविन्द ने पौर्वात्य (अध्यात्म) और पाश्चात्य (भौतिकवाद) संस्कृति में समन्वय का सदेश भी दिया है। जैसा कि श्री अरविन्द ने स्वयं कहा है "आध्यात्मिक जीवन की सम्भावना को जीवन में स्वीकार करने के लिए यह पूर्णतया आवश्यक है कि हम केवल अध्यात्मिक तत्व को ही सत् रूप में स्वीकार न करें। बल्कि भौतिक तत्व को भी उसकी व्यञ्जना हेतु समुचित माध्यम के रूप में स्वीकारे। और यही नहीं परमसत् के रूप में स्वीकृत इस आध्यात्मिक तत्व तथा माध्यम के रूप में समर्थित विश्व के भौतिक स्वरूप के मूल एकत्व का भी उपनिषद् की भांति समर्थन करें।[23]

एस0के0 मैत्रा भी उक्त विचार से पूर्णतः सहमत प्रतीत होते हैं। उनका मत है कि "जब-जब भारत को किसी राहु न ग्रसा है तब-तब विष्णु का चक्र सुदर्शन बनकर किसी न किसी अवतार पुरूष ने भारत की प्राण-शक्ति का उद्धार किया है। भारत मे इस प्राण-शक्ति को प्रज्ज्वलित बनाये रखने के लिए समय-2 पर और भी अनेक सिद्ध-महापुरूष आते रहे है। किन्तु इस बार एक विशेष आगमन होने वाला था। इस बार भारत को न केवल एक प्राणशक्ति के उद्धारक की आवश्यकता थी बल्कि परात्पर से आई हुई एक ऐसी सीधी क्रिया शक्ति की आवश्यकता भी जिसके द्वारा भू-चेतना अपनी अध्यात्मिक तैयारी का एक और अगला पग उठा सके। अस्तु, श्री अरविन्द का आविर्भाव इसी भौतिक और आध्यात्मिक उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त हुआ।[24]

वस्तुत श्री अरविन्द का दर्शन अन्तरात्मा के सत्य और आत्मा की उच्चतर भूमियों को प्रकाशित करने वाला है तथा मन, प्राण और शरीर के सम्पूर्ण आयामो को पूर्णत अपनी चितन-सीमा मे ग्रहण करके उसकी परिधि को अब तक के सभी दर्शनो से कहीं अधिक विस्तृत एव विशाल

फलक प्रदान करता है। दर्शन के इतिहास के दृष्टिकोण की व्यापकता और चितन की गहराई एव समग्रता इन सभी दृष्टियों से उनकी तुलना किसी अन्य दर्शन से नही की जा सकती।

अन्त में सार रूपेण कहा जा सकता है कि आर्य सभ्यता के ऊपर विचारो एवं शब्दों का ठहरा हुआ पुल, जैसा अब तक है, उसकी यदि पहली मेहराब वेद है तो आखिरी मेहराब श्री अरविन्द की लाइफ डिवाइन है।[25]

श्री अरविन्द एवं प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के दार्शनिक विचारों की तुलना–

प्रो0 भट्टाचार्य एवं श्री अरविन्द के दार्शनिक विचारो की तुलना दोनों दार्शनिकों के दार्शनिक विचारो की साधर्म्यता एवं वैधर्म्यता के निरूपण द्वारा किया जा सकता है।

प्रो0 भट्टाचार्य का दर्शन आत्मा रूपी अरण्य में चचल चित्त वृत्तियों रूपी अशान्ति की आँधी से रहित परमसत् की प्रत्यक्षानुभूति का अनुपम आलोक है। श्री अरविन्द का दर्शन विराट प्रकृति की गोद मे आत्मक्रीडस्थ महर्षि की तत्वसाधना का पुंजीभूत प्रकाश है। एक ही पथ के पथिक दोनो दार्शनिक मे समानता स्वाभाविक ही है।

प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य परमसत्ता को "अनिर्वचनीय" मानते हैं। यद्यपि वह मन और वाणी का विषम नहीं है तथापि भट्टाचार्य उसका भावात्मक वर्णन करते हुए उसे सच्चिदानद के रूप मे निरूपित करते है। श्री अरविन्द भी परमसत् को सच्चिदानंद के रूप में ही संज्ञापित करते है। इस स्थल पर दोनो दार्शनिक सहमत प्रतीत होते हैं।

श्री अरविन्द ने सत्ता के आठ स्तरों (भौतिक वस्तु, जीवन, आत्मा, मानस, अतिमानस, आनद, चित्, सत्) का विवेचन किया है। इसमें भी मानस को मानस, उच्चतर मानस, प्रदीप्त मानस, अन्तर्दृष्टि व्यापक मानस, अति मानस के रूप में वर्णन किया है। इसी तरह से प्रो0 भट्टाचार्य ने भी चेतना के विविध आयामों (शरीरिक आत्मगत चेतना, मनोगत आत्मचेतना, आध्यात्मिक आत्मचेतना) का वर्णन किया है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि युगल अनुसधित्सु ने एक ही तत्व का साक्षात्कार किया है केवल उनके वर्णन का ढंग पृथक्–पृथक् है।

परन्तु दोनो दार्शनिको के विचारो में कुछ भेद के स्थल भी पाये जाते हैं। प्रो0 भट्टाचार्य दर्शन और विज्ञान को परस्पर विरोधी मानते हुए दोनो के लिए अलग-अलग प्रतिपाद्य विषय का निर्धारण किया है। आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए लौकिकता का निषेध आवश्यक है। इस प्रकार उनका दर्शन एकागिकता के आरोप से मुक्त नही हो पाता है। जबकि श्री अरविन्द की दृष्टि समन्वयात्मक है। उनके विचारों में दर्शन और विज्ञान में ऐसा कोई स्पष्ट विभाजन नही दिखलाई पड़ता है। उन्होने आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए लौकिक जीवन के निषेध के स्थान पर उसके समुन्नयन (आध्यात्मीकरण) की बात किया है। श्री अरविन्द और विवेकानंद ने जीवन और जगत् के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण अपनाया है। इन दोनों ने लौकिक और अध्यात्मिक मूल्यो के बीच भी तालमेल बैठाने की कोशिश की है। प्रो0 कृष्णचन्द्र को छोडकर सभी समकालीन चिंतकों ने दर्शन को "सिम्वोलिक" या "थियोरेटिक कान्ससनेस" न मानकर एक जीवन-दृष्टि माना है। दर्शन को अमूर्त चिंतन के शिकजे से मुक्त कर जीवन की वास्तविकता से जोड़ने का प्रयास सराहनीय है।[26]

प्रो0 भट्टाचार्य का योगदान "कास्मोलाजी" के क्षेत्र में नगण्य है। विश्व की उत्पत्ति, उद्देश्य आदि के सम्बन्ध में प्रो0 भट्टाचार्य ने कोई विचार नहीं किया है। वस्तुतः उन्होंने कारण कार्य नियम और विकासवाद को दर्शन के क्षेत्र से परे रखा है। उनके अनुसार इन तथ्यों का अध्ययन विज्ञान में किया जाता है। जबकि श्री अरविन्द का सम्पूर्ण दर्शन विकासवाद की ही कहानी है। परमसत्ता किस तरह से अवरोहित होते हुए जड़तत्व तक पहुँचती है और जड़तत्व क्रमशः आरोहण करते हुए परमसत्ता (सच्चिदानद) तक कैसे पहुँचता है, आदि विषयों का सूक्ष्म विवेचन अरविन्द के दर्शन में उपलब्ध है।

चूँकि कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने विकासवाद को दर्शन की परिधि से परे रखा है अत वे किसी ऐसी सत्ता को स्वीकार करने की आवश्यकता नही महसूस करते है जो ईश्वर या ब्रह्म की शक्ति के रूप मे जगत् का सृजन कर सके। जबकि श्री अरविन्द ने "भगवती माँ" को सृष्टिकर्त्री शक्ति के रूप मे निरूपित किया है। "परम पुरूष की प्रेरणा से माता अपने सर्जन शील आनद मे बीज रूप प्रदान करके जिन चीजो को देखती है और आकार देती है उसके अतिरिक्त और कोई चीज रूप धारण नहीं कर सकती।[27]

मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध मे दोनो दार्शनिको मे पर्याप्त मतभेद है। प्रो0 कृष्णचन्द्र के अनुसार आत्मा विभिन्न प्रकार के स्तरों को पार करते हुए जब वाह्य जगत (वस्तु जगत) से पूर्णतया सम्बन्ध विच्छेद कर लेती है तभी उसे पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है।परन्तु श्री अरविन्द की मोक्ष की अवधारणा में किसी वस्तु का निषेध नही होता बल्कि निम्नतर सत्ता का जब उच्चतर सत्ता में आरोहण होता है तो निम्नतर सत्ता अनुप्राणित और सस्कारित होकर उच्चतर सत्ता का एक अग बन जाती है। जैसा कि श्री अरविन्द स्वयं कहते हैं – "जो स्वर्ग को यहाँ उतारना चाहता है उसे पहले स्वयं यहाँ कीचड मे उतरना होगा और पार्थिव प्रकृति का भार वहन करते हुए यहाँ के दु खदायी मार्ग पर चलना होगा।[28]

लौकिक जीवन (जड़तत्व) का निषेध करने के कारण प्रो0 भट्टाचार्य का दर्शन साधको के मन में नैराश्य भाव पैदा करता है। अंत. अनुभूति के द्वारा सामान्य साधक पूर्ण आत्म स्वालम्ब्य प्राप्त कर लेगा, वह भाव उसके मन में खटकता रहता है। वह सोचता है पता नहीं अंतत उसे साधना का फल (मोक्ष) मिलेगा भी नही या नहीं श्री अरविन्द की "जड़तत्व" के समुन्नयन की अवधारणा परसत्ता के कभी न कभी निश्चित अवरोहण की उद्घोषणा जनसामान्य में नई ज्योति

और नई आशा का सचार करती है। जिससे श्री अरविन्द का दर्शन सर्वजन ग्राह्य बन जाता है। जैसा कि एस0के0 मैत्रा का भी विचार है 'श्री अरविन्दके दर्शन में मनुष्य और उसके सासारिक जीवन मे सर्वप्रथम अपनी पूर्ण मान्यता पायी है। श्री अरविन्द ही इस बात के प्रथम उद्घोषक हैं कि मनुष्य के लिए अपने सांसारिक जीवन मे इस पार्थिव (भौतिक) शरीर में पूर्ण दिब्यता प्राप्त करना सम्भव है। दिव्यता ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे मनुष्य केवल अपने मन, प्राण और शरीर से बाहर निकलकर ही प्राप्त कर सकता है अपितु पार्थिव ससार मे रहते हुए अपनी जाति के प्राणियों से सम्बन्ध बनाये हुए भी मनुष्य के लिए यह सम्भव है कि वह एक दिव्य प्राणी हो जाय। केवल सम्भव ही नहीं बल्कि यह निश्चित है कि वह देर या सबेर, सम्भवत देर की अपेक्षा शीघ्र ही एक दिव्य प्राणी हो जायेगा।[29]

मोक्ष के साधनों के विषय में भी दोनों दार्शनिकों मे मतभेद है। प्रो0 भट्टाचार्य, आचार्य शंकर की भांति 'ज्ञान' को मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र साधन स्वीकार करते है। ज्ञानयोग के अलावा अन्य किसी भी माध्यम से मुक्ति सम्भव नहीं है। जबकि श्री अरविन्द ने मोक्ष प्राप्ति के साधन के रूप मे जिस 'समग्र योग' का प्रतिपादन किया है उसमें योग के सभी रूपों का समन्वय है।

प्रो0 भट्टाचार्य के दर्शन मे एकमुक्ति की सम्भावना पर अधिक बल दिया गया है। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं के प्रयत्नों से ही आत्म-ज्ञान प्राप्त कर सकता है और फलस्वरूप मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। जबकि श्री अरविन्द ने एक मुक्ति के स्थान पर 'सर्वमुक्ति' को अपने दर्शन का लक्ष्य निर्धारित किया है। उनका मत है कि जब तक इस धरती पर एक भी व्यक्ति बंधन में है तब तक मुक्ति का कोई अर्थ नहीं है। श्री अरविन्द की तो यहाँ तक मान्यता है कि 'नेचर' भी विकसित होकर 'सुपर नेचर' में परिवर्तित हो जायेगा।

सन्दर्भ सूची

1. 'The affirmation of a divine life on earth and an immortal sense in mortal existance can have no base unless we recognise not only eternal spirit as the inhabitant of this bodily mansion, the wearer of this mutable role, but accept matter of which it is made as a fit and noble material act of which he waves constantly His garbs, builds recurrently the unending series of His mansions.

Sri Aurobindo: The life divine P. 08, Sri Aurobindo Ashram, Pondicheri.

2. Shiva and Kali, Brahman and Shakti are one and not two who are separable.

वही, पृष्ठ 104, भाग, एक

3 एस0के0 मैत्र - अरविन्द दर्शन की भूमिका अनुवादक - अंजनी कुमार सिह। पृष्ठ 12-13 विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी ।

4 शर्मा, चन्द्रधर - पाश्चात्य दर्शन, पृष्ठ 109, प्रकाशक - मनोहर प्रकाशन, जतनबर वाराणसी ।

5. एस0के0 मैत्रा - अरविन्द दर्शन की भूमिका अनुवादक - अंजनी कुमार सिंह पृष्ठ 13, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी ।

6. वही, पृष्ठ 48

7. वही, पृष्ठ 49

8. श्री अरविन्द, दि लाइफ डिवाइन, श्री अरविन्दो आश्रम पाण्डिचेरी, पृष्ठ 338

9. वही, पृष्ठ 344

10. वही, पृष्ठ 946

11. वही, पृष्ठ 959

12. Mind is not a faculty of knowledge nor an instrument of omniscience. It is a faculty for the seeking of knowledge for expressing as much as it can gain for it in certain form of a relative thought and for using it towards certain capacities of action.

    वही, पृष्ठ 178-179, भाग - प्रथम

13. The conception of the super mind is the pivotround which is whole of Shri Aurobindo's philosophy, Mover.

    S.K.Maitra, Introduction of the philosophy of Sri Aurobindo P. 29.

14 एस0के0 मैत्रा - अरविन्द दर्शन की भूमिका, अनुवादक अंजनी कुमार सिह पृष्ठ 65, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी ।

15 Sri Arbindo - The life divine P. 907.

16 रमेश चन्द्र सिन्हा एवं विजय श्री चन्द्र- समकालीन भारतीय चिन्तक, पृष्ठ 53 जानकी प्रकाशन पटना, नई दिल्ली ।

17 एस0के0 मैत्रा - अरविन्द दर्शन की भूमिका, अनुवादक अंजनी कुमार सिंह। पृष्ठ 38 विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी ।

18 श्री अरविन्द - दि लाइफ डिवाइन, पृष्ठ 312

19 एस0के0 मैत्रा - अरविन्द दर्शन की भूमिका, अनुवादक - अंजनी कुमार सिह पृष्ठ 41 विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी ।

20 वही, पृष्ठ 43

21 वही, पृष्ठ 71

22. Yoga means union with the Divine a union either Transcendental (above the universe) an cosmic (universal) or individual on as in our yoga. All three together.

Sri Aurobindo - The Riddle of the world, P. 2-3.

23 सक्सेना डॉ0 (श्रीमती) लक्ष्मी - समकालीन भारतीय दर्शन । पृष्ठ 213 प्रकाशक- उत्तर प्रदेश हिन्दी सस्थान, लखनऊ ।

24 एस0के0 मैत्रा - अरविन्द दर्शन की भूमिका अन्तर्गत अध्याय -. श्री अरविन्द और उनका जीवन, अनुवादक - अजनी कुमार सिह, पृष्ठ - 7, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी ।

25 वही, पृष्ठ 80

27 सिन्हा रमेश चन्द्र, विजय श्री चन्द्र - समकालीन भारतीय चितक, पृष्ठ 15 जानकी प्रकाशन, पटना, नई दिल्ली ।

27 एस0के0 मैत्रा - अरविन्द दर्शन की भूमिका अनुवादक अजनी कुमार सिंह पृष्ठ 13, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी ।

28 वही, अरविन्द वाणी पृष्ठ 95

29 वही, पृष्ठ 77

उपसंहार

उपसंहार

भारतीय मनीषियों का लक्ष्य ऐहिक जीवन में अपरिमित भौतिक शक्ति और अतुल सम्पत्ति की उपलब्धि नही है। बल्कि इस धरती पर दिव्य जीवन को प्राप्त करना है। प्राकृत जन जिन छोटी-छोटी कामनाओं में लिप्त रहता है और तदुपलब्धि हेतु जीवन को सकट ग्रस्त बना लेता है। उनके प्रति पराङमुखता का भाव (वैराग्य भाव) लाना भारतीय दार्शनिक दृष्टि का मूलभाव है। यथा- यमराज द्वारा सहज ही दिये जा रहे सम्पूर्ण स्वर्गिक सुख को नचिकेता ने ठुकराकर एकमात्र आत्मविद्या की ही जिज्ञासा प्रकट की।

श्रेय और प्रेय का सघर्ष अथवा शुभ और अशुभ का संघर्ष मनुष्य का नैसर्गिक अन्तर्द्वन्द्व है। सभ्यता के उष काल से ही भारतीय मनीषा ने उक्त अन्तर्द्वन्द्व पर विजय प्राप्त करने के लिए उस दिव्य-दृष्टि/पराविद्या की तलाश करना प्रारम्भ कर दिया था, जिसके अक्षुण्ण आलोक में अज्ञानान्धकार का समूलोच्छेदन कर परम सत् का उद्घाटन किया जा सके। तत्वद्रष्टा ऋषियों ने जगत् और जागतिक सम्बन्धों के मिथ्यात्व का और उनकी क्षण भंगुरता का हस्तामलकवत् अनुभव किया था। औपनिषदिक् दार्शनिक प्रश्न करता है 'वह क्या है जिसे जान लेने पर शेष सब कुछ स्वत· ज्ञात हो जाता है ? अन्त में उस पराविद्या की उपलब्धि हो जाने पर/परमसत् का साक्षात्कार हो जाने पर वह घोषणा करता है -

अणोरणीयान्महतोमहीया

नात्मस्यजन्तोर्निहितो गुहायाम्

तमक्रतु. पश्यति वीतशोको

धातुप्रसादात्महिमानमात्मनः।।

प्रो० कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के दार्शनिक विचारों का सम्यक् अनुशीलन और आलोचन करने के उपरान्त कहा जा सकता है कि प्रो० भट्टाचार्य उक्त भारतीय आर्ष परम्परा के नवीन मन्त्रद्रष्टा थे। अद्वैतवेदान्त (विशेषकर शांकर वेदान्त) के प्रति उनकी अप्रतिम निष्ठा सहज ही थी। वेदान्त के मूल सम्प्रत्ययों का समसामयिक चिंतन के आलोक में सूक्ष्म विश्लेषण उनकी वेदान्त परिपोषित विचार धारा को सर्वथा नूतन कलेवर प्रदान करता है। प्रो० कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ऐसे समकालिक भारतीय चिन्तक है, जिनकी सम्पूर्ण दार्शनिक साधना का उद्देश्य उस तत्त्व का अनुसधान करना है जिससे मानवीय चेतना को पूर्णतया समृद्ध किया जा सके। उस पराविद्या की तलाश करना है जिससे परमतत्व का साक्षात्कार किया जा सके।

संचार और परिवहन के क्षेत्र में अधुनातन आविष्कारों के कारण एक देश से दूसरे देश की दूरी सिमट रही है। ऐसे में संसार के विभिन्न देश न केवल राजनीतिक दृष्टि से एक दूसरे के सन्निकट आये हैं बल्कि उनके मध्य निरन्तर वर्धमान सांस्कृतिक आदान-प्रदान से सम्पूर्ण विश्व एक पारिवारिक इकाई के रूप में प्रतिष्ठित होता प्रतीत हो रहा है। ऐसी परिस्थिति में वही विचारधारा अधिक अभिनन्दनीय और ग्रहणीय हो सकती है जो पौर्वात्य और पाश्चात्य दार्शनिक चिंतन के समन्वयात्मक आलोक में प्रतिष्ठित की गयी हो। मेरी दृष्टि से इस सन्दर्भ में पाश्चात्य दार्शनिक सम्प्रदायों के मध्य अद्वैत वेदान्त की सर्वातिशायी गरिमा की प्रतिष्ठापना के सन्दर्भ में प्रो० भट्टाचार्य का अथक प्रयास सर्वथा स्तुत्य है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि समकालिक पाश्चात्य दर्शन की वह एक ऐसी महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं, जो भविष्य मे पौर्वात्य और पाश्चात्य दार्शनिक दृष्टियों के समन्वय का पथ-प्रशस्त करेगी। उन्होंने वेदान्त दर्शन के निष्कर्षों को पाश्चात्य दार्शनिक चिंतन के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने

का श्लाघनीय प्रयास किया है। यद्यपि प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य पाश्चात्य दार्शनिक इमैन्युअल काण्ट से विशेष से रूप से प्रभावित हैं तथापि अपनी नवीन युक्तियों के द्वारा पाश्चात्य दर्शन की अपूर्णता को स्पष्ट करते हुए उन्होंने अपने दर्शन में पौर्वात्य दर्शन की श्रेष्ठता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। (समकालिक भारतीय दर्शन की प्रवृत्तियां नामक निबंध में प्रो0 संगमलाल पाण्डेय ने भी इसी प्रकार का मत प्रस्तुत किया है)।

कांट ने परमार्थको इसलिए अज्ञेय मान लिया था क्योंकि वह भी अन्य वस्तुनिष्ठ दार्शनिकों की भांति इन्द्रियानुभव जन्य ज्ञान एवं अनुभूति से भिन्न ज्ञान एवं अनुभूति की सम्भावना को स्वीकार नहीं करता था। इसलिए बड़ी सहजता के साथ उन्होंने इस बात का समर्थन किया कि जो भी इस अनुभूति के माध्यम से किन्हीं भी कारणों से अभिव्यक्त न हो सके, वह सर्वदा के लिए अज्ञेय है। वस्तुतः कांट एवं प्रो0 भट्टाचार्य दार्शनिक ज्ञान की उपलब्धि की दृष्टि से व्यावहारिक, ऐन्द्रिक तथा पारमार्थिक या अतीन्द्रिय जगत् का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्द्रियगोचर जगत का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कांट द्वारा विवेचित ज्ञान मीमांसा को प्रो0 कृष्णचन्द्र ने किसी न किसी प्रकार से अवश्य स्वीकार किया है। परन्तु एक तरफ कांट जहा व्यवहार (दृश्यमान लौकिक जगत्) का ज्ञान प्राप्त करने साधनों का अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ अनुसंधान करता रहा और चेतना के इस आयाम का विश्लेषण करने में पूर्ण सफल हुआ वहीं दूसरी तरफ चेतना के इसी आयाम को अन्तिम मान लेने के कारण परमार्थ उनके लिए एक अज्ञात पहेली (भले ही वह विश्वास का विषय क्यों न हो) ही बना रहा। उसके पक्ष-विपक्ष में वह तर्क न दे सका। भट्टाचार्य का विचार है कि लौकिक जगत की केवल व्यावहारिक सत्ता है। यह आत्यन्तिक रूप से सत् नहीं है। वस्तुतः इन्द्रिय गोचर जगत् मे परम सत् की तलाश करना मूर्खता है। इसी कारण भट्टाचार्य के दर्शन में व्यावहारिक जगत् और उसके

रहस्यों पर विशद् विश्लेषण नहीं मिलता है। तत्वमीमांसा के क्षेत्र में कांट के अज्ञोयवाद का निमर्मतापूर्वक खण्डन करते हुए प्रो0 भट्टाचार्य ने उसे साक्षात् अनुभूति या प्रत्यक्षानुभूति द्वारा ज्ञेय बतलाया ।

प्रो0 संगम लाल पाण्डेय का अभिमत है-'जहाँ तक आत्मा को स्वतः सद् वस्तु के रूप में जानने की बात है वहाँ तक कांट शुद्ध अज्ञेयवादी है। वह हमें उस प्रस्थान बिन्दु पर पहुँचा देता है जहाँ से शंकराचार्य अपने आत्मज्ञान का विवेचन प्रारम्भ करते हैं। यह ज्ञान हर मानव का प्रत्यक्ष है। इस ज्ञान से सिद्ध होता है कि कोई आत्मा है लेकिन वह आत्मा क्या है? उसका स्वरूप क्या है? यह विशेष ज्ञान इस ज्ञान में नहीं है। इस विशेष ज्ञान के लिए ही वेदान्त का अनुशीलन किया जाता है। इसलिए कांट के दर्शन को शकराचार्य के अद्वैतवेदान्त की दिशा में विकसित करने का अवकाश है।'

इस तरह से पाश्चात्य दर्शन (विशेषकर इमैन्युअल कांट) की कमियों को स्पष्ट करते हुए प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य पौर्वात्य वेदान्तीय विचारधारा की श्रेष्ठता को सिद्ध करते हैं।

परन्तु इस प्रयास में प्रो0 भट्टाचार्य एक सफल समीक्षक और आलोचक की भांति शांकर वेदान्त की कमियों का भी उद्घाटन करने में बिल्कुल संकोच नहीं करते हैं। जगत, जीव, माया, ब्रह्म आदि के सम्बन्ध में प्रो0 भट्टाचार्य प्रत्यक्षतः या परोक्षतः आचार्य शकर के विचारों का ही समर्थन करते प्रतीत होते हैं। परन्तु मोक्ष के स्वरूप और उसकी स्थिति के सम्बन्ध में भट्टाचार्य का शंकराचार्य से मतभेद है। आचार्य शंकर का मन्तव्य है कि मुमुक्ष जब श्रवण, मनन, निदिध्यासन के स्तर को पार कर ब्रह्मज्ञानी गुरू के पास जाता

है तब गुरू उसे तत्त्वमसि का उपदेश देता है जिससे उसे पूर्ण आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है। तब शिष्य कह उठता है 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ। आगे की स्थिति का कोई विश्लेषण आचार्य शकर के दर्शन में नहीं मिलता है। प्रो0 कृष्णचन्द्र, आचार्य शंकर के इस मत से पूर्णत. सहमत हैं कि विषयनिष्ठता के पूर्ण लोप हो जाने के उपरान्त ही विषयी का पूर्ण ज्ञान पाप्त हो सकता है। परन्तु शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित चेतना के उक्त आयाम को वे अन्तिम नहीं मानते। उनका मत है कि पूर्ण स्वतन्त्रता तभी प्राप्त हो सकती है जब सभी वस्तुओं से 'मैं' अपने को भिन्न समझने लगता है। 'आत्म भावना' या 'मैं' की भावना वस्तु सापेक्ष है इसलिए उसके रहते पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त हो सकती है। आध्यात्मिक अनुभूति में व्यक्ति 'मै' की चेतना से भी ऊपर उठ जाता है। पूर्ण स्वतन्त्रता का स्तर है - आत्मबोध को भी नकारकर हम पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं।

इस तरह प्रो0 भट्टाचार्य पाश्चात्य दर्शन के परिप्रेक्ष्य में भारतीय वेदान्तीय विचारधारा की श्रेष्ठता को सिद्ध करते हुए आत्मालोचन (शाकर वेदान्त की आलोचना) भी करते हैं।

इसी दिशा मे कृष्णचन्द्र समकालिक भारत की अन्य वेदान्तीय विचारधाराओं का किचिंत सीमा तक खण्डन और किंचित् सीमा तक मण्डन करते दिखलाई पड़ते है।

स्वामी विवेकानन्द के समान ही कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य परमसत् को मन और वाणी से परे स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि परमसत् अनिर्वचनीय है। विचारों के माध्यम

से निरपेक्ष सत् का वास्तविक लक्षण-निरूपण सम्भव नहीं है। स्वामी विवेकानन्द का सत्यं, शिव, सुन्दरम् के रूप मे ब्रह्म का भावात्मक निरूपण प्रो0 भट्टाचार्य के ब्रह्म-वर्णन सत्यता, स्वतन्त्रता और मूल्य के समान ही है।

परम सत् का ज्ञान अपरोक्षानुभूति के द्वारा ही हो सकता है। दोनों दार्शनिकों की इस विषय में सहमति है तथापि अपरोक्षानुभूति का जैसा वर्णन प्रो0 भट्टाचार्य के दर्शन मे मिलता है वैसा विवेकानन्द के दर्शन में अप्राप्त है। इस सम्बन्ध में गोपीनाथ भट्टाचार्य का विचार है - 'प्रो0 भट्टाचार्य का दर्शन अध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति है। तत्त्वमीमासीय प्रश्नों (विशेषकर चेतना, चेतना की विविध अवस्थायें, आत्मा आदि) का जैसा सूक्ष्म और गहन विश्लेषण प्रो0 भट्टाचार्य के दर्शन में मिलता है वैसा विवेकानन्द के दर्शन में नहीं। अपरोक्षानुभूति के विश्लेषण में प्रो0 भट्टाचार्य स्वामी विवेकानन्द से अधिक मौलिक प्रतीत होते हैं।'

जहाँ तक मोक्ष प्राप्ति के साधनों का प्रश्न है - प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य अद्वैतिक सिद्धान्तों (शांकर वेदान्त) के अधिक सन्निकट प्रतीत होते हैं। स्वामी विवेकानन्द की विचारधारा प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य की अपेक्षा शांकर वेदान्त के परिप्रेक्ष्य में कम तार्किक और सुसंगत है। स्वामी विवेकानन्द ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग को समान रूप से मोक्ष का साधन स्वीकार करते हैं जबकि प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य एकमात्र ज्ञानमार्ग को ही मोक्ष-साधन के रूप में स्वीकार करते हैं।

इसी तरह से एक अन्य समकालिक भारतीय चिन्तक स्वामी रामतीर्थ से भी किंचित् स्थलो पर उनका साम्य और वैषम्य है। शंकराचार्य का विचार है कि ज्ञानोत्तर भक्ति असंभव है। भक्ति, ज्ञान-प्राप्ति में सहायक हो सकती है परन्तु केवल भक्ति के द्वारा ही

मोक्ष नहीं मिल सकता। इसी अद्वैतिक विचारधारा के संवाहक है प्रो0 कृष्ण चन्द्र भट्टाचार्य। स्वामी रामतीर्थ की रहस्यात्मक अनुभूतियों में एक ईश्वर प्रेमोन्मत्त भक्त का, विरही प्रेमी का करूण-क्रन्दन कर्णगोचर होता है। स्वामी विवेकानन्द की तरह स्वामी रामतीर्थ ने भी मोक्ष के साधन के रूप में ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग का समान रूप से समर्थन किया है। स्वामी राम का दर्शन वेदान्त के व्यावहारिक प्रयोग का अनूठा उदाहरण है। अहं ब्रह्मास्मि की अनुभूति द्वारा प्रसुप्त परतन्त्र भारतीयों की आत्मा को जगाकर वे उसकी स्वयमेव मृगेन्द्रता और ब्रह्मस्वरूपता का उपदेश देते हैं। उनकी यह ब्रह्मात्मैक्य की स्वानुभूति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचकर एक मुक्ति के स्थान पर सर्वमुक्ति के आदर्शात्मक स्वरूप को ग्रहण कर लेती है। जीवन और जगत् के प्रति जो भावात्मक दृष्टि स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ ने अपनायी है वैसी दृष्टि भट्टाचार्य के दर्शन में नहीं मिलती है। शेष अन्य सन्दर्भों में स्वामी रामतीर्थ और भट्टाचार्य के विचार लगभग मिलते-जुलते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि समकालिक भारत में अद्वैतवेदान्त की जो व्याख्यायें की गयी है, प्रो0 भट्टाचार्य का ढेर सारे स्थलों पर उनसे मतभेद है।

अन्त में एक अन्य वेदान्ती विचारक श्री अरविन्द के विचारों से भी भट्टाचार्य के विचारों की तुलना प्रासंगिक है। श्री अरविन्द परम ब्रह्म को अनिर्वचनीय मानते हुए भी उसे सच्चिदानंद की संज्ञा से संज्ञापित करते हैं। श्री अरविन्द का यह विचार भट्टाचार्य से मिलता-जुलता है।

श्री अरविन्द ने सत्ता के आठ स्तरों (भौतिक वस्तु, जीवन, आत्मा, मानस, अति मानस, आनंद, चित् सत् का विवेचन किया है। इसमें भी मानस को मानस, उच्चतर

मानस, प्रदीप्त मानस, अन्तर्दृष्टिव्यापक मानस तथा अतिमानस के रूप में वर्णन किया है। इसी शैली में प्रो0 भट्टाचार्य ने भी चेतना के विविध आयामों (शारीरिक आत्मगत चेतना, मनोगत आत्म चेतना, आध्यात्मिक आत्म चेतना) का वर्णन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि अनुसंधित्सु युगल ने एक ही तत्त्व का साक्षात्कार किया है केवल उसके वर्णन के ढंग पृथक्-पृथक् हैं। परन्तु श्री अरविन्द और भट्टाचार्य के दर्शन में कुछ वैषम्य के स्थल भी दृष्टिगत होते हैं। प्रो0 भट्टाचार्य के अनुसार परम सत् (आत्मा) के ज्ञान के लिए वाह्य भौतिक जगत् से सम्पर्क टूटना नितान्त आवश्यक है। प्रेय की प्राप्ति में प्रयासरत व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती है। प्रो0 भट्टाचार्य, संत कबीर दास के इस मत से सहमत हैं कि 'जो घर फूंके आपना, सो चले हमारे साथ' अर्थात् आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए लौकिकता का निषेध आवश्यक है। वहीं श्री अरविन्द आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए लौकिक जीवन के निषेध के स्थान पर उसके समुन्नयन उसके (अध्यात्मीकरण) की बात करते है।

प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने विकासवाद को दर्शन की परिधि से परे रखा है। अतः वे किसी ऐसी सत्ता को स्वीकार नहीं करते जो ईश्वर या ब्रह्म की शक्ति के रूप में जगत्का सृजन कर सके। जबकि श्री अरविन्द ने भगवती मां को सृष्टिकर्त्री शक्ति के रूप में निरूपित किया है। परमपुरूष की प्रेरणा से माता अपने सर्जनशील आनंद में बीजरूप प्रदान करके जिन चीजों को देखती है और आकार देती है उसके अतिरिक्त और कोई चीज रूप धारण नहीं कर सकती।

मोक्ष के साधनों के विषय में भी दोनों दार्शनिकों में पर्याप्त मतभेद है । प्रो0 भट्टाचार्य, आचार्य शंकर की भांति केवल ज्ञानयोग को ही मोक्ष का साधन स्वीकार करते हैं जबकि श्री अरविन्द ने मोक्ष-प्राप्ति के साधन के रूप में जिस समग्र योग का प्रतिपादन किया

है उसमें योग के सभी रूपों का समन्वय है।

इस तरह हम देखते हैं कि समकालिक भारत में वेदान्त की जो व्याख्याये की गयी है उनसे कतिपय स्थलों पर प्रो0 भट्टाचार्य का मतभेद है और कहीं पर साम्य है। परन्तु जब हम शास्त्रीय वेदान्त के साथ प्रो0 भट्टाचार्य के विचारों की तुलना करते हैं तो हम देखते हैं कि प्रो0 भट्टाचार्य की व्याख्या अधिक सुसंगत और वेदान्त के अधिक नजदीक है। इस दर्शन मे जीवन का जो सर्वोच्च आदर्श प्रस्तुत किया गया है वह निर्विवाद रूप से सर्वोच्च संभव आदर्श है। मानवात्मा के सच्चे सवरूप का अभिज्ञान और उसकी शाश्वत उपलब्धि वह भी इसी जीवन में सम्भव बताना इस दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है। यदि हम प्रो0 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के भारतीय दार्शनिक क्षितिज पर अभ्युदय की परिस्थितियों का अध्ययन करें तो हम देखते हैं कि भारतमाता उस समय परतन्त्रता की बेड़ियों में आबद्ध थी। भारत की परतन्त्रता का कारण था - भारतवासी अपनी ब्रह्म स्वरूपता को विस्तृत कर स्वयं को अशक्त पददलित और फिरंगियों की अपेक्षा निम्न स्तर का प्राणी समझ बैठे थे। भट्टाचार्य की दार्शनिक साधना का चरम लक्ष्य आत्मस्वरूप को विस्मृत किये हुए व्यक्ति को आत्म स्वरूप का अभिज्ञान प्राप्त कराना है। अपने दर्शन के माध्यम से वे ईसाईयत के मत - 'मनुष्य जन्म से पापी है' का सर्वथा खण्डन करते हुए 'अह ब्रह्मास्मि' का अनुभव करते हुए, मानव की ब्रह्म स्वरूपता का अभिनन्दन करते हैं। फिर परमसत् को अपनी ही आत्मा बताकर इस दर्शन मे हमारे सामने उसका सबसे प्रबल प्रमाण प्रस्तुत किया है। दर्शन की अन्य पद्वतियों में परमसत् केवल एक मानसिक रचना या कल्पना है इसलिए वह सदा अप्रमाणिक ही बना रहता है। इसके विपरीत इस दर्शन का परमसत् हमारे अव्यवहित अनुभव का विषय होने के कारण नितान्त असंदिग्ध है। इस दर्शन में कहा

गया है कि शास्त्रों के अध्ययन से हमे जो ज्ञान प्राप्त होता है अथवा बौद्धिक चिंतन के द्वारा हम जिस निर्णय पर पहुँचते हैं, उसकी पुष्टि हम अपनी अपरोक्षानुभूति से कर सकते हैं। यह चिंतन मानव मात्र में स्वयमेव मृगेन्द्रता का संचार करता है।

इतना ही नहीं अपने सीमित अहं से ऊपर उठकर सर्वव्यापी अहं प्राप्त करना जीवन की बहुत बड़ी उपलब्धि मानी जायेगी। वैयक्तिक आत्मा में विश्वात्मा का दर्शन-आज के अशात विश्व मे परिव्याप्त दुःखों की महौषधि है। भट्टाचार्य के इसी दर्शन के व्यावहारिक प्रयोग द्वारा महात्मा बुद्ध के 'आत्मदीपो भव' से चरथ भिक्खवे, बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' अथवा गीता के लोक सग्रह के आदर्श को मूर्तमान् किया जा सकता है।

दर्शन और विज्ञान ज्ञान के दो परस्पर विरोधी ध्रुव हैं। उन्हें ज्ञान के पृथक्-पृथक् क्षेत्रों का अध्ययन करना चाहिए, प्रो0 भट्टाचार्य की यह विचारधारा सत्य ही प्रतीत होती है। दोनों अपने-अपने पृथक् क्षेत्रों में विशिष्ट विषयों का अध्ययन करते हुए मानवता के योग-क्षेम का पथ प्रशस्त कर सकते हैं।

इस प्रकार का हम देखते है कि भारतीय आर्ष परम्परा के इस नवीन संवाहक ने अपने दर्शन में यद्यपि अपने पूर्वजों द्वारा उद्घाटित / अनुभूत सत्य का ही प्रतिनिधित्व किया है, तथापि अपनी नवोन्मेषशालिनी अप्रतिहतप्रज्ञा से उसे सर्वथा नूतन कलेवर प्रदान कर पाश्चात्य दर्शन के परिप्रेक्ष्य में महत्तर सिद्ध करते हुए महात्मा मनु की पूर्व घोषणा -

'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन.

स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा '।

को पुन प्रतिष्ठित किया है। प्रो0 भट्टाचार्य ने वैयक्तिक आत्मा में विश्वात्मा के साक्षात्कार का उपदेश देकर विश्वसतति को नर से नारायण की संप्राप्ति का सहज मार्ग बताया है।

प्रो0 भट्टाचार्य के ये विचार समकालिक विद्वत् समाज द्वारा सर्वथा अभिनन्दनीय और ग्राह्य हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ

सन्दर्भ ग्रन्थ - सूची

(क) **संस्कृत ग्रन्थ :**

ईशावास्योपनिषद् - निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई।

श्री विष्णु पुराण - गीताप्रेस गोरखपुर (उ0प्र0)।

श्रीमद् भगवद् गीता - शांकर भाष्य (हिन्दी अनुवाद सहित) गीताप्रेस, गोरखपुर (उ0प्र0)।

कठोपनिषद् - अन्तर्गत ईशादि नौ उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर (उ0प्र0)।

केनोपनिषद् - (शांकर भाष्य सहित) गीता प्रेस, गोरखपुर (उ0प्र0) ।

छान्दोग्योपनिषद् - (शांकर भाष्य सहित) गीता प्रेस, गोरखपुर (उ0प्र0) ।

तैत्तिरीयोपनिषद् - (अन्तर्गत ईशादि नौ उपनिषद्) गीता प्रेस, गोरखपुर (उ0प्र0)।

पंचदशी - (विद्यारण्य स्वामी) सम्पादक - डॉ0 चमन लाल गौतम, संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेदनगर) बरेली, उ0प्र0, संशोधित सस्करण 1986 ।

बृहदारण्यकोपनिषद् - (शांकर भाष्य सहित) गीता प्रेस, गोरखपुर (उ0प्र0)

ब्रह्मसूत्र प्रवचन - (शारीरक भाष्य) प्रथम एवं द्वितीय खण्ड - अनंत श्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती, सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, मुम्बई ।

माण्डूक्य कारिका -

मुण्डकोपनिषद् - (शांकर भाष्य) गीता प्रेस, गोरखपुर (उ0प्र0)

महाभारत (पंचम खण्ड) गीता प्रेस, गोरखपुर (उ0प्र0)।

मनुस्मृति (मनु) - टीकाकार - पं0 रामेश्वर भट्ट, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली ।

विवेकचूड़ामणि (शंकराचार्य) अनुवादक - मुनिलाल, गीता प्रेस गोरखपुर, (उ0प्र0)।

श्वेताश्वतरोपनिषद् - (अन्तर्गत ईशादि नौ उपनिषद्) गीता प्रेस, गोरखपुर (उ0प्र0)।

(ख) **हिन्दी ग्रन्थ :**

अरविन्द दर्शन की भूमिका (एस0 के0 मैत्रा) - अनुवादक - अंजनी कुमार सिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1979 ।

आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग - स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर ।

कामायनी - जयशंकर प्रसाद ।

जीवन, स्वामी रामतीर्थ - रणधीर सिंह, रणधीर प्रकाशन हरिद्वार (उ0प्र0)

भारतीय दर्शन - एस0 राधाकृष्णन् (द्वितीय खण्ड) अनुवादक - नन्द किशोर गोभिल, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, संस्करण 1986 ।

भारतीय दर्शन का इतिहास - एस0 एन0 दासगुप्ता (भाग - एक) अनुवादक - कलानाथ शास्त्री, सुधीर कुमार, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी - जयपुर - 4 , 1978 ।

वेदान्त - स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर ।

स्वामी रामतीर्थ - जीवन और दर्शन - डॉ0 जयराम मिश्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

सूक्तियाँ, उपदेश और सन्देश - रामतीर्थ, रणधीर सिंह , रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार (उ0प्र0)।

ज्ञानयोग - स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर ।

अंग्रेजी ग्रन्थ :

Concept of reason and intution - R.C. Sinha

Hinduism and Buddhism - Sir Charls illiet.

The complete works of Swami Vivekanand, Advaita ashram, 5 Delhi, Entally Road Calcutta.

The Life Divine - Sri Aurobindo, Ari Aurobindo Ashram, Pandicheri.

Krishna Chandra Bhattacharya - Studies in philosophy - Editor - Gopinath Bhattacharya. (Vol. I & II) Motilal Banarsidas, Calcutta, 1958.

Understanding Vivekanand - A.K. Majumdar, Sanskrit Pustak Bhandar, Calcutta.

सहायक ग्रन्थ सूची :

आचार्य शंकर का ब्रह्मवाद - डॉ0 रामस्वरूप सिंह, नौलखा, किताबघर, कानपुर - 3 ।

अर्वाचीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास - प्रो0 जगदीश सहाय श्रीवास्तव, किताब महल, इलाहाबाद, 1983 ।

उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण - (रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे) अनुवादक - रामानन्द तिवारी, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1971 ।

कांट का दर्शन - प्रो0 संगमलाल पाण्डेय, दर्शनपीठ, 117 टैगोर टाऊन, इलाहाबाद 1971 ।

दार्शनिक त्रयमासिक (जनवरी - दिसम्बर) संयुक्तांक (1991-92)

पाश्चात्य दर्शन - प्रो0 चन्द्रधर शर्मा, मनोहर प्रकाशन, जतनबर, वाराणसी। अष्टम संस्करण (1983-84)।

बौद्ध दर्शन और वेदान्त - प्रो0 चन्द्रधर शर्मा, विजन विभूति प्रकाशन, इलाहाबाद 1986।

भारतीय दर्शन - प्रो0 नन्द किशोर देवराज, उत्तर प्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ - 1975।

भारतीय दर्शन की रूपरेखा - प्रो0 एम0 हिरियन्ना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पटना 1965।

भक्ति और वेदान्त (विवेकानन्द) अनुवादक - रामविलाश शर्मा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

विवेकानन्द साहित्य संचयन - रामकृष्ण मठ, नागपुर।

सर्वदर्शन संग्रह - भाष्यकार - डॉ0 उमाशंकर शर्मा, "ऋषि" चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी।

समकालीन भारतीय चिंतक - रमेश चन्द्र सिन्हा, विजय श्रीचन्द्र, जानकी प्रकाशन, नई दिल्ली 1981।

समकालीन भारतीय दर्शन - लक्ष्मी सक्सेना, उत्तर प्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ।